प्राचीन मालवा में मन्दिर वास्तुकला

प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति
एवम् पुरातत्व विषय के प्रेमियों
को सादर समर्पित

प्रस्तावना

उत्तर एवम् दक्षिण भारत के मध्य स्थित मालवा दोनों भागों का सदैव ही एक संधि-स्थल रहा है। इस कारण इसने न केवल दोनों भागों की परम्पराओं को आत्मसात् किया है अपितु स्वयं ने भी अनेक मौलिक देन प्रदान की है। जीवन के अन्य क्षेत्रों की भांति मालवा की यह देन कलाओं के क्षेत्र में भी स्पष्टतय: परिलक्षित होती है।

वास्तुकला के क्षेत्र में प्राचीन मालवा ने प्रागैतिहासिक काल से लेकर परमारकाल तक कई ऐसी उपलब्धियां प्राप्त की थीं जिनके अवशेष आज तक न्यूनाधिक रूप में सुरक्षित हैं। जब कि पुराविदों एवम् विद्वानों द्वारा चौमुखी शोध की जा रही है, ये उपलब्धियां अबाध गति से प्रकाश में आ रही हैं। इस कारण कई क्षेत्रों में अध्ययन के क्रम को वैज्ञानिकता, स्पष्टता एवम् क्रमबद्धता से प्रस्तुत करना पूर्वापेक्ष सरल हो गया है।

मन्दिर वास्तुकला को भी ऐसे ही अध्ययन के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

प्रस्तुत प्रबन्ध का विषय प्राचीन मालवा में मन्दिर वास्तुकला का अध्ययन करना है। वास्तुकला के कई पक्ष होते हैं। ये पक्ष प्रमुख रूप से विधागत एवम् सौन्दर्यगत हो सकते हैं। विधागत पक्ष के अन्तर्गत शिल्पशास्त्र की तकनीकों, शैलियों एवम् वास्तु अवयवों का अध्ययन अपेक्षित होता है। सौन्दर्यात्मक अध्ययन के अन्तर्गत कला के माध्यम से प्रकट किये जाने वाले सामाजिक, सांस्कृतिक एवम् व्यावहारिक पहलुओं को उजागर किया जाता है। वस्तुत: ये दो पहलू स्थापत्य के वाह्य और अन्तर्जगत से संबंध रखते हैं। प्रथम पक्ष का संबंध स्थापत्य के शरीर से तथा द्वितीय का संबंध उसके मन और आत्मा से होता है। अध्ययन की समग्रता के लिये इन सब का युक्ति-युक्त सामंजस्य किया जाना एक अपरिहार्यता हो जाती है।

यह सही है कि मन्दिर वास्तुकला पर यत्र-तत्र कुछ प्रामाणिक सामग्री सामने आयी है तथा विषय को आंशिक रूप से प्रकट करने वाले कुछ अनुसंधान भी अपनी प्रस्तुति प्राप्त कर चुके हैं, किन्तु एकाधिक कारणों से मालवा की वास्तुकला को समग्र शोध का विषय बनाना आवश्यक माना गया। इसका प्रथम कारण तो यह है कि मन्दिर वास्तुकला से संबंधित कई ऐसे स्थल प्रकाश में आये हैं जिनकी जानकारी पुराविदों को या तो बिलकुल नहीं या बिलकुल ही कम हो पायी है।

दूसरा कारण यह है कि कई मन्दिरों के बारे में उनसे संबंधित पूर्वाग्रहों को तोड़ना आवश्यक हो गया है। ये पूर्वाग्रह या तो मन्दिरों की शैली के बारे में हैं या उनसे संबंधित धर्म के बारे में। उनके निर्माण काल के बारे में भी कुछ आग्रह रूढ़ हुए हैं। इन आग्रहों को गंभीरतापूर्वक पुनर्विचार के बाद तोड़ा गया है।

तीसरा महत्वपूर्ण कारण जो प्रस्तुत अध्ययन की पृष्ठभूमि में रहा है, वह है मालवा की मन्दिर निर्माण शैलियों के क्रमिक विकास का सुव्यवस्थित अध्ययन। इस प्रकार के अध्ययन का वस्तुतः अभी तक अभाव होने से मालवा क्षेत्र मन्दिर-निर्माण की दृष्टि से खजुराहो अथवा उड़ीसा जैसा ही सम्पन्न होने पर भी भारत के कला मानचित्र पर सुनिश्चित स्थान नहीं पा सका है। अन्तिम, किन्तु कम महत्वपूर्ण नहीं, कारण जो अध्ययन की पृष्ठभूमि में रहा है, वह मन्दिरों के कलात्मक अध्ययन के साथ साथ ही उनसे प्राप्त होने वाली सामाजिक, धार्मिक, ऐतिहासिक एवम् सांस्कृतिक सूचनाओं को प्रस्तुत करना है।

प्रस्तुत अध्ययन का इस प्रकार का लक्ष्य न केवल प्राचीन मालवा के ज्ञात मन्दिरों का सर्वेक्षण करना रहा है, अपितु सर्वेक्षित सामग्री का पुनरावलोकन करना भी रहा है।

इन्हीं आधारों पर शोधकर्ता ने प्राचीन मालवा की मन्दिर वास्तुकला पर नये सिरे से कलम उठाने का प्रयास किया है।

विषय वस्तु को आठ अध्यायों में विभक्त किया गया है। प्रथम अध्याय में मालवा का भौगोलिक विवरण इसके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में किया गया है। इसी अध्याय में इन स्थानों की ऐतिहासिकता का विवेचन भी किया गया है, जो प्रस्तुत अध्ययन की दृष्टि से महत्व रखते हैं।

द्वितीय अध्याय मन्दिर वास्तुकला के कला पक्ष से संबंधित है। इस अध्याय में 'मन्दिर' को परिभाषित करते हुए उसके संकुचित एवम् व्यापक अर्थों को प्रकट किया गया है। इस शोध में उसके व्यापक अर्थ को ग्रहण किया गया है। अतः इसके अन्तर्गत लगभग उन सभी धार्मिक निर्माणों को सम्मिलित किया गया है जहां पूजा, उपासना आदि होती रही। इसी के साथ इन स्थानों के महत्व एवम् उपयोगिता पर भी प्रकाश डाला गया है। इस अध्याय में मन्दिर के उद्भव के बारे में विभिन्न सिद्धान्तों का परीक्षण किया गया है।

इसी प्रकार द्राविड़ शैली का रूप ग्रहण किया। छठीं शताब्दी तक आते आते दोनों शैलियों में कठोर विभेद उपस्थित हो गया। इन शैलियों के समन्वय करने के प्रयास में कई आंचलिक शैलियों का विकास हुआ। प्रस्तुत अध्ययन की दृष्टि से इन शैलियों में वेसर एवमं भूमिज शैलियां अधिक महत्व रखती हैं।

द्वितीय अध्याय में ही भारत एवम् मालवा में मन्दिरों के विकास को कालक्रमानुसार उपस्थित किया गया है। ऐसा करते समय स्तूप, चैत्य, विहार, मन्दिर (संकुचित अर्थ में), स्तम्भ आदि की सांगोपांग

चर्चा की गयी है । यह भी बताया गया है कि मालवा क्षेत्र में अधिक मन्दिरों के निर्माण के क्या कारण रहे एवम् उनके निर्माण में किन किन सामग्रियों का निर्माण प्रयोग होता रहा ? ऐसा करना नितान्त आवश्यक था, क्योंकि प्रबन्ध में आये विभिन्न स्थापत्य शब्दों एवम् निर्माण विषयक जानकारियों को ठीक से समझने के लिये यह विवरण एक अपरिहार्य पृष्ठभूमि था ।

अध्याय तीन से लगाकर सात तक में मालवा के मन्दिर वास्तुकला का कालक्रमानुसार अध्ययन है । क्रम यह रहा है कि सबसे पूर्व उस काल से संबंधित इतिहास को संक्षेप में प्रस्तुत किया जाय, और उसके उपरान्त उस काल से संबंधित मन्दिर वास्तु की प्रमुख विशेषताओं का परिचय करवाया जाय । इसके उपरान्त विभिन्न धर्मों के आधार पर मन्दिर वास्तु का अध्ययन किया गया है । अध्ययन के अन्तर्गत आये विभिन्न कालों व उनसे संबंधित विभिन्न धर्मों के इतिहास की संक्षिप्त रूपरेखा यथास्थान देना सोद्देश्य रहा है ।

तृतीय अध्याय प्रद्योतकाल से लगाकर मौर्यकाल तक मालवा के मन्दिर वास्तु का विवेचन करता है । सुविधा एवम् विशिष्टता की दृष्टि से इस अध्याय को प्राङ्मौर्यकाल एवम् मौर्यकाल इन दो खण्डो में विभाजित किया गया है ।

अध्याय चतुर्थ शुंग-सातवाहन कालीन मालवा को स्पष्ट करता है । गुप्तपूर्वकाल में मालवा में शासन करने वाली विदेशी शक, कुषाण जातियों एवम् मालव तथा नाग जैसी भारतीय शक्तियों का संबंधित उल्लेख भी इसी अध्याय में किया गया है ।

पंचम अध्याय गुप्तकालीन मालव-मन्दिर वास्तुकला की समीक्षा के लिये सुरक्षित रखा गया है । शोधकर्ता ने इस काल से संबंधित सारी सामग्री को सव्याख्या सम्मिलित किया है ।

अध्याय षष्ठ गुप्तोत्तर मालवा की मन्दिर वास्तुकला का विवेचन है । शोधकर्ता का अभिमत है कि इस काल में बौद्ध धर्म पतनोन्मुख हो रहा था ।

कलेवर एवम् महत्व की दृष्टि से अध्याय सप्तम बड़ा महत्व रखता है । अभी तक खोजे गये एवम् सर्वेक्षित अनेक मन्दिरों की व्याख्या तो इस अध्याय में बन ही पायी है, किन्तु प्रस्तुत प्रबन्ध में प्रथम बार अनेक नवीन मन्दिरों का मौलिक सर्वेक्षण किया गया है ।

प्रस्तुत प्रबंध का अन्तिम व अष्टम अध्याय एक प्रकार से उपसंहार है । इस अध्याय में विभिन्न शीर्षकों के माध्यम से यह बतलाने का प्रयास किया गया है कि मालवा की मंदिर वास्तुकला की भारत को क्या देन है । निष्कर्ष के रूप में, कहा गया है कि यदि मालवा की संस्कृति और कला को भारतीय इतिहास से हटा लिया जाता है तो ऐसा लगेगा कि उसके अनेक पृष्ठ बीच बीच में से लुप्त हो गये हैं ।

अध्ययन शैलियां

निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति के निमित्त एवम् उपलब्ध सामग्री के व्यवस्थित एवम् वैज्ञानिक

अध्ययन की दृष्टि से प्रत्येक सामाजिक विज्ञान को कुछ निश्चित पद्धतियां अपनानी पड़ती हैं। प्रस्तुत अध्ययन हेतु निम्नांकित पद्धतियों का आश्रय लिया गया है :—

(१) समीक्षा ग्रन्थों का अध्ययन

इस विषय से संबंधित अभी तक जो सामग्री प्रकाश में आयी है उसका सांगोपांग अध्ययन किया गया है। ऐसा करते समय उपलब्ध विभिन्न सामग्रियों का तुलनात्मक परिचय प्राप्त किया गया है।

(२) सर्वेक्षण पद्धति

प्राचीन मालवा-मन्दिर-वास्तुकला से संबंधित विभिन्न स्थलों का व्यक्तिगत सामुख्य किया गया है। इस प्रत्यक्ष सामुख्य के आधार पर उपलब्ध जानकारी को इससे निम्न प्रकार से संयुक्त किया गया है :—

(अ) अभी तक किये गये निष्कर्षों एवम् निर्णयों के आधार पर वास्तुकला (स्थापत्य) का अध्ययन किया गया और तुलनात्मक रूप से यह देखा गया कि उपलब्ध विवरणों की क्या सीमाएं हैं तथा उनमें क्या परिवर्धन, संशोधन अथवा परिवर्तन आवश्यक हैं?

(ब) कई स्थल अभी तक असर्वेक्षित रहे हैं। उनका सर्वेक्षण किया गया एवम् उनके बारे में किये गये अध्ययन, काल निर्धारण एवम् निर्णय को इस विषय के दक्ष पुराविदों एवम् विद्वानों के सम्मुख प्रस्तुत किया गया। पर्याप्त मीमांसा के उपरान्त इस सामग्री को उपलब्ध सामग्री में सम्मिलित कर लिया गया। स्पष्ट है कि इस सर्वेक्षण के लिए पर्यटन एवम् परिभ्रमण के कष्ट एवम् श्रमसाध्य दायित्व को निभाया गया है।

(स) सामग्री-संकलन भी अध्ययन की एक महत्वपूर्ण पद्धति है। इस हेतु विभिन्न संबंधित मन्दिरों के स्केच बनाये गये तथा चित्र लिये गये। इनके आधार पर भी जो अध्ययन किया गया, वह प्रस्तुत प्रबन्ध के अध्ययन का एक महत्वपूर्ण एवम् अपरिहार्य अंग रहा है।

(३) विश्लेषणात्मक पद्धति

विभिन्न साहित्यिक एवम् पुरातत्वीय प्रमाणों के माध्यम से जो अध्ययन सामग्री प्राप्त की गई उसका क्रमबद्ध, कालक्रमानुसार एवम् तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। इस अध्ययन के आधार पर जो विश्लेषण किया गया है, उसके माध्यम से निष्कर्षों पर पहुंचा गया है।

(४) विवरणात्मक पद्धति

प्रस्तुत प्रबन्ध उपर्युक्त पद्धतियों का समन्वय करते हुए मूलत: विवरणात्मक है। जहां तक उक्त पद्धतियों का प्रश्न है, वे अध्ययन की तैयारियों से संबंधित रही हैं, किन्तु जब अभिव्यक्ति का प्रश्न उपस्थित होता है तो विवरणात्मक पद्धति एक महत्वपूर्ण विधा बन जाती है।

इसका भरसक प्रयास किया गया है कि समस्त विश्लेषण एवम् मत-मतांतर विवरण के साथ प्रस्तुत किये जायं । साथ ही आवश्यक चित्रों, स्केचों एवमं अन्य उपादेय सामग्री को अध्ययन-क्रम के साथ जोड़ा जाय ।

अध्ययन की सीमाएं

प्रस्तुत अध्ययन एक कष्ट-साध्य कार्य रहा है । निश्चित ही अध्ययन में कुछ सीमाएं रही हैं, जिन्हें स्पष्ट करना शोधकर्ता का प्रथम कर्तव्य है :—

(१) अध्ययन सामग्री का अभाव

अध्ययन सामग्री के क्रमबद्ध और वैज्ञानिक रूप से प्राप्ति न हो पाना इस शोधकर्ता की सबसे बड़ी सीमा रही है । सांची और भेलसा (विदिशा) के स्तूपों के बारे में सर जान मार्शल, कनिंघम आदि के कुछ प्रयासों को हम अपवाद के रूप में छोड़ सकते हैं ; किन्तु अभी तक मालवा के कई मन्दिरों का पुरातत्वीय अध्ययन तो दूर उनकी खोज होना भी शेष है । विशेषकर हर्षोपरान्त एवम् परमारकालीन मन्दिरों के साथ यह त्रासदी अधिक है । इसी कारण यह कहना फिर भी कठिन होगा कि इस छोटे से प्रबंध में मालवा के समस्त प्राचीन मन्दिरों का अध्ययन हो ही गया है ।

(२) मन्दिरों का पूर्णता से अध्ययन

कई मन्दिर या तो ध्वस्त हो गये हैं, या विकलांग हैं । इसी के साथ कई मन्दिर इतने विशाल हैं कि उन्हें समग्र रूप में देखा जाना उनकी ऊँचाई तथा विस्तृत आयाम के कारण संभव नहीं है। इस दृष्टि से विशद एवम् सूक्ष्म अध्ययन का अभाव कहीं कहीं पर विवशता बन गया है । कई मन्दिर इतने जीर्ण शीर्ण हो गये हैं कि उनका दूर से निरीक्षण करना ही बाध्यता है । उनके स्तम्भों पर चढ़ना या उनके शृंगो को गिनना एक प्रकार से जोखिम का काम रह गया है ।

(३) पुरातत्वीय एवम् प्रशासकीय सहयोग

यद्यपि पुरातत्व विभाग ने इस दृष्टि से काफी कार्य किया है, किन्तु ऐसा लगता है कि पुरातत्व विभाग केवल प्रमुख स्थलों पर ही ऐसा कर पाया है । कई स्थल अभी भी असर्वेक्षित एवम् अपरिभाषित हैं । वे हमारे अध्ययन-क्रम की दृष्टि से अधिक सहयोगी नहीं होते हैं । इसी प्रकार जिला स्तर भी प्रशासन पर्याप्त प्रयास कर रहा है किन्तु इन प्रयासों की सफलता एवम् प्रामाणिकता भविष्य के गर्त में है ।

शोधकर्ता को इस प्रकार पुरातत्व विभाग एवम् प्रशासन से सीमित सहयोग ही मिल पाया है । अतः इतने बड़े क्षेत्र का अध्ययन उसके एकाकी कंधों पर आ गया है ।

(४) समय एवम् साधनों की कठिनाई

अध्ययन की दृष्टि से इस प्रकार के शोध पर्याप्त समय मांगते हैं, क्योंकि सारी अध्ययन सामग्री एक ही स्थान पर उपलब्ध नहीं है। अध्ययन सामग्री जुटाना निश्चित ही दूरस्थ क्षेत्रों की यात्राओं एवम् जोखिम भरे सर्वेक्षणों का परिणाम होता है।

इसी प्रकार विभिन्न चित्रों को लेना, उनके स्केचों को आकलित करना तथा मन्दिर के विभिन्न अंगों को वास्तुकला (स्थापत्य) की दृष्टि से अंकित करना भी जितना कष्ट-साध्य है उतना ही लगभग व्यय-साध्य भी है।

शोधकर्ता ने अपना पूरा प्रयास इन सीमाओं को पाटने के लिये किया है। फिर भी कहीं कहीं स्पष्ट ही समय एवम् अर्थ की सीमाओं ने उसे बांधा है।

इन सीमाओं के होते हुए भी शोधकर्ता ने यह भरपूर प्रयास किया है कि अपने अध्ययन को उसकी समग्रता में क्रमबद्ध एवम् वैज्ञानिक रूप में प्रस्तुत करे और उचित विश्लेषण के उपरान्त उसके तकनीकी और सौन्दर्यात्मक पहलुओं को उभारे ताकि प्राचीन मालवा की मन्दिर वास्तुकला एवम् उससे संबंधित कलात्मक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक प्रश्नों एवम् परिवेश पर युक्ति-युक्त एवम् निश्चित प्रकाश पड़ सके।

अध्ययन के स्रोत

प्रस्तुत अध्ययन के निमित्त साहित्यिक एवम् ऐतिहासिक दोनों ही साधनों का भरपूर उपयोग किया गया है। इन सारे स्रोतों का विवरण परिशिष्ट में दिया गया है।

मैं इस कार्य में निदेशक डा० कैलाशचंद जैन, अध्यक्ष प्रा० का० इ० सं० एवम् पुरातत्व अध्ययन केन्द्र विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन तथा एक भारतीय नारी के प्रति उनके सहज, गंभीर किन्तु आत्मीय मार्ग दर्शन के लिये कृतज्ञ हूं। इसी प्रकार प्रस्तुत अध्ययन में मुझे सुप्रसिद्ध पुराविद डा० वी श्री वाकणकर एवम् मेरे आत्मीय मित्र डा० श्यामसुन्दर निगम एवम् डा० शिवसहाय पाठक का भी मैं उनके सहयोग के लिए आभारी हूं। मैं विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन के कुलपति एवम् कुलसचिव का भी कृतज्ञ हूं जिन्होंने इस अध्ययन के लिए प्रेरणा दी तथा इस प्रकाशन के विभिन्न आवश्यक सहयोग उपलब्ध कराने की दिशा में मुझे सहयोग प्रदान किया। मैं रेखाचित्र एवम् नक्शे के सहयोग के लिये डा० आर० सी० भवसार एवम श्री एस० एस० ओडेकर का कृतज्ञ हूं।

अन्ततः उन समस्त संस्थाओं, विद्वानों, मित्रों एवम् परिजनों के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करता हूं, जिन्होंने अपनी व्यस्तताओं तथा इतर दायित्वों के बावजूद भी प्रत्यक्ष तथा परोक्ष प्रेरणा एवम् सक्रिय सहयोग देकर सफल-प्राण बनाया है।

अन्त में इतना ही निवेदन है कि प्राचीन मालवा में मन्दिर वास्तुकला विषय पर यह प्रथम, विस्तृत, समग्र एवम् सांगोपांग अनुशीलन है। यदि यह प्रबन्ध विद्वानों द्वारा समादृत हुआ तो यह मेरा सौभाग्य होगा —

क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते ।

गीतानगर, बुधवारिया
उज्जैन

विनम्र
रामलाल कंवल

संक्षिप्तियां

अग्नि०	:	अग्निपुराण
अ० शा०	:	अर्थशास्त्र कौटिल्य कृत
अ० हि० इ०	:	अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया
आंगु०	:	आंगुतरनिकाय
आ० प० मा०	:	आर्ट आफ दी परमाराज आफ मालवा
आ० स० इं०	:	आर्कोलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया
आ० स० इं० रि०	:	आर्कोलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया रिपोर्ट्स
इ० आ०	:	इण्डियन आर्किटेक्चर
इ० आ० रि०	:	इण्डियन आर्कोलाजि—ए रिव्यू
इ० इं०	:	इपिग्राफिया इण्डिका
इं० ए०	.	इंडियन एन्टिक्वेरी
इ० स्टे० ग०	:	इन्दौर स्टेट गजेटियर
इ० हि० क्वा०	:	इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली
इ० क०	:	दी इम्पीरियल कन्नौज
इं० का०	:	इंडियन क्वाइन्स
उ० द०	:	उज्जयिनी दर्शन
ए० इ० यू०	:	एज आफ इम्पीरियल यूनिटी
ए० रि० रा० म्यू० अ०	:	एन्यूअल रिपोर्ट्स आफ दी राजपूताना म्युजियम, अजमेर
ए० सि० टा० रा०	:	ऐंशिएण्ट सिटीज एण्ड टाउन्स आफ राजस्थान
क० आ० स० इ०	:	कनिंघम ए० आर्कोलाजिकल सर्वे आफ इंडिया रिपोर्ट्स
क० भि० टो०	:	कनिंघम ए : भिलसा टोटस
क० प्रा० बु०	:	कला के प्राण बुद्ध
क० ला० ए०	:	दी क्लासिकल एज
क० हे० म० का०	:	दी कलचरल हेरिटेज आफ मध्यभारत
का० इ० इं०	:	कार्पस इंस्क्रिपशनम् इंडिकेशम

का० ले०	:	कार्माइकल लेक्चर्स
का० हि० इ०	:	काम्प्रेरन्सिव हिस्ट्री ग्राफ इंडिया
के० इं० ग्रा०	:	दी केनन्स ग्राफ इंडियन ग्रार्ट
के० का० इ० म्यू०	:	केटेलाग आफ दी क्वाइन्स इन दी इंडियन म्युजियम
के० हि० इ०	:	केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया
मा० सा०	:	ए गाईड टु सांची
ज० रा० ए० सो०	:	जर्नल आफ दी रायल एशियाटिक सोसायटी
जै० क० स्था०	:	जैन कला व स्थापत्य
जे० एन० एस० ग्राई०	:	जर्नल आफ दी न्यूमिस्मेटिक सोसाइटी ग्राफ इंडिया
टे० ना० इ०	:	टेम्पल्स ग्राफ नार्थ इंडिया
दी० नि०	:	दीघ निकाय
ग्वा० स्टे० ग०	:	दी ग्वालियर स्टेट ग्जेटियर
प्रा० प्र०	:	प्राच्य प्रतिभा
प्रा० भा० स्तू० गु० म०	:	प्राचीन भारतीय स्तूप गुहा एवं मन्दिर
प्रा० म० मा० जै०	:	प्राचीन व मध्यकालीन मालवा में जैन धर्म
पू० मा० इ०	:	पूर्वी मालवा का इतिहास
बु० इ० मा०	:	दी बुद्धिज्म इन मालवा
बा० गु०	:	बाघ की गुफाएं
मत्स्य०	:	मत्स्यपुराण
म० भा०	:	महाभारत
म० भा० इ०	:	मध्यभारत का इतिहास
मा० थ्रू० ए०	:	मालवा थ्रू० एजेस
मा० क० स्था०	:	मालवा की कला व स्थापत्य
मा० हृ० ग्र०	:	मालवा की हृदयस्थली ग्रवन्तिका
मा० प० क०	:	मालवा की परमारकालीन कला
मा० सा०	:	मान्यूमेन्ट्स ग्राफ सांची
बृ० सं०	:	बृहत् संहिता
वायु०	:	वायुपुराण
वि० स्मृ० ग्र०	:	विक्रम-स्मृति ग्रन्थ
वि० वा०, वि० व्हा०	:	विक्रम व्हाल्यूम
वै० ए०	:	वैदिक एज
वाटर्स	:	ग्रान यूग्रानयांग
स्कन्ध०	:	स्कन्धपुराण
स्ट्र० फा० एम्पा०	:	स्ट्रगल फार एम्पायर

स० सू०	:	समरांगणसूत्रधार
हि० इ० इ० आ०	:	हिस्ट्री आफ इण्डियन एण्ड इन्डोनेशियन आर्ट
हि० इं० स्क०	:	हिस्ट्री आफ इण्डियन स्कल्पचर
ऋ०	:	ऋग्वेद

चित्र सूची

विषयानुक्रमणिका

अध्याय तृतीय : प्रद्योत-नन्द-मौर्यकाल में मालवा एवम् उसकी मन्दिर वास्तुकला

अध्याय चतुर्थ : शुंगसातवाहन-शककालीन मालवा

अध्याय पंचम : गुप्त-औलिकर मालवा

प्राचीन मालवा
(मानचित्र)
उ
प
पू
द
स्केल
0 10 20 30 40 50
किलोमीटर
चम्बल नदी
कोटा
चित्तौड़
जावद
नीमच
मल्हारगढ़
जीरन
पंचदेवला
गांधी सागर
हिंगलाजगढ़
नावली
संधारा
झालावाड़
झालरापाटन
इन्द्रगढ़
खड़ावदा
गरोठ
कँवला
मन्दसौर
धमनार
रिंगनोद
शिवगढ़
बाजना
रतलाम
गुणावद
बिलपांक
गजनीखेड़ी
सुणीजा
बड़नगर
बदनावर
झाबुआ
धार
माण्डव
बाघ
लक्ष्मणी
अलीराजपुर
सिंघानिया
चिखलदा
पचखेरा
कसरावद
ऊन
खरगोन
खंडवा
नर्मदा नदी
महेश्वर (माहिष्मती)
ओंकारेश्वर मांधाता
नेमावर
उज्जैन
देवास
इन्दौर
हरसोला
देपालपुर
महिदपुर
मकला
आगर
सुन्दरसी
पीपलरांवा
शाजापुर
शुजालपुर
आष्टा
कोद्रा
खिलचीपुर
राजगढ़
सीहोर
भोपाल
भोजपुर
आशापुरी
रायसेन
समसगढ़
बेसनगर
विदिशा
उदयगिरि
सांची
ग्यारसपुर
उदयपुर
पठारी
बड़ोह
गुना
बजरंगगढ़
तुमैन
चंदेरी
सुरवाया
तेरही
महुआ
कदवाहा
पवाया
पाली नदी
संकेत चिह्न
नदी
मन्दिर
तालाब
जैन
बौद्ध स्तूप
शैव
अन्य देवी देवता
ज़िला
प्रस्तुतकर्ता
डा. राम लाल कँवल

प्राचीन मालवा में मन्दिर वास्तुकला

(क) मालवा का भौगोलिक वर्णन

आज मध्यप्रदेश के पश्चिम में स्थित 'मालवा' नामक जो उच्चसम भूमि है, उसका भौगोलिक वर्णन अपनी पृष्ठभूमि में एक ऐतिहासिकता रखता है। वस्तुतः यह क्षेत्र मूल रूप में अवन्ती जनपद कहलाता रहा। अवन्ती क्षेत्र से इसका नाम मालवा कैसे पड़ा ? यह कहना निश्चित रूप से संभव नहीं है। अधिकांश विद्वानों की धारणा है कि मालवगण से संबंधित रहने के कारण यह क्षेत्र मालवा कहलाने लगा। मालवजन मूलतः कहां के रहने वाले थे ? यह प्रश्न विवाद का विषय रहा है। अधिकतर विद्वानों की यह धारणा है कि मालवजन पंजाब के निवासी थे और सिकन्दर के आक्रमण के बाद वे राजस्थान में बस गये। उपरान्त उनकी कुछ शाखाएं अवन्ती क्षेत्र में आयी और इस क्षेत्र को मालवा नाम मिला।[1]

मालव जाति का सर्वप्रथम उल्लेख पाणीनि ने आयुधजीवी जाति के रूप में किया है।[2] उनके वर्णन से यह ज्ञात होता है कि इस जाति के लोग उत्तर-पश्चिम भारत के निवासी थे। महाभारत में मालवों का वर्णन त्रैगर्त्य, शिवि तथा अम्बष्ठ के साथ किया गया है।[3] महाभाष्यकर पतंजलि भी उनके नाम का उल्लेख करते हैं।[4]

सिकन्दर के साथ आये यूनानी इतिहासकार पंजाब के 'मल्लोई' का वर्णन करते हैं।[5] उनके वर्णन के आधार पर विन्सेण्ट स्मिथ ने निष्कर्ष निकाला है कि मल्लोई झेलम एवं चिनाव नदी के मध्य उस स्थान पर बसे हुए थे जहां आजकल झंग और माण्टगुमरी जिले हैं।[6] मेक् क्रिण्डल ने उन्हें चिनाव और रावी नदी के मध्य मुलतान और माण्टगुमरी जिले में अपने मूल रूप में बसा हुआ बताया है।[7] ये सारे स्थान आजकल

---

१. भण्डारी सुखसम्पत्ति राय : हिस्ट्री ऑफ मालवा, I, पृ० ४३.
२. पाणिनि : ५,३.१४४.
३. म० भा० द्रोण पर्व, १०-१७, सभा पर्व ३२-३७.
४. पतंजलि : ६,१.६८.
५. मेक् क्रिण्डल : इन्वेशन ऑफ इण्डिया, पृ० ३५०.
६. ज० रा० ए० सो०, १९०३, पृ० ६३१.
७. मेक् क्रिण्डल ; पूर्वोक्त, पृ० ३५१.

पाकिस्तानी पंजाब में है। इन विद्वानों ने यह संभावना प्रगट की हैं कि मल्लोई ही मालव थे। अधिकांश भारतीय विद्वानों ने इस धारणा को यथावत स्वीकारा है। ऐसा लगता है कि सिकन्दर से पराजित होकर मालवजन राजस्थान के जयपुर, मेवाड़, कोटा आदि क्षेत्रों की ओर चले आये।[१] कनिंघम ने इस क्षेत्र से मालवगण के प्राप्त सिक्कों का समय २५० ई० पूर्व से २५० ई० तक माना है जबकि विन्सेण्ट स्मिथ और रेपसन इन्हें १५० ई० पूर्व से ४थी ५वीं शताब्दी ई० तक का मानते हैं। जेम्स एलन इन्हें दूसरी से चौथी ई० शताब्दी के मध्य का मानते हैं।[२] तीसरी शताब्दी ई० पूर्व से लेकर चौथी शताब्दी ई० तक मालव राजस्थान में बसते थे क्योंकि उनकी मोहरें, सिक्के तथा अभिलेख इस क्षेत्र से प्राप्त हुए हैं। करीब तीसरी व चौथी शताब्दी ई० में मालवजन अवन्ती क्षेत्र में प्रवेश कर गये। डी० आर० भण्डारकर ने निष्कर्ष निकाला है कि मूल रूप में मालव पंजाब के निवासी थे। सिकन्दर के आक्रमण के उपरान्त वे दक्षिण पूर्व राजस्थान में आ गये और क्रमशः वे अवन्ती क्षेत्र में प्रवेश कर गये।[३]

शक क्षत्रप नहपान के दामाद ऋषभदत्त के नासिक गुहा अभिलेख में मालवों का जिस प्रकार से उल्लेख किया है, उससे यह अनुमान लगाया जाता है कि वे जयपुर के पास बसे थे।[४] कृत संवत् २८२ के नांदसा यूप अभिलेख में मालवगण का उल्लेख एक विजयी जाति के रूप में हुआ है।[५] कृत संवत् २८४ के बरनाला अभिलेख में भी मालवगण का उल्लेख हुआ है।[६] समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति भी मालवगण-राज्य के उन्मूलन का उल्लेख करती है।[७] दशपुर के औलिकर शासक अपने अभिलेखों में स्वयं को न केवल मालव मानते हैं अपितु अपने अभिलेखों में मालव संवत् का उल्लेख भी करते हैं। पांचवीं शताब्दी में रचित पाद्ताडिकम् नामक भाण मालव शब्द को एक गणराज्य सूचक शब्द न मानते हुए जाति एवं क्षेत्र इन दोनों का ही सूचक शब्द मानता है।[८] इस समय तक अवन्ती जनपद और मालवा दोनों भिन्न क्षेत्र थे। इस बात का प्रमाण वात्सायन का कामसूत्र,[१०] भरतमुनि का नाट्यशास्त्र,[११] वराहमिहिर की वृहत्संहिता,[१२] और इनके काफी समय बाद रचित बाणभट्ट की कादम्बरी देती है।[१३] ह्वेनसांग के वर्णन से भी ज्ञात होता है कि उसके द्वारा

---

१. मा० थ्रू एि०, पृ० ६.
२. मा० थ्रू एि०, पृ० ६.
३. का० लें०, पृ० १२-१३.
४. इ० इं०, ८, पृ० ७८.
५. उक्त, २६, पृ० २६५.
६. इ० इं०, २६, पृ० ११८.
७. का० इ०, इं० ३, पृ ६.
८. इ० इं, ३६, पृ० १३०.
६. चतुर्भाणि : पादताडिकम्, ६०, ११५.
१०. कामसूत्र, पृ० २७०.
११. नाट्यशास्त्र, १३।२६.
१२. वृ० सं०, ६, १७-२१.
१३: कादम्बरी, रीडिंग अनूदित, पृ० ४७, ५६.

वर्णित 'मौलापो' 'मालवा' ही था।[1] हर्षचरित के अनुसार मालवा का राजा देवगुप्त था।[2] ५वीं शताब्दी के वाकाटक नरेश पृथ्वीसेन द्वितीय के बालाघाट अभिलेख में मालवा का उल्लेख स्पष्टतया एक प्रदेश के रूप में आया है।[3]

उपर्युक्त वर्णन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ५वीं शताब्दी से 'मालव' शब्द एक गणराज्य अथवा जाति के रूप में प्रयुक्त न होते हुए एक क्षेत्र के रूप में प्रयुक्त होने लगा था, ८वीं शताब्दी तक आते-आते मालवा स्पष्ट ही वह क्षेत्र माने जाने लगा था, जिसे न्यूनाधिक रूप में हम आज प्राचीन मालवा कहते हैं।

अध्ययन की दृष्टि से मालवा शब्द की अवधारणा

इस क्षेत्र का मालवा नाम स्पष्ट ही ५वीं से ८वीं शताब्दी के मध्य क्रमशः पड़ता चला गया। इसका यह आशय नहीं कि प्रस्तुत अध्ययन की दृष्टि से इस क्षेत्र के इससे पूर्व की मन्दिर वास्तुकला का उल्लेख नहीं किया जायगा। मालवा नाम पड़ने के पूर्व इस अंचल के विभिन्न क्षेत्रों को अवन्ती, आकर, दशार्ण, अनूप आदि जनपदों के नाम से पुकारा जाता रहा।

अवन्ती—अवन्ती जनपद का सबसे प्रथम उल्लेख महाकाव्यों विशेषतः महाभारत में आता है।[4] बौद्ध ग्रन्थों में दीघनिकाय इसका सबसे पहले उल्लेख करता है।[5] आंगुत्तरनिकाय में अवन्ती को षोडश जनपद में रखा गया था।[6] महावस्तु[7] और महावग्ग[8] भी इस जनपद का उल्लेख करते हैं। गौतमीपुत्र शातकर्णी के नासिक गुहा लेख[9] तथा रूद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख में अवन्ती का एक प्रदेश के रूप में उल्लेख हुआ है।[10] मत्स्य, विष्णु, अग्नि, स्कन्द आदि पुराणों में भी अवन्तीप्रदेश का उल्लेख आया है।[11]

आकर—अवन्ती के साथ-साथ कई बार 'आकर' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। विद्वानों की यह

---

१. वाटर्स II, पृ० २५०.
२. हर्षचरित, उ० ६, पृ० ५९९; उ० ४, पृ० ४१२.
३. का० इ० इं०, ३, पृ० ७९.
४. म० भा०, ४।१,१२; ६।१७; ३७; ६।४५,७२.
५. दी० नि० २।२५३.
६. आं० नि० १।२१३, २५६, २६०.
७. महावस्तु, १।३४, २।३.
८. महावग्ग, ४।१७.
९. इ० इं०, ८, पृ० ६०.
१०. इ० इं०, ७, पृ० २५७.
११. मत्स्य, अध्याय ४३, विष्णु, ४।१२, अग्नि, २७५, स्कन्द, अवन्ती खण्ड.

धारणा है कि विदिशा के आसपास का क्षेत्र आकर कहा जाता था क्योंकि वहां 'आकर' अर्थात खानें अधिक थी।[१]

दशार्ण—रामायण,[२] महाभारत,[३] जातक-कथाओं,[४] तथा कतिपय पुराणों[५] में दशार्ण क्षेत्र का उल्लेख आया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र,[६] कालिदास के मेघदूत[७] और वराहमिहिर की बृहत्संहिता[८] में भी दशार्ण का उल्लेख है।

आज की धसान नदी को प्राचीन काल में दशार्ण कहा जाता था। इस नदी के किनारे के विभिन्न क्षेत्रों को विभिन्न समय में दशार्ण कहा गया।[९] इस कारण जहां कालिदास पूर्वमेघ में विदिशा के आसपास दशार्ण बताते हैं, वहीं सन् १२०१ ई० का कालिंजर अभिलेख स्पष्ट रूप में बुन्देलखण्ड को दशार्ण बताता है।[१०]

अनूप—आजकल जिसे निमाड़ कहते हैं, वह प्राचीनकाल में अनूप क्षेत्र कहलाता था। निमाड़ का प्रारम्भिक नाम अवन्ती था। उसकी राजधानी माहिष्मती थी। उज्जैन का विकास होने से जब अवन्ती जनपद उत्तर की ओर खिसक आया, तो निमाड़ को अनूप के रूप में एक पृथक् नाम दिया गया। अनूप क्षेत्र इस प्रकार अवन्ती जनपद का दक्षिणी भाग बन गया।[११]

महामालव—७वीं शताब्दी के एक सांची अभिलेख में बप्पक देव और उसके पुत्र महाराज सर्व को महामालव का स्वामी माना गया है।[१२] किन्तु लगता है महामालव का प्रयोग लोकप्रिय नहीं हुआ। ८वीं शताब्दी तक दशपुर से लगाकर विदिशा के मध्य का सारा क्षेत्र, जिसमें निमाड़ का अधिकांश भाग भी सम्मिलित था, मालवा कहलाने लगा। इस कारण जब हम मालवा का अध्ययन करते हैं, तो सहज रूप में इस क्षेत्र के अवन्ती,

---

१. ला० बी० सी० : हिस्टोरिकल ज्योग्राफी ऑफ एंशियन्ट इण्डिया, पृ० ३०४.
२. रामायण, ४।३१,१०.
३. म० भा० ४।१९; ६।४७,१२.
४. जातक, भाग ३, पृ० ३३८; भाग ६, पृ० २३८.
५. वायु०, ४५, मत्स्य, ११४.
६. अ० शा०, २।२.
७. पूर्वमेघ, १।२३.
८. बृहत्संहिता, १०।१५.
९. राय चौधरी एच० सी० : स्टडीज इन इंडियन एंटीक्विटीज, पृ० १२४ ला० बी० सी० : हिस्टारिकल ज्योग्राफी ऑफ एशियंट इंडिया, पृ० ३१४.
१०. आ० स० इ० दि० (१९२१-२२), पृ०३७-३८.
११. मा० क० स्था०, पृ० ४.
१२. मा० सा०, भाग १, पृ० ३९४-९५.

आकर, अनूप अथवा दशार्ण प्रदेशों का भी अध्ययन करते हैं, चाहे इस क्षेत्र का नाम मालवा बाद में पड़ा हो।

मालवा के वर्तमान क्षेत्र के बारे में आनुश्रोतिक एवं भौगोलिक दोनों ही उल्लेख उपलब्ध हैं।

अनुश्रुतियाँ मालवा की परिभाषा इस प्रकार करती हैं—

इत चम्बल उत बेतवा

मालव सीम सुजान।

दक्षिण दिसि है नर्मदा

यह पूरी पहचान ॥[1]

भूगोल वेत्ताओं ने मालवा के वर्तमान क्षेत्र को निम्नलिखित प्राकृतिक विभागों में विभाजित किया है।[2]

(१) मालवा का केन्द्रीय पठार :—इसमें राजगढ़, उज्जैन, शाजापुर, देवास, इन्दौर, रतलाम का कुछ भाग तथा धार जिले आते हैं।

(२) उत्तरपूर्वी पठार :—इस क्षेत्र में विदिशा, रायसेन, भोपाल तथा सीहोर जिले का कुछ भाग आता है। प्राचीन दशार्ण यही क्षेत्र माना गया है।

(३) उत्तर-पश्चिमी पठार :—इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण मन्दसौर जिला तथा रतलाम जिले का कुछ भाग आता है।

(४) नर्मदा घाटी :—इस क्षेत्र के अन्तर्गत सम्पूर्ण निमाड़, धार, इन्दौर, और देवास जिले के कुछ भाग आते हैं। प्राचीन अनूप देश इसी क्षेत्र में पड़ता था।

अनुश्रुति और भूगोल वेत्ताओं दोनों ही स्रोतों के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि मालवा का पठार बेतवा, चम्बल एवं नर्मदा नदियों के बनाये गये त्रिकोण के रूप में है। यह समुद्रतल से १५०० से २००० फीट ऊंचा है। यह पठार २३° ३०′ और २४° ३०′ अक्षांस उत्तर एवं ७४° ३०′ तथा ७८° १०′ देशान्तर पूर्व के मध्य स्थित है। इसके दक्षिण में नर्मदा के उत्तर में विंध्य व दक्षिण में सतपुड़ा की पर्वत श्रेणियां हैं। पूर्व में भोपाल से चन्देरी तक ये पर्वत श्रेणियां एक भुजा की तरह तथा पश्चिम में अमझेरा से चित्तौड़ तक दूसरी भुजा की तरह बन गई है। उत्तर में भी मुकुन्दवाड़ी श्रेणियां चित्तौड़ से चन्देरी तक चली

---

१. मा० हृ० आ०, पृ० २.

२. भाटिया प्रतिपाल : दी परमार्स, पृ० १.

गई हैं। मध्य में स्थान-स्थान पर जो पहाड़ियां हैं, वे भी विंध्य श्रेणियों का ही सिलसिला है।[1]

कुल मिलाकर मालवा एक उच्च समभूमि है, जो अपने अधिकांश भाग में काली लावा मिट्टी के मदान के रूप में प्रतीत होती है। जहां तक नदियों के बहाव का प्रश्न है, मालवा पठार को दो भागों में रखा गया है :—

(१) उत्तरी अंचल का विन्ध्य क्षेत्र : यह दक्षिण में ऊंचा और उत्तर की ओर नीचे होते हुए चला गया है और इस कारण चम्बल, क्षिप्रा, कालीसिंघ (द्वय), बेतवा, केन, नेवज, पार्वती आदि नदियां विंध्य से निकल कर उत्तर की ओर बहती चली गई हैं।

(२) दक्षिण का लावा क्षेत्र : यह विंध्य और सतपुड़ा के मध्य में स्थित है। पूर्व में ऊंचा और पश्चिम की ओर ढालू होता चला गया है। यही कारण है कि नर्मदा, माही आदि नदियां पूर्व की ओर से पश्चिम की ओर बहती चली गई हैं।

मालवा की जीवन रेखाओं के रूप में तीन प्रमुख नदियां चम्बल (चर्मण्यवती), नर्मदा (रेवा) एवं बेतवा (वेत्रवती) हैं।

मालवा पठार की जलवायु साधारणतः मौतदिल है। किन्तु गर्मियों एवं सर्दियों में जलवायु अपवाद स्वरूप क्रमशः गरम एवं अधिक ठंडी हो जाती है। जहां तक दिन और रात के तापमान का प्रश्न है, दिन की अपेक्षा मालवा की रातें अधिक सुहावनी हो जाती हैं। मालवा की रातों ने इसी कारण 'शब-ए-मालवा' के रूप में प्रकीर्ति पायी है। वैसे मालवा की जलवायु उत्तर-भारत के सामान्य जलवायु से भिन्न नहीं है वहीं तीन ऋतुएं और छः उपऋतुएं यहां छटा बिखेरती हैं। जून के समाप्त होते ही मानसून आ जाता है और औसत में प्रति वर्ष ३० इंच बरस कर विदा ले लेता है। औसत सुहानी वर्षा, औसत सुहानी ठंड और सुहानी गर्मी मालवा पठार की विशेषताएं हैं।

प्रकृति ने उपजाऊ काली लावा मिट्टी देकर मालवा के साथ न्याय किया है। जलभरी नदियां और जलकूपों एवं तालाबों द्वारा प्राप्त होनेवाली सिंचाई सुविधाएं इस उर्वरा शक्ति को और भी बढ़ाती हैं।

खरीफ की फसल मुख्यतः मानसून पर आधारित होती है। इसमें ज्वार, मक्का, कपास, गन्ना, मूंगफली और दालें प्रमुख उपज हैं। कहीं-कहीं नम मिट्टी वाले क्षेत्रों में धान अच्छा पैदा होता है। रबी की फसलें सिंचाई सुविधायें प्राप्त करती हैं। इनमें गेहूं, चना, प्याज, अलसी आदि प्रमुख फसलें हैं। कहीं कहीं रोकड़ उपज के रूप में तम्बाकू एवं अफीम की खेती भी होती है। इन फसलों के अतिरिक्त मालवा भरपूर सब्जियां, पपीता, आम, सीताफल, अमरूद आदि फल भी पैदा करता है। अंगूर की खेती भी यहां लोकप्रिय रही है। सारे मालवा में पीपल, नीम, पलाश, वट, बबूल, खेजड़ा, इमली, अशोक, आम, महुआ आदि के वृक्ष पाये जाते हैं। विन्ध्य श्रेणियों पर वनों की भरमार है जहां सागवान, सादड़, काला अंजन, खजूर तथा शीशम के वृक्ष बहुतायत से प्राप्त होते हैं।

---

१. इम्पीरियल गझेटियर, (सी० आय० एजेन्सी), पृ० १२१.

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि मालवा का पठार एक उपजाऊ क्षेत्र है और यही कारण है कि कबीर ने इसकी प्रशस्ति इन शब्दों में की है :—

"देस मालवा घर गंभीर,
मग-मग रोटी, पग-पग नीर।"

इस प्रकार मालवा का वर्तमान भौगोलिक क्षेत्र लगभग ४७,७६० वर्ग किलोमीटर और इन्दौर, उज्जैन, भोपाल संभागों के अन्तर्गत धार, झाबुआ, रतलाम, देवास, इन्दौर, उज्जैन, मन्दसौर, सिहोर, भोपाल, शाजापुर, रायसेन और विदिशा जिले आते हैं।

सांस्कृतिक दृष्टि से भी मालवा अंचल को विभाजित किया जा सकता है। मन्दसौर क्षेत्र कांठल के नाम से, रतलाम क्षेत्र वागड़ के नाम से, धार क्षेत्र राठ के नाम से, महिदपुर क्षेत्र सोंधवाड़ा के नाम से, राजगढ़ क्षेत्र उमठवाड़ा और रायसेन क्षेत्र खींचीवाड़ा के नाम से पुकारा जाता रहा है। एक अन्य सांस्कृतिक विभाजन के अनुसार मालवा को कांठल (रतलाम के आसपास का क्षेत्र) सोंधवाड़ (महिदपुर, आलोट-आगर क्षेत्र), उमठवाड़ (राजगढ़, खिलचीपुर, नरसिंहपुर क्षेत्र), खींचीवाड़ (विदिशा-रायसेन क्षेत्र) तथा निमाड़ क्षेत्रों में विभाजित किया गया है। वैसे मालवा के केन्द्रीय पठार का सांस्कृतिक नाम मालवा ही रहा है।

मालवा की इस भौगोलिक सम्पन्नता ने यहां के इतिहास और संस्कृति पर भरपूर प्रभाव डाला है और यही कारण है कि अति प्राचीन काल से लेकर आज तक मालवा भारत के राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास का एक महत्वपूर्ण एवं अपरिहार्य अंग रहा है। आर्थिक और व्यापारिक दृष्टि से भी मालवा ने इन भौगोलिक आधारों पर महत्ता पायी है। कृषिप्रधान उत्तर भारत और उद्योग-प्रधान दक्षिण भारत के मध्य स्थित होने से इस क्षेत्र ने दोनों भागों को मिलाने का महत्वपूर्ण कार्य किया है। विदिशा, उज्जैन, माहिष्मती आदि मालवा के महत्वपूर्ण केन्द्र जहां एक ओर पाटलिपुत्र, श्रावस्ती, कौशाम्बी, मथुरा आदि उत्तर भारतीय केन्द्रों से राजमार्गों से जुड़े रहे, वही दूसरी ओर दक्षिण-पश्चिम भारत के भृगुकच्छ, सुप्पारक, नासिक, प्रतिष्ठान-पुर आदि से भी उसका सुगठित व्यापारिक सम्पर्क बना रहा।[1] दोनों क्षेत्रों के व्यापारिक एवं सांस्कृतिक सम्पर्क का परिणाम मालवा की मन्दिर वास्तुकला पर भी पड़ा और यही कारण है कि दोनों भागों की कलाओं के साहसपूर्ण एवं मौलिक प्रयोग मालवा क्षेत्र में हुए।

(ख) मालवा एवं उसके प्राचीन नगर तथा ग्राम[2]

वर्तमान में मालवा क्षेत्र प्रमुख रूप से मध्य प्रदेश के भोपाल, इन्दौर, उज्जैन संभागों एवं गौण रूप से गुना जिला एवं राजस्थान के कुछ निकटवर्ती भागों तक फैला हुआ है।

---

१. निगम, श्यामसुन्दर : इकानामिक आर्गेनाइजेशन इन एंशियंट इण्डिया, पृ० २०५-२०६.
२. इन समस्त स्थानों को मानचित्र में बताया गया है। सन्दर्भ-सूची में इन्हें इसलिए अंकित नहीं किया है कि आगामी अध्यायों में इन स्थानों से सम्बन्धित विभिन्न संदर्भों को यथा-स्थान उल्लेख किया जायगा।

भोपाल सम्भाग के सीहोर, भोपाल, विदिशा, राजगढ़ जिले लगभग पूर्ण रुप से एवं रायसेन जिले का कुछ भाग मालवा के अन्तर्गत लिया जा सकता है। इन्दौर सम्भाग के इन्दौर, धार, झाबुआ एवं निमाड़ जिले भी मालवा क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं। उज्जैन सम्भाग में ५ जिले हैं जिनके नाम—उज्जैन, देवास, शाजापुर, रतलाम एवं मन्दसौर हैं। ये सभी मालव अंचल में आते हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से मालवा का क्षेत्र एक ओर चन्देरी तक तथा दूसरी ओर कोटा तक सांस्कृतिक प्रभाव रखता रहा है। इस कारण ग्वालियर संभाग के गुना जिले तथा राजस्थान के कोटा, चित्तौड़ एवं झालावाड़ जिलों के कई प्राचीन स्थलों का अध्ययन प्रस्तुत शोध के अन्तर्गत समाविष्ट किया गया है।

विभिन्न जिलों में प्राचीन मन्दिर वास्तुकला से सम्बन्धित जो विभिन्न स्थान इतिहासकारों एवं पुराविदों की निगाहों में उभर आये हैं, उनका भौगोलिक एवं सांस्कृतिक परिचय देना एक आवश्यक तत्व है। विभिन्न जिलों के अनुसार ये स्थान इस प्रकार हैं :—

उज्जैन : उज्जैन जिले के अन्तर्गत उज्जैन, सोडंग, कानीपुरा, दंगवाड़ा, पिंगलेश्वर, पानबिहार, जैथल, ओखलेश्वर, कमेड़, ऊंडासा, महिदपुर, झारड़ा डेलची, इन्दोख, वैद्यनाथ, धन्वन्तरि एवं रुणीजा नामक नगर तथा ग्राम अध्ययन की दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं।

उज्जैन : वर्तमान उज्जैन संभाग तथा जिले का मुख्यालय है। यह प्राचीन अवन्ती जनपद का प्रमुख नगर और उसकी उत्तरी राजधानी रहा है। नगर का सर्वप्रथम उल्लेख पाणिनि ने किया है। उसके उपरान्त बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों, महाभारत, कौटिल्य के अर्थशास्त्र, स्मृति-ग्रन्थों, पुराणों तथा अनेक काव्य ग्रन्थों में उज्जैन की भरपूर प्रशस्ति गायी गई है।

सम्भवत : इस नगर को बसाने का श्रेय हैहयों को जाता है। पुरातत्वीय उत्खनन के अनुसार इस नगर का अस्तित्व छठी शताब्दी ई० पूर्व से ज्ञात होता है। तब से लेकर आज तक नगर ने अनेक उतार-चढ़ाव देखते हुए अपनी निरन्तरता को बनाये रखा है। साहित्यिक एवं पुरातत्वीय दृष्टि से अध्ययन करने पर उज्जैन नगर में प्राचीनकाल से लेकर आज तक मन्दिर निर्माण की अजस्र परम्परा रही है, जो प्रस्तुत अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

उज्जैन के निकट कानीपुरा ग्राम के पास प्राङ्मौर्यकालीन स्तूपों का पता लगा है। इनमें प्रमुख वैश्या टेकरी स्तूप था। सोडंग नामक ग्राम से कतिपय मौर्यकालीन वास्तु सामग्री प्राप्त हुई है। दंगवाड़ा के उत्खनन की प्रारम्भिक रपट में यहां एक ताम्राश्मयुगीन मन्दिर एवं यज्ञ कुन्ड का अस्तित्व बताया गया है। उज्जैन के आसपास १० किलोमीटर परिक्षेत्र में पिंगलेश्वर, पानविहार, जैथल, ओखलेश्वर, कमेड़ और ऊण्डासा ग्रामों में अनेक परमारकालीन मन्दिरों के अवशेष प्राप्त हुए हैं। उज्जैन की बड़नगर तहसील में रुणीजा नामक कस्बा महत्वपूर्ण पुरा सामग्री प्रस्तुत करता है। इसी के निकट गजनीखेड़ा नामक ग्राम में देवी का एक आकर्षक परमारकालीन मन्दिर अपना अस्तित्व प्रदर्शित करता हुआ खड़ा है।

उज्जैन जिले की महिदपुर तहसील के कई ग्रामों में परमारकालीन वस्तियां रही हैं। सहज रुप से यहां परमारकालीन मन्दिरों के अवशेष अथवा जीर्ण-क्षीर्ण मन्दिर दिखाई देते हैं। स्वयं महिदपुर में परमार-

कालीन मन्दिर हैं। उससे २ किलोमीटर पश्चिम में धुलेट नाम के ग्राम में धूर्जटेश्वर का मन्दिर है। महिदपुर से महिदपुर रोड़ के मध्य डेलची नामक ग्राम में परमारकालीन मन्दिरों के अवशेष देखे जा सकते हैं। महिदपुर से झारड़ा मार्ग पर महिदपुर से लगभग ५ किलोमीटर की दूरी पर धन्वन्तरी नामक एक स्थान है, जो बैजनाथ ग्राम के पास है। इस स्थल पर परमारकालीन शैव मन्दिर के अवशेष मिलते हैं। महिदपुर से १४ किलोमीटर दूरी पर झारड़ा नामक ग्राम में गुप्तोत्तर और परमारकालीन मन्दिरों के अवशेष मिलते हैं। झारड़ा से ७ किलोमीटर की दूरी पर मकला नामक ग्राम है, जहां महाकालेश्वर का प्रसिद्ध परमारकालीन मन्दिर है। इससे कुछ किलोमीटर दूरी पर इन्दोख नामक एक कस्वे में परमारकालीन मन्दिर स्थापत्य के अवशेष देखे जा सकते हैं।

उज्जैन से पूर्व में लगभग २५ किलोमीटर दूरी पर मकसी मार्ग पर कायथा की एक प्रागैतिहासिक बस्ती विद्यमान है। उत्खनन से यहां लगभग चार हजार वर्ष प्राचीन पुरा-सामग्री प्राप्त हुई है। वराहमिहिर की प्रि: कपित्थक भूमि का समीकरण कायथा से किया गया है। यहां भी मन्दिर वास्तुकला के कई अवशेष उत्खनन में और सतह पर प्राप्त हुए हैं।

देवास : देवास जिले में नागदा, सोनकच्छ, भौंरासा, गंधावल, विजवाड़, नेमावर एवं देवबलड़ा में प्राचीन बस्तियां थीं। देवास-भोपाल मार्ग पर देवास से लगभग ३५ किलोमीटर की दूरी पर सोनकच्छ नामक तहसील मुख्यालय पर १२वीं शताब्दी के कतिपय परमारकालीन मन्दिरों के अवशेष देखे जा सकते हैं। देवास से लगभग ४० किलोमीटर की दूरी पर गंधावल (गंधर्वपुरी) नामक ग्राम में वहां स्थित मन्दिरों और अन्यत्र ग्राम परिसर में चारों ओर परमारकालीन शैव, वैष्णव, शाक्त एवं जैन मन्दिरों के अवशेष पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हुए हैं। गंधावल के पास भौंरासा एक बड़ा कस्वा है, जहां एक प्राचीन शैव मन्दिर के अवशेष मिले हैं। देवास से लगभग ५ किलोमीटर पूर्व में नागदा नामक ग्राम में तथा १० किलोमीटर उत्तर पूर्व में देवबलड़ा नामक ग्राम में १२वीं शताब्दी के शैव मन्दिरों के अवशेष मिले हैं। देवास जिले की खातेगांव तहसील में दो महत्वपूर्ण पुरास्थल ध्यान आकर्षित करते हैं। एक स्थल है विजवाड़, जहां ११वीं शताब्दी में एक विशाल जैन मन्दिर था। यह अब नहीं है। यहां की कुछ विशिष्ट जैन मूर्तियां भोपाल संग्रहालय में भेज दी गई है। नर्मदा किनारे नेमावर का एक बड़ा कस्वा है जो इन्दौर से ७२ किलोमीटर दूरी पर है। यह परमार काल से पहले एक सम्पन्न नगर था। अलबरुनी ने उसका वर्णन किया है। यहां १०वीं अथवा ११वी शताब्दी के दो दर्शनीय मन्दिर हैं जिनमें सिद्धेश्वर का मन्दिर अत्यधिक पूर्ण एवं दर्शनीय है।

शाजापुर : शाजापुर जिले में सखेड़ी, आगर, सुन्दरसी, कानड़, मक्सी, पीपलरांवा एवं करेड़ी ग्राम आकर्षित करते हैं। सखेड़ी शाजापुर से कुछ किलोमीटर की दूरी पर है। कतिपय विद्वानों की धारणा है कि सम्भवतः प्राचीन शाकपुर नगर यही सखेड़ी ग्राम है। अन्य कुछ विद्वान शुजालपुर को शाकपुर बताते हैं। स्थिति जो भी रही हो सखेड़ी में परमारकालीन मन्दिर आंशिक एव जीर्ण शीर्ण स्थिति में विद्यमान हैं। शाजापुर जिले में शाजापुर से लगभग १० किलोमीटर की दूरी पर करेड़ी नामक ग्राम है, जो सदियों से महाकाली मन्दिर के लिये प्रसिद्ध रहा है। इसी मन्दिर में संवत् १०५५ का एक अभिलेख है जो सिद्ध करता है कि यहां परमार काल में एक शिव मन्दिर था। इसके अवशेष यहां बिखरे पड़े हैं।

कालीसिंध स्टेशन से लगभग ५ किलोमीटर की दूरी पर सुन्दरसी की एक परमारकालीन बस्ती है जहां कुछ प्राचीन मन्दिरों के अवशेष उपलब्ध हुए हैं। आगर में बैंधनाथ महादेव का मन्दिर अपने मूल रूप में अपना अस्तित्व बनाये हुए है, यह परमारकालीन था। उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस मन्दिर का निर्माण ११वीं अथवा १२वीं शताब्दी में हुआ था। आगर, शाजापुर की एक प्रमुख तहसील का मुख्यालय है। शाजापुर जिले में आगर के पास लगभग २० किलोमीटर दूरी पर कानड़ नामक कस्बे में प्राचीन परमारकालीन जैन मन्दिर के अवशेष विद्यमान हैं। मक्सी नामक कस्बा शाजापुर जिले का एक महत्वपूर्ण सड़क एवं रेल केन्द्र है। यहां एक जैन तीर्थ है। यहां के पार्श्वनाथ मन्दिर के स्तम्भों के देखने से ज्ञात होता है कि मूल रूप से यह एक परमारकालीन मन्दिर था। शाजापुर जिले में गोंदलमऊ ग्राम से भी महत्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध हुई है। पीपलरांवां नामक कस्बे से भी अभी हाल में परमारकालीन एक मन्दिर के अवशेष प्रकाश में आये हैं।

रतलाम : रतलाम जिले में १० किलोमीटर के परिक्षेत्र में लुनेरा, बौरदा, उन्हेल, घराड़, गुणावद, झर, शिवगढ़ एवं जलौद नामक ग्राम स्थित हैं। इनमें झर एवं घराड़ निश्चित ही ध्यान आकर्षित करते हैं। झर, रतलाम से लगभग १० किलोमीटर दूरी पर उत्तर-पूर्व में एक डूंगर पर स्थित है। यहां ११वीं शताब्दी के एक शैव मन्दिर के अवशेष बिखरे पड़े हैं। झर के पास ही लुनेरा और जलौद नामक ग्रामों में मन्दिर अवशेष देखे जा सकते हैं। जावरा तहसील के बौरदा और रतलाम तहसील के गुणावद में भी ऐसी ही सामग्री प्राप्त होती है। घराड़ नामक ग्राम रतलाम इन्दौर मार्ग पर रतलाम से लगभग १० किलोमीटर की दूरी पर है। यहां महाकालेश्वर के परमारकालीन मन्दिर का अन्तराल और गर्भगृह बहुत कुछ सुरक्षित है। रतलाम-इन्दौर मार्ग पर ही रतलाम से १५ किलोमीटर की दूरी पर विलपांक नामक ग्राम स्थित है। यहां संवत् ११९८ ई० के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि यहां पीरुपाक्ष का जो विशाल शिव मन्दिर है. उसका निर्माण संभवत जयसिंह सिद्धराज ने करवाया था। रतलाम से कुछ किलोमीटर पश्चिम में स्थित शिवगढ़ में एक परमारकालीन मन्दिर के अवशेष मिले हैं। रतलाम के निकट नगरा एवं जावरा के निकट बाईखेड़ा नामक ग्रामों में प्राचीन मन्दिरों के अवशेष मिले हैं। रतलाम से पश्चिम में बाजना मार्ग पर ३५ किलोमीटर की दूरी पर गढ़खंखई देवी का एक विख्यात स्थल है। इसका प्राचीन नाम उच्चानगढ़ था। इस परमारकालीन बस्ती में शैव एवं जैन मन्दिरों के अवशेष मिले हैं। रतलाम जिले में रतलाम से लगभग ५० किलोमीटर की दूरी पर चम्बल किनारे रिंगनोद नामक ग्राम है। अभिलेखीय साक्ष के अनुसार इसका प्राचीन नाम इंगनोद अथवा इंगनपात सिद्ध होता है। परमार काल में यहां गोहृदेश्वर का मन्दिर था। रतलाम की आलोट तहसील में लगभग ५ किलोमीटर उत्तर की ओर उन्हेल नामक एक ग्राम में परमारकालीन जैन मन्दिर के अवशेष मिले हैं। अभी-अभी ही जैनियों ने इन अवशेषों पर एक विशाल जैन मन्दिर बनवा दिया है।

मन्दसौर : मन्दसौर जिला पुरातत्व एवं मन्दिर वास्तुकला की दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण जिला है। मन्दसौर नगर स्वयं जिले का मुख्यालय है। शिवना नदी के किनारे स्थित इस प्राचीन नगर का नाम दशपुर रहा है। अनुश्रुतियों ने दशपुर को रन्तीदेव एवं चण्डप्रद्योत से जोड़ा है। ऊषवदात का नासिक अभिलेख इसका उल्लेख करता है। वस्तुतः दशपुर लगभग इसी समय से पश्चिम मालवा का एक महत्वपूर्ण केन्द्र बना। गुप्त-औलिकर काल में यह औलिकरों की राजधानी का मुख्यालय था। कालिदास ने पूर्व मेघ में इसका उल्लेख किया है। औलिकरों के अनेक अभिलेख यहां गुप्त-औलिकर काल में मन्दिर निर्माण का उल्लेख करते

हैं। यहां उपलब्ध पुरा-सामग्री भी यह बात प्रमाणित करती है। मन्दसौर के बिल्कुल निकट मकनगंज एवं खिलचीपुर ग्राम से गुप्त-औलिकर काल के कई शिव मन्दिरों के अवशेष मिले हैं। मन्दसौर जिले की गरोठ तहसील में बौद्धगुहा-विहार एवं चैत्यों के निर्माण का सिलसिला ७वीं से १०वीं शताब्दी तक जारी रहा। ये गुफायें धमनार, खोलवी, विनायका, खेजड़ियाभोप तथा पोलाडोंगर में स्थित हैं। धमनार में राजपूतकालीन एक विशाल वैष्णव गुहा मन्दिर भी है। धमनार शामगढ़ से करीब २० किलोमीटर की दूरी पर है। पोलाडोंगर गरोठ से करीब १० किलोमीटर की दूरी पर है। खोलवी की गुफायें धमनार से ३२ किलोमीटर दक्षिण-पूर्व में स्थित हैं। खोलवी से १६ किलोमीटर पश्चिम में खेजड़ियाभोप और कुछ ही किलोमीटर दूरी पर विनायका है। मन्दसौर जिले में हिंगलाजगढ़ ९वीं से १३वीं शताब्दी तक जैन, वैष्णव, शैव एवं शाक्त धर्म से सम्बन्धित विशाल एवं कलात्मक मन्दिरों का केन्द्र रहा है। इनके अवशेष परमारकालीन गढ़ एवं उसके आस-पास काफी दूर दूर तक बिखरे पड़े हैं। यहां की कई अद्वितीय एवं आकर्षक प्रतिमाएं भोपाल के बिड़ला संग्रहालय एवं इन्दौर के केन्द्रीय संग्रहालय में ले जायी गई हैं। यहां की पुरा-सामग्री के आधार पर यहां की मन्दिर वास्तुकला के निर्माण की कल्पना सहज हो उठती है। मन्दसौर की मल्हारगढ़ तहसील में जीरन नामक एक कस्बा है। जीरन से ६ किलोमीटर की दूरी पर पंचदेवन नामक ग्राम है। दोनों ही स्थानों पर प्राचीन मन्दिर अवशेष प्राप्त हुए हैं। रामपुरा-भानपुरा मार्ग पर स्थित भानपुरा से लगभग १२ किलोमीटर पश्चिम में मोड़ी नामक एक स्थान है। परमारकाल में यहां मोड़ी पत्तन नामक एक बड़ा नगर था। ऐसी अनुश्रुति है कि यह परमारों की क्षेत्रीय राजधानी रहा था। यहां ११वीं से १३वीं शताब्दी के अभिलेख मिले हैं, जो इस बात की सूचना देते हैं कि यहां जैन, शैव, वैष्णव एवं शाक्त धर्म से सम्बन्धित मन्दिरों का विशद् निर्माण किया गया था। मोड़ी की पुरातत्वीय सामग्री यह सिद्ध करती है कि ११वीं से १३वीं शताब्दी के मध्य इस नगर में परमार मूर्ति एवं वास्तुकला को न केवल भरपूर संरक्षण दिया था, अपितु उसमें अनेक मौलिक आयाम भी उपस्थित किये थे! दुर्भाग्य से मोड़ी का बहुत सा परिसर चम्बल की डूब में आ गया है और इस कारण बहुतसी बहुमूल्य पुरा-सामग्री अब कभी न प्राप्त होने की स्थिति में अतीत के गर्भ में चली गई है। भानपुरा के आसपास कई महत्वपूर्ण स्थल हैं। इनमें इन्दरगढ़ और शैरगढ़ विशेष उल्लेखनीय हैं। शैरगढ़ का प्राचीन नाम कोष-वर्द्धन था। प्राप्त अभिलेखीय प्रमाण यह सिद्ध करते हैं कि यहां प्रतिहार, राष्ट्रकूट एवं मौर्यकाल में अनेक मन्दिरों का निर्माण करवाया गया था। भानपुरा से ११ किलोमीटर उत्तर पश्चिम में संधारा नामक ग्राम नीमच मार्ग पर स्थित है। संधारा परमारकाल में एक उल्लेखनीय स्थापत्य केन्द्र रहा है। अभी भी यहां शैव, वैष्णव एवं जैन मन्दिर अपने आंशिक रूप में देखे जा सकते हैं और अध्ययन के लिये विशिष्ट सामग्री जुटाते हैं। भानपुरा से १३ किलोमीटर उत्तर-पश्चिम में कैथुली नामक ग्राम है जहां कुछ परमारकालीन जैन एवं हिन्दू मन्दिर अभी तक विद्यमान रह सके हैं। रामपुरा-भानपुरा परिक्षेत्र में थोड़ी थोड़ी दूर पर कई ऐसे स्थल हैं जो पुरातत्व की दृष्टि से विशिष्ट ध्यान आकर्षित करते हैं। दूदाखेड़ी में परमारकाल में एक शैव मन्दिर था। विट्ठलपुर में इसी समय कुछ वैष्णव एवं शैव मन्दिर थे। भानपुरा तहसील में विन्ध्य की पर्वतीय उपत्यका में नावली स्थित है। पास ही शंखोद्धार नामक स्वर्णिम तीर्थ स्थल थे, जहां कई परमारकालीन मन्दिर थे। ये स्थल चम्बल बांध के पानी के डूब में आने से अब स्मरण-मात्र ही रह गये हैं। संधारा के पास खेड़ी, बोलिया के पास पुराजिलाना, गरोठ के पास खड़ावदा, रामपुरा के पास घरोंद, धमनार के पास चन्दवासा, जावद के पास खोर एवं बोलिया के निकट धुसई नामक स्थलों में परमारकालीन मन्दिर वास्तुकला की बहुत सी सामग्री आज भी उपलब्ध है।

मन्दसौर जिले के चार कस्बे मन्दिर वास्तुकला की दृष्टि से वस्तुतः भरपूर ध्यान आकर्षित करते हैं। ये कस्बे हैं :— कजार्डा, कुकड़ेश्वर, कंवला या कोहिला एवं कंथुली। ये स्थान मन्दसौर जिले के सभी प्रमुख केन्द्रों से सड़क मार्ग से जुड़े हुए हैं। इन स्थानों में परमारकालीन जैन, वैष्णव, एवं शैव मन्दिर बहुत कुछ सुरक्षित स्थिति में हैं तथा मालवा में अन्यत्र बने समकालीन मन्दिरों से निश्चित ही अपनी पृथक् पहचान रखते हैं।

इन स्थानों के अतिरिक्त मन्दसौर के दूर-दराज क्षेत्र में ठकुराई, कोण, मालाहेड़ा, बुंजर, घुंघरी नामक ग्राम है, जहां से परमारकालीन मन्दिर वास्तुकला से सम्बन्धित सामग्री प्राप्त हुई है।

इन्दौर : इन्दौर जिले में मन्दिर वास्तुकला की दृष्टि से विशिष्ट अध्ययन के लिये कोई महत्वपूर्ण स्थल नहीं है। परमार नरेश देवपाल द्वारा बसाये गये देपालपुर (देवपालपुर) नामक कस्बे में उसके द्वारा बनाये गये कतिपय मन्दिर थे जिनके केवल अवशेष ही शेष हैं। निकटस्थ बनेड़िया ग्राम में जो जैन मन्दिर था, वह जीर्णोद्धार के कारण अपना बहुत कुछ मूल रूप खो बैठा है। हरसौला नामक स्थान में सन् ६४९ ई० के सीयक द्वितीय का ताम्रपत्र मिला है। उसमें परमारकाल में यहां मन्दिर की विद्यमानता का उल्लेख है। इन्दौर जिले की बेटमा तहसील के मुख्यालय बेटमा में कतिपय परमारकालीन प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं, जो यह सिद्ध करती हैं कि उस काल में यहां मन्दिर निर्मित किये गये थे। वैसे यहीं से सन् १०२० ई० का राजा भोज का एक ताम्रपत्र भी मिला है।

धार : धार जिले का प्रमुख केन्द्र है। सांस्कृतिक दृष्टि से धारानगरी भारतप्रसिद्ध रही है क्योंकि परमार राजाओं की राजधानी होने से यहां कला, साहित्य और संस्कृतिक को अत्यधिक प्रोत्साहन प्रदान किया गया था।

मुस्लिम आक्रान्ताओं की हथौड़ियों ने धार के प्राचीन मन्दिरों को बुरी तरह ध्वस्त किया। अब स्थिति यह है कि इधर उधर बिखरे अवशेष भी प्राचीन भव्य मन्दिरों के अस्तित्वों का साक्ष देते हैं। राजा भोज द्वारा निर्मित सुप्रसिद्ध सरस्वतीशाला पूरी तरह परिवर्तित की जाकर आजकल कमाल मौला की मस्जिद के रूप में देखी जा सकती है। आधुनिक नालछा ग्राम का प्राचीन नाम नलकच्छपुर था। यह ग्राम धार व मांडव के मध्य स्थित है। मांडव आज भारत प्रसिद्ध पुरास्थली है। इसका प्राचीन नाम मण्डप दुर्ग था। जैन ग्रन्थ एवं विद्यमान कुछ पुरा अवशेषों से यह बात सिद्ध होती है कि इन दोनों स्थलों पर परमारकाल में अनेक भव्य मन्दिर बने हुए थे। धार के निर्माणों के भांति यहां के वास्तुकला वैभव को भी धूल-धूसरित हो जाना पड़ा।

धार जिले में सबसे अधिक आकर्षण वे बौद्ध गुफाएं हैं जो बाघ नामक स्थान पर बाघनी नदी के किनारे एक सुरम्य पहाड़ी में बौद्ध भिक्षुओं ने चट्टानों को काटकर बनाई थीं। ये गुफाएँ उत्तर-गुप्तकालीन हैं तथा चैत्यों एवं विहारों के रूप में हैं। इनमें से कुछ गुफाएं चित्रित भी हैं। समय एव प्राकृतिक प्रकोप से जर्जरित होकर ये गुफायें तेजी से आत्महत्या कर रही हैं। धार जिले में ही जामली नामक ग्राम में एक शिव मन्दिर है। यह मन्दिर परमारकालीन मन्दिरों की आम शैली से निश्चित ही भिन्नता रखने के कारण ध्यान आकर्षित करता है। धार जिले की बदनावर एक महत्वपूर्ण तहसील है। यह नगर इन्दौर रतलाम मार्ग पर स्थित है। इसका प्राचीन नाम वर्द्धनपुर था। कतिपय विद्वानों की धारणा है कि जैन ग्रन्थों में वर्द्धमानपुर की

जो चर्चा आई है, यह वही नगर था। यहां कई परमारकालीन जैन एवं हिन्दू मन्दिरों के अवशेष मिले हैं। नागचण्डेश्वर एवं वैजनाथ महादेव के मन्दिर अभी भी यहां आंशिक रूप में विद्यमान हैं। इसी मार्ग पर मुलतान का एक बड़ा कस्बा है। इस ग्राम में कतिपय परमारकालीन मूर्तियां उपलब्ध होने से यह निर्णय लेना अन्यथा न होगा कि यहां भी कोई न कोई मन्दिर विद्यमान रहा होगा।

झाबुआ : झाबुआ जिले में अलिराजपुर नामक कस्बे में प्रसिद्ध मलवाई मन्दिर है। यह मन्दिर वास्तुकला की दृष्टि से उत्तर-परमारकालीन परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है। इसका निर्माण १५वीं शताब्दी में होना माना गया है। अतः इसे प्रस्तुत अध्ययन की परिधि में नहीं लिया गया है। अलीराजपुर से ८ किलोमीटर पश्चिम में इन्दौर मार्ग पर लक्ष्मणी में एक विशाल परमारकालीन जैन मन्दिर के अवशेष बिखरे पड़े हैं।

पश्चिम निमाड़ : इस जिले का मुख्यालय खरगोन है। खरगोन से १३ किलोमीटर की दूरी पर मन्दिरों का नगर ऊन स्थित है। ऐसी अनुश्रुति है कि यहां १०० मन्दिर बनाये जाने थे, किन्तु एक मन्दिर बनने से रह गया, इस ऊनता (कमी) के कारण यह ग्राम ऊन कहलाया। ऊन वैसे ही मन्दिरों का नगर है जैसे कि उत्तरी भारत में खुजराहो, पूर्वी भारत में भुवनेश्वर तथा पश्चिम भारत में ओसिया नगर है। यहां के मन्दिर निःसन्देह परमारकालीन है तथा जैन एवं शैव धर्मों से सम्बन्धित हैं। यहां के आकर्षक चौवारा डेरा अध्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। परमारों के अतिरिक्त ऊन का सम्बन्ध बल्लाल नामक राजा से विशेष रूप से आया है। बल्लालेश्वर का मन्दिर स्थानीय रूप से उसके बारे में कही जाने वाली अनुश्रुतियों को पुष्ट करता है। अवन्ती राज्य के हैह्यों की प्रिय प्राचीन राजधानी माहिष्मती की वर्तमान पहचान के बारे में दो मत हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि ओंकारेश्वर के निकट मांधाता का नदी द्वीप ही माहिष्मती है। अधिकांश विद्वानों की धारणा महेश्वर के पक्ष में जाती है। १५वीं शताब्दी के एक लेख के अनुसार महेश्वर ही माहिष्मती है। महेश्वर एक उल्लेखनीय नगर है। वर्तमान में तहसील मुख्यालय है तथा नर्मदा किनारे स्थित है। मांधाता, ओंकारेश्वर और महेश्वर तीनों स्थल एक दूसरे से नाति-दूर है। तीनों ही स्थलों पर परमार मन्दिर वैभव अपनी छटा बिखेरता हुआ बहुत कुछ सुरक्षित रूप में दिखाई देता है। इस दृष्टि से ओंकारेश्वर का अमलेश्वर तथा मांधाता का सिद्धनाथ मन्दिर विशेष उल्लेखनीय हैं।

निमाड़ जिले का कसरावद नामक ग्राम एक लघु नगर ही है। कसरावद में मौर्यकालीन स्तूपों एवं विहारों का प्रमाण विगत वर्षों में किये गये उत्खनन एवं शोध से प्राप्त हुआ है। अत मौर्यकालीन वास्तुकला की दृष्टि से कसरावद का महत्त्व सहज ही बढ़ जाता है। पश्चिम निमाड़ में चार छोटे किन्तु प्रसिद्ध ग्राम हैं जो अपने परमारकालीन मन्दिरों के लिये ध्यान आकर्षित करते हैं। इन ग्रामों के नाम हैं :— पन्थेरा, चिखलदा, राजपुर एवं पलसूद। इन स्थानों पर यद्यपि स्थानीय जनता ने प्राचीन मन्दिरों का जीर्णोद्धार कर दिया है किन्तु मूल सामग्री के आधार पर प्रस्तुत अध्ययन को निश्चित ही बल प्राप्त हुआ है।

भोपाल : भोपाल जिले में तीन प्राचीन स्थल ध्यान आकर्षित करते हैं। इनके नाम हैं— डबरा, देववड़ला तथा बालाच्वान। प्रथम दो स्थलों पर बहुत सी परमारकालीन प्रतिमायें मिली हैं। साथ ही मन्दिर अवशेष भी। बालाच्वास में कई हिन्दू और जैन मन्दिर थे, जिनमें ब्रह्मा का परमारकालीन मन्दिर विशेष उल्लेखनीय है।

सीहोर : सीहोर जिले में अष्टा में मन्दिर वास्तुकला से सम्बन्धित कुछ परमारकालीन सामग्री प्राप्त हुई है। आष्टा का प्राचीन नाम आशापुरी था।

रायसेन : रायसेन जिले में खरवई नाम के स्थान में शैव मन्दिर के अवशेष विद्यमान हैं। इनका समय ८वीं से १०वीं शताब्दी माना गया है। समसतगढ़ में ११वीं से १३वीं शताब्दी के मध्य कुछ मन्दिर निर्मित किये गये थे। ये अब ध्वस्त हो चुके हैं। यहां की कुछ आकर्षक मूर्तियां भोपाल संग्रहालय में भेज दी गई हैं। रायसेन जिले में खरवई, आशापुरी, भोजपुर एवं वराहखेड़ी हमारे अध्ययन के केन्द्र रहे हैं। आशापुरी में १०वीं शताब्दी के शैव एव वैष्णव मन्दिरों के अवशेष मिले हैं। यहां से प्राप्त मूर्तियां बिड़ला संग्रहालय में भेज दी गई हैं। मूर्तियां इतनी अधिक चित्ताकर्षक हैं कि आशापुरी को हम पूर्वी मालवा का हिंगलाजगढ़ कह सकते हैं। निश्चित ही यहां के मन्दिर अत्यधिक भव्य एवं कलात्मक रहे होंगे।

भोजपुर कई दृष्टियों से ध्यानाकर्षण करने वाला एक जीवित धर्म स्थल है। यहां राजपूत कालीन बौद्ध स्तूपों का काफी बड़ा सिलसिला दिखाई देता है। भोजपुर में इस सिलसिले को शुंगकाल से अक्षुण्ण बनाये रखा। परमारकाल में यह स्थल राजा भोज का प्रिय रहा। इस कारण इसका नाम भोजपुर पड़ा। भोज ने कतिपय भव्य मन्दिर यहां निर्माण करवाये जिसमें भोजेश्वर का मन्दिर अभी भी पूजाक्रम को नियमित बनाये हुए हैं।

वराहखेड़ी नाम से ही ज्ञात होता है कि इस ग्राम में कभी विष्णु के वराह अवतार का मन्दिर रहा होगा। वैसे इस ग्राम में १०वीं शताब्दी के शैव तथा वैष्णव मन्दिरों के अवशेष प्राप्त हुए हैं। यहां का कला-वैभव आशापुरी की मूर्ति एवं वास्तुकला से स्पर्धा लेता दिखाई देता है।

राजगढ़ : राजगढ़ जिले में नरसिंहगढ़ के पास कोटरा नामक स्थान पर एक विहार है। यह विहार ५वीं शताब्दी का है। इसका निर्माण औलिकर नरेश नरवर्मन ने किया था। विहार के एक अभिलेख से यह स्पष्ट है। पचोर राजगढ़ जिले का एक तहसील मुख्यालय है। यहां से परमारकालीन जैन मन्दिरों की विद्यमानता के पुष्ट प्रमाण उपलब्ध हुए हैं। राजगढ़ जिले में ही स्थित कालीपीठ एवं सींका नामक ग्रामों से परमारकालीन मन्दिर अवशेष मिले हैं।

विदिशा : विदिशा जिले का मुख्यालय विदिशा है जो मध्य रेलवे के भोपाल झांसी अनुविभाग में एक महत्वपूर्ण स्टेशन है। उज्जैन की ही भांति विदिशा एक प्राचीन नगर है। उत्खनन से ४थी ५वीं शताब्दी ई० पू० की सामग्री यहां प्राप्त हुई है। पुराणों में भी विदिशा का उल्लेख हुआ है। मौर्यों के समय में विदिशा एक महत्वपूर्ण नगर बन गया था। अशोक की एक पत्नी श्रीदेवी विदिशा की ही एक श्रेष्ठी की कन्या थी। इसी से अशोक को महेन्द्र एवं संघमित्रा नामक संतति की प्राप्ति हुई थी। कालिदास का मालविकाग्निमित्रम् विदिशा को शुंगों की दूसरी राजधानी बताता है। विद्वानों की धारणा है कि शुंग लोग मूल रूप से यहीं के थे। शुंग राजा भागभद्र के समय में यूनानी राजदूत हेलियोडोर ने भागवत् धर्म स्वीकार किया था। उसने यहां एक विष्णु मन्दिर के सम्मुख एक स्तंभ पर इस घटना को उत्कीर्ण करवाया था। अभिलेखयुक्त स्तम्भ अभी भी बेसनगर में देखा जा सकता है। बेस-

नगर विदिशा का ही एक उपनगर रहा है। वैश्यों की नगरी होने से या निकट में वैस नामक नदी बहने से सम्भवतः यह नाम पड़ा होगा। वैसे भैल्ल स्वामी के विशाल सूर्य मन्दिर के कारण भी इस नगर को भैल्ल स्वामी-नगर अथवा भेलसा कहा गया। अभी हाल के उत्खनन में २री शताब्दी ई० पू० के मन्दिर के अवशेष भी यहां से प्राप्त हुए हैं। वेत्रवती नदी के किनारे बसा हुआ विदिशा कालिदास के पूर्व मेघ के अनुसार दशार्ण प्रदेश का एक महत्वपूर्ण केन्द्र था। बौद्धकाल से लेकर परमारकाल के अन्त तक वास्तु एव मूर्तिकारों की छीनी हथौड़ी यहां कभी भी बन्द नहीं हुई क्योंकि 'आकर' क्षेत्र होने से प्रस्तर-कारों के लिये यह एक आदर्श स्थल रहा। निकटवर्ती सांची में मौर्य और शुंगकाल में बौद्ध वास्तुकला का निर्माण, गुप्तकाल में उदयगिरि की गुफाओं का निर्माण, राजपूतकाल में भेल्लस्वामी के मन्दिर का निर्माण तथा परमारकाल में विजयामन्दिर का निर्माण विदिशा की वास्तु श्रेष्ठता के कुछ प्रतीक हैं। यदि उत्तर भारत की वास्तुकला से विदिशा हटा लिया जाय तो यह लगेगा कि भारतीय वास्तुकला के कुछ पृष्ठ खो गये हैं।

विदिशा के दक्षिण पश्चिम में लगभग ५ किलोमीटर दूरी पर सांची स्थित है। प्राप्त अभि-लेखों में इसे कोकनाद (काकणाय) क्षेत्र माना गया। जिस पहाड़ी पर बौद्ध निर्माण कार्य हुए उसका नाम वौटपर्वत रहा। झांसी में मौर्यकालीन स्तूपों से लेकर उत्तर-गुप्तकालीन मन्दिरों तक बौद्ध निर्माणों की महत्वपूर्ण परम्परा रही है। इस परम्परा की एक महत्वपूर्ण कड़ी वे तोरणद्वार हैं जिनकी निर्मिति शुंग सात-वाहन काल में हुई। इस प्रकार वहां ३री शताब्दी ई० पू० से ई० की १०वीं शताब्दी तक की कला के क्रमिक विकास के प्रमाण एक ही स्थान पर मिले हैं। विदिशा जिला प्रस्तुत अध्ययन की दृष्टि से अत्यधिक महत्व रखता है। सोनारी, सतधारा, अंधेर एवं ग्यारसपुर आदि स्थलों पर अनेक बौद्ध स्तूप निर्मित किये गये, जिनमें से कुछ अभी भी विद्यमान हैं। विदिशा के ३४ किलोमीटर उत्तर-पूर्व में स्थित ग्यारसपुर में प्रतिहार एवं परमारकालीन मन्दिर वास्तुकला के आकर्षक एवं महत्वपूर्ण अवशेष प्राप्त हुए हैं। वैसे मालादेवी का मन्दिर एवं वाजियामठ अपने आपको बहुत कुछ सुरक्षित रख पाये हैं। विदिशा से कुछ किलोमीटर दूरी पर कागपुर नामक ग्राम है। यहां ११वीं एवं १२वीं शताब्दी में कुछ कलात्मक मन्दिरों का निर्माण हुआ था। गंजबासोदा से १३ किलोमीटर की दूरी पर उदयपुर नामक ग्राम है यह ग्राम परमार राजा उदयादित्य ने बसाया था। साथ ही उसने यहां उदयसागर झील एवं भव्य नीलकण्ठेश्वर का मन्दिर निर्मित करवाये थे। नीलकण्ठेश्वर का मन्दिर अभी भी लगभग पूर्ण है। भारत के सुरक्षित बचे हुए प्राचीन मन्दिरों में यह मन्दिर अग्रिम पंक्ति में बैठता है। इस मन्दिर का समग्रता से अध्ययन वस्तुतः न्यूनाधिक रूप से परमार मन्दिर वास्तुकला का ही अध्ययन है। बड़ोह-पठारी ये दो ग्राम एक दूसरे से केवल ३ किलोमीटर की दूरी पर हैं। भोपाल झांसी रेल मार्ग पर कुल्हार स्टेशन से पठारी १५ किलोमीर और बड़ोह १८ किलोमीटर दूरी पर है। दोनों ग्राम अब बहुत छोटे हैं, किन्तु राजपूत काल में ये बड़े भव्य थे। बड़ोह पठारी परिसर में अनेक मन्दिरों का निर्माण करवाया गया। पठारी में तो मन्दिर निर्माण की परम्परा ५वीं शताब्दी से ही आरम्भ हो गई थी। वैसे इस परिसर के अधिकांश मन्दिर ८वीं से ११वीं शताब्दी तक के हैं। बड़ोह के मन्दिरों में गाडरमल मन्दिर, सोलहखम्भा, दशावतार मन्दिर, सतमढ़ी और जैन मन्दिर अध्ययन की दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं। पठारी में वैष्णव एवं शैव मत से सम्बन्धित मन्दिरों के अवशेष ध्यान आकर्षित करते हैं। इसी प्रकार बड़हर नामक स्थान पर आकर्षक

मन्दिर सामग्री मिली है, जो परमारकालीन है ।

मालवा क्षेत्र के सीमातं प्राचीन मन्दिर स्थल

जैसा कि विषय की प्रस्तावना में कहा गया है, प्रस्तुत अध्ययन के अन्तर्गत उन ग्रामों के विद्यमान प्राचीन मन्दिरों का अध्ययन भी किया जायगा जो आज के मालवा की सीमान्त पर स्थित हैं । ऐसा तीन कारणों से किया जा रहा है :—

(१) यह ग्राम अतीत में मालवा क्षेत्र के अन्तर्गत आते थे,

(२) मालवा के शासकों को इन ग्रामों में स्थित अधिकांश मन्दिरों के निर्माण का श्रेय जाता है, एवं

(३) इन ग्रामों के मन्दिरों का निर्माण लगभग उन्हीं शैलियों में हुआ जिन्हें कि समकालीन मालवा में अपने अंचल में अपनाया था ।

राजस्थान, मन्दसौर जिले से बिलकुल लगे हुए चित्तौड़ जिले के चित्तौड़ एवं मैनाल के प्राचीन मन्दिर, झालावाड़ जिले के गंगधार एवं झालरापाटन के मन्दिर तथा बासवाड़ा के पास अर्थुन के मन्दिर अवशेष हमारे अध्ययन की सीमा में है । प्रासंगिक रूप से शैलीगत वैशिष्ट्य बताने अथवा तुलनात्मक विवेचन की दृष्टि से ग्वालियर के सास बहू एवं तेली के मन्दिरों, मुरैना के सुहानिया एवं पढ़ावली के मन्दिरों, शिवपुरी जिले के महुआ, रानौद, सुरवाया तथा गुना के बजरंगगढ़, मामोन, चन्देरी, तेरही, तुमेन तथा कड़वाहा के मन्दिरों अथवा उनके अवशेषों को अध्ययन के अन्तर्गत लिया गया है ।

(ग) मालवा की भौगोलिक स्थिति का मन्दिर वास्तुकला पर प्रभाव

भूगोल का हर समय और हर देश के इतिहास पर भरपूर प्रभाव पड़ता रहा है । सहज है कि मनुष्य की हर गतिविधियों एवं क्रियाकलापों पर भौगोलिक परिस्थितियों ने प्रत्यक्ष प्रभाव डाला है । कला और स्थापत्य का क्षेत्र भी इससे अछूता नहीं रहा है । मालवा की प्राकृतिक संरचना, नदियों, पर्वतों तथा जलवायु ने मन्दिरों के निर्माण की नियति को बहुत कुछ तय किया है । मालवा का उत्तर-पश्चिम क्षेत्र, जहां अधिकांश रूप में मन्दसौर जिला है, दो विशिष्ट प्रकार की प्राकृतिक संरचना प्रस्तुत करता है । एक है मैदानी भाग जो काली मिट्टी से युक्त होने के कारण व उर्वरता की घनीभूतता के कारण भारी मात्रा में कपास, गेहूं, जुआर, गन्ना और अफीम उपजाता रहा है । परिणामस्वरूप एक ओर धार्मिक आस्था युक्त ग्रामीणजन उसी माटी ने पल्लवित किये हैं तथा दूसरी ओर उस भावुकता की भौतिक पूर्ति के लिये सम्पन्नता भी दी है । पठार का बहुत-सा भाग विन्ध्य की पहाड़ियों और इमारती पत्थरों से युक्त है । परिणामस्वरूप मन्दसौर जिले में बौद्धों ने अनेक गुफाओं का निर्माण करवाया तथा मैदानी जन ने गुप्त-औलिकर काल से परमारकाल तक निकटवर्ती प्रस्तरों की सहायता से अपनी अपनी बस्तियों को अपनी धार्मिक आस्था के अनुरूप विशिष्ट, कलात्मक एवं प्रयोगशील मन्दिरों से भर दिया । विदिशा की भांति इस क्षेत्र ने वास्तुकला की दृष्टि से कोई स्वतन्त्र कला का विकास नहीं किया था ।

अत: जब मन्दिरों का धड़ल्ले से निर्माण प्रारम्भ हुआ तो वास्तुकारों ने धरती की कला शैली को चारों ओर फैली हुई विभिन्न कला शैलियों से जोड़ना प्रारम्भ कर दिया। यही कारण है कि मन्दसौर जिले के मन्दिर एक ओर भुवनेश्वर, तो दूसरी ओर चालुक्य, तीसरी ओर औसिया, तो चौथी ओर स्थानीय परमार शैली से ताल-मेल बिठाते हुए अपनी लीक पर चलते हुए भी मन्दिर वास्तुकला में प्रयोग-धर्मिता का सुखद अध्याय खोलते हैं। मोड़ी, कंजाडां, कुकडेश्वर, कंवला, संघारा और केयुली के मन्दिर यही कहानी स्पष्ट कहते हैं।

इसके विपरीत उत्तर-पूर्वी पठार, जिसमें अधिकांशत: विदिशा जिला स्थित है, अपनी ऐतिहासिक प्राचीन रखने के कारण, अपनी स्वयं की वास्तुकला शैली का विकास कर पाया है। पहाड़ियों और प्रस्तरों की यहां भी कोई कमी नहीं रही। कृषि एवं व्यापार का प्रमुख केन्द्र होने से यहां प्रकृति ने सम्पन्नता को दोनों हाथों लुटाया है। खानों की अधिकता के कारण इस क्षेत्र को 'आकर' संज्ञा अकारण नहीं दी गई है। राजनैतिक महत्ता दो कारणों से इसे मिली :— प्रथम था मगध एवं उत्तर भारत से निकट सम्बन्ध तथा दूसरा था मालवा की क्षेत्रीय राजधानी के रूप में विकास। उत्तर और दक्षिण भारत के प्रमुख मार्गों से सदैव जुड़ा रहा। सच पूछा जाय तो मालवा का कोई नगर उत्तर और दक्षिण भारत के मध्य इतनी महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में कभी नहीं रहा जितना कि विदिशा रहा है। उज्जैन और माहिष्मती इस दृष्टि से बाद में है। यही कारण है कि मन्दिर निर्माण का सबसे प्रथम पुरातत्वीय प्रमाण सारे भारत में विदिशा प्रस्तुत करता है।

सांची, सोनारी, अन्धेर, सतधारा आदि के स्तूपों और तोरण द्वारों ने अपनी मौलिकता की छाप बौद्ध निर्मितियों के क्षेत्र में छोड़ी है। उदयगिरि के गुहाकारो ने गुहा मन्दिरों की दृष्टि से न तो उड़ीसा के उदयगिरि से प्रेरणा ली और न ही अजन्ता, एलोरा, कार्ले, और नासिक को अपना आदर्श बनाया। सच तो यह है कि उदयगिरि की गुफाएं एक विशिष्ट शैली में बनाये जाने वाले मन्दिरों का पूर्वाभ्यास थीं। दूसरे शब्दों में उदयगिरि की गुफा क्रं० १ के गर्भ में नागर शैली में निर्मिति नाचनाकुठार, देवगढ़ आदि गुप्तकालीन मन्दिरों के बीज छिपे थे।

मन्दिर निर्माण की दृष्टि से भोजपुर राजपूतकालीन कला को परमारकालीन मन्दिर वास्तुकला से जोड़ता है। दोनों ही समय के उल्लेखनीय मन्दिरों का निर्माण अत्यन्त व्यापकता व भव्यता से करने का श्रेय विदिशा जिला एवं उसके निकटवर्ती पठारी क्षेत्रों को उसकी भौगोलिक संरचना के कारण जाना जाता है। मध्य मालवा मैदानी इलाका है। इस कारण पूर्व एवं पश्चिम मालवा अंचलों की भांति यहां प्रस्तर सुलभ नहीं हो पाये। मालवा का यह केन्द्रीय भाग कृषि एवं व्यापारिक सम्पन्नता में निश्चित ही अद्वितीय था।

उज्जैन जैसे धार्मिक एवं सांस्कृतिक स्थल इसमें रहे। इस कारण मन्दिर निर्माण तो बहुत हुए किन्तु अधिकतर वे ईंटों और काष्ट से निर्मित रहे। इस कारण ये अधिक टिकाऊ न रह पाये। समय और अग्नि ने उन्हें मिटा दिया। प्रमाण देने को वेश्या टेकरी जैसे कुछ अवशेष बचे हैं। थोड़ी बहुत जो प्रस्तर निर्मितियां हुई, उन्हें विधर्मियों की हथौड़ियों का भरपूर सामना करना पड़ा।

नर्मदा घाटी निश्चित ही इस दृष्टि से भाग्यशाली रही है। नदी के आसपास का क्षेत्र उर्वर उच्चसम भूमि रहा है तथा कीमती इमारती लकड़ियों ने सदियों से सारे प्रान्तर को आच्छादित किया है। साथ ही यह आंचल उत्तर और दक्षिण भारत का भौगोलिक संधि-स्थल भी रहा है। अतः आश्चर्य नहीं होना चाहिये कि निमाड़ क्षेत्र में मन्दिर वास्तुकला की दृष्टि से माहिष्मती, ओंकारमांधाता तथा ऊन उभर कर सामने आये हैं। इस अंचल की अनुगूंज निकटवर्ती नेमावर में भी सुनायी दी है।

दो दृष्टियों से सारे विषय पर पुनर्विचार करना आवश्यक है। पहली दृष्टि मालवा की नदियों की ओर जाती है। प्राचीनकाल से नदी तट मानव सभ्यता का केन्द्र रहे हैं। इन्हीं तटों पर प्रागैतिहासिक मानव ने पशु पालन युग से कृषि युग में प्रवेश किया, आरम्भिक संस्कृतियों का निर्माण किया तथा सभ्यता के क्षेत्र में प्रवेश करते हुए व्यापारिक एवं राजकीय केन्द्रों तथा तीर्थस्थलों का विकास किया। धर्म के प्रति सहज आस्था के कारण तीनों ही स्थलों पर निजी एवं सार्वजनिक धार्मिक आस्थाओं की पूर्ति के लिये देवालयों एवं मन्दिरों का निर्माण आवश्यक हुआ। यही कारण है कि हम नर्मदा के किनारे नेमावर, माहिष्मती, ओंकारमांधाता को, क्षिप्रा के किनारे उज्जैन को शिवना के किनारे दशपुर को, चम्बल के किनारे रिंगनोद को, कालिसिंध के किनारे कायथा एवं गंगधार को तथा वेत्रवती के किनारे विदिशा को मन्दिरों के नगरों के रूप में पाते हैं।

दूसरी दृष्टि पर्वत श्रेणियों की ओर जाती है। इन श्रेणियों पर दो कारणों से धर्मस्थलों का विकास हुआ। प्रथम कारण यह था कि वैराग्यमय जीवन बिताने एवं एकान्त साधना के लिये वनाच्छादित पर्वतीय उपत्यकायें अधिक श्रेयकर थीं। द्वितीयतः प्रागैतिहासिक मानव ने अपना बहुत-सा प्रारंभिक जीवन शैलाश्रयों में बिताया था। बौद्धों ने उनसे प्रेरणा पाकर मानवकृत गुहाओं का निर्माण करवाया।

नदी किनारे के धर्मस्थल अनावश्यक भीड़ तथा बाढ़ के संकट से भी ग्रस्त रहते थे। इस कारण कालान्तर में नदी से दूर किन्तु बस्तियों से नाति-दूर पहाड़ियों पर मन्दिर समूह का निर्माण प्रारम्भ हुआ। पहाड़ियों और वनों ने इन निर्माताओं के लिये प्रस्तर एवं काष्ट सुलभ कर दिये। श्रद्धालुओं ने धन और बस्तियों ने वास्तुकार दिये। निवृत्ति विचारधारा वैसे भी ऐसे निर्माण की मूल में रही। परिणामस्वरूप नदियों से दूर जिस प्रकार भुवनेश्वर, खजुराहों, सिद्धपुर आदि स्थानों पर मन्दिर बनवाये गये, उसी प्रकार मालवा में भी ऊन, बड़ोह, ग्यारसपुर, उदयपुर, पठारी, मोड़ीपत्तन, हिंगलाजगढ़ आदि स्थानों पर मन्दिर तथा धमनार, पोलाडोंगर, खेजड़ियाभोप, खोलवी आदि स्थानों पर बौद्ध स्तूप, चैत्य अथवा विहार बनवाये गये। यदि नदी का किनारा भी लिया गया तो भी पर्वतीय उपत्यका या एकान्त को चुना गया। बाघ की गुफायें, कसरावद और सांची के स्तूप तथा उज्जैन की वैश्या टेकरी के निर्माण इसका प्रमाण हैं।

इस प्रकार मालवा भारत के मणिपूरक स्थल के रूप में उत्तर व दक्षिण के मध्य एक सन्धि स्थल रहा है। अन्य क्षेत्रों की भांति ही इसमें मन्दिर वास्तुकला क्षेत्र में भी उत्तर और दक्षिण के मूल्यों से निकट सम्पर्क और ग्रहणीयता रखते हुए भी अपनी मौलिकता को सदैव प्रस्फुटित किया है। उत्तर से उसमें नागर शैली के तत्व लिये हैं तथा दक्षिण से बाघ, धमनार, खोलवी आदि की गुफाओं

के निर्माण की प्रेरणा। किन्तु यह भूलना नहीं चाहिये कि उदयगिरि की गुफाओं के निर्माण की उसकी मौलिकता ने नागर शैली को बहुत कुछ दिया है। इसी प्रकार उसने राष्ट्रकूट-परमार-मौर्य काल में उत्तर और दक्षिण शैलियों के मध्य उल्लेखनीय सामंजस्य प्रस्तुत किया है। अन्ततः भूमिज शैली का विकास कर उसने सारे भारत की स्थापत्य कला पर अपना निर्णायक प्रभाव डाला है।

लगभग यही बातें अन्तर्मन में उठने वाले इस प्रश्न को भी हल कर देती हैं कि मालवा में इतने अधिक मन्दिर क्यों बने? जहां प्रकृति ने अपने सदाबहार वरद्हस्त को सदैव उदारतापूर्वक उठाये रखा हो, जहां अन्न और धन की कभी कमी अनुभव न की गयी हो जहां जन-आस्था का झुकाव धर्म और दर्शन के प्रति सदैव रहा हो, जहां भारत प्रसिद्ध पुण्य-सलिलाओं के अंचल में तीर्थों का पल्लवन हुआ हो, जहां कृषि और उद्योग समन्वित रूप से विकसित हुए हों, जहां उत्तर और दक्षिण भारत शिल्प और भावना की दृष्टि से एकाकार हुए हों, जहां आम जनता, श्रेष्ठि वर्ग और परमार राजा मुंज तथा भोज जैसे उदार, प्रतापी, आश्रयदाता राजा हुए हों एवं जहां राज्य ने निर्माण कार्यों को भरपूर संरक्षण दिया हो ओर जहां वास्तु के निर्माण साधन एवं शिल्पी सर्वत्र विद्यमान हो, तो भारी मात्रा एवं उच्च-स्तर के मन्दिरों और धार्मिक निर्माणों की विद्यमानता सहज है।

२ मन्दिर वास्तुकला का विश्लेषण

(क) मन्दिर का अर्थ, परिभाषा व क्षेत्र

प्रस्तुत प्रबन्ध के अन्तर्गत प्राचीन मालवा के मन्दिर वास्तुकला का अध्ययन अभीष्ट है। अत: सहज ही प्रश्न उठता है कि मन्दिर क्या है और उसके अन्तर्गत हमें क्या अध्ययन करना है? सबसे पहले मन्दिर की भाषागत व्युत्पत्ति को देखना उचित होगा। एक विद्वान् के अनुसार मन्दिर की व्युत्पत्ति इस प्रकार है :—

मंद्यतेऽत्र मंद किरच्

इसका तात्पर्य यह हुआ कि किसी आवास, गृह, या वास्-स्थान को मन्दिर कहा गया। 'मंद' शब्द से मन्दिर की उत्पत्ति मानी गयी है। 'मंद' वाङ्मय में एक विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है और उसका अर्थ प्रसन्न होना, आनन्द मनाना, चमकना वा सोना माना गया है। मंद से ही 'मंन्दर' या 'मंदार' आदि शब्द भी व्युत्पन्न हुए। 'मंदर' से तात्पर्य पर्वत या पर्वत का देवता माना गया है। 'मंदार' शब्द कल्पवृक्ष के लिये प्रयोग हुआ है।

इतना होने पर भी संस्कृत वाङ्मय में मन्दिर शब्द अधिक प्राचीन नहीं है। न ही पूजा-गृहों के लिये प्राचीन भारत में बहुत समय तक मन्दिर शब्द का प्रयोग हुआ।

महाकाव्य, सूत्र ग्रन्थों तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मन्दिर की अपेक्षा देवालय, देवायतन, देवकुल, देवगृह आदि शब्दों का प्रयोग हुआ। वास्तुशास्त्रों में प्रासाद शब्द को मन्दिरों के अर्थ में उत्तर-भारत में गृहण किया गया और गुप्त अभिलेख भी इसी शब्द का प्रयोग करते हैं। विदिशा के कुछ अभिलेखों में भी 'प्रासाद' का मन्दिर के अर्थ में प्रयोग हुआ है। दक्षिण भारत में मन्दिरों को अधिकांशत: विमान या हर्म्य तथा कभी-कभी प्रासाद कहा गया। हर्म्य शब्द वेदों में भी आया है किन्तु लगता है उसका प्रयोग निवास-स्थल या किले के रूप में हुआ है।[1] (ऋग्वेद में 'हर्म्य' शब्द का प्रयोग १२ वार

---

१. ऋग्वेद ५,३२।५; ७,५५।६; ९,७१।४.

हुआ है ।) शांखायन श्रोत सूत्र में प्रासाद को दीवारों, छत, खिड़कियों से युक्त कहा गया है ।[१] महाकाव्यों[२] में भी प्रासाद, हर्म्य, विमान, सौध आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है किन्तु यह कहना कठिन है कि इनका प्रयोग मन्दिरों के लिये किया गया ।

बुद्धघोष और विनयपिटक प्रासाद और हर्म्य में अन्तर बताते हैं ।[३] इस अन्तर की जानकारी शिल्प ग्रन्थों को भी रही है ।. मयमतम् नामक दक्षिण भारतीय वास्तु ग्रन्थ स्पष्ट ही प्रासाद को हर्म्य, शाला, सभा अथवा गोपुरम से भिन्न मानता है ।[४] भोज का समरांगण सूत्रधार किसी मकान की ऊपरी मंजिल को ही हर्म्य मानता है ।[५] इतना होने पर भी शिल्पग्रन्थों ने धीरे-धीरे प्रासाद, हर्म्य या विमान शब्दों को एक दूसरे का पर्याय मानना प्रारम्भ कर दिया था । अतः यह निष्कर्ष निकालना उचित ही है कि बहुत लम्बे समय तक भारत में धार्मिक निर्माणों के लिये मन्दिर शब्द का प्रयोग नहीं हो पाया था । उपर्युक्त उल्लिखित शब्दों में से कोई न कोई शब्द मुख्य या गौण अर्थ में मन्दिर के स्थान पर प्रयुक्त होता रहा ।

स्वयं मन्दिर शब्द भी आवश्यक रूप से धार्मिक देवस्थान के रूप में प्रयुक्त नहीं होता रहा । निवास स्थान या पर्वतीय कंदरायें भी मन्दिर कहलाते रहे । इस दृष्टि से विश्वकर्माप्रकाश नामक ग्रन्थ में भी दी गई मन्दिर की परिभाषा प्रस्तर के बने हुए निवास के रूप में की गई है ।[६] बाणभट्ट की कादम्बरी में भी मन्दिर शब्द प्रयुक्त हुआ है ;[७] किन्तु यह कहना कठिन है कि यह उस रूप में हुआ है कि जिस रूप में हम उसे वर्तमान में ग्रहण करते हैं ।

इस प्रकार प्राचीन भारत में देवालय, देवस्थान, प्रासाद, हर्म्य, विमान आदि शब्द मन्दिर का पर्याय रहे । जहां तक पाश्चात्य जगत का प्रश्न है, मन्दिर का अंग्रेजी पर्याय (टेम्पल) है । यह शब्द लेटिन के टेम्पलम् शब्द से व्युत्पन्न हुआ है । मूल रूप से इस शब्द का अर्थ आयाताकार देवालय के लिये हुआ है ।[८] रस्किन ने स्थापत्य के वर्गीकरण करते हुए स्थापत्य के भाग को भक्तिपरक बताते हुए टेम्पल की परिभाषा ऐसे भवन के रूप में की है जहां पूजा कार्य सम्पन्न किये जाते हों ।[९]

मन्दिर की इस पाश्चात्य मान्यता के आधार पर कई पाश्चात्य विद्वानों ने मन्दिर के लिये

---

१. शांखायन श्रोत सूत्र, १६. १८।१३-१७.
२. रामायण, ५।१५, ६।३६, ५।४३; महाभारत, १।२०७, १।१८४. १६, १।१२८.४१.
३. के० इं० आ०, पृ० २६६.
४. मयमतम्, २४।८२.
५. स० सू०, १३।१०.
६. विश्वकर्मा प्रकाश, ४।१३.
७. के० इं० आ०, पृ० २६५.
८. हेस्टिग्ज जेम्स, इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड इथिक्स, व्हा० १२, पृ० २३६-३७.
९. के० इ० आ०, पृ० २२४.

देवालय या देवायतन शब्द को पर्याप्त मान लिया है और यह कहा है कि जिस गृह में देवता की मूर्ति पूजा के लिये स्थापित की गई हो उसे मन्दिर कहा जाना उचित है।[1]

इस मान्यता का दृढ़तापूर्वक खण्डन करते हुए कहा गया है कि मन्दिर की भारतीय धारणा वस्तुतः मन्दिर को किसी देवता का निवास न मानते हुए उसे ही स्वयं देवता मानती है। इसके अनुसार मन्दिर देवता का शरीर और उसमें मनरूपी अमूर्त देवता एकांतिक चिन्तन और मनन के लिये विद्यमान होता है। गर्भगृह में जो श्रीवत्स होता है वह तो उस अमूर्त देवता का प्रतीक मात्र ही होता है। इस बात के समर्थन में यह तर्क दिया गया है कि मन्दिर का लगभग वही स्वरूप रहा है जो मानव देह का रहा है।[2] इस निर्माण के पीछे कलाविदों का यह विचार है कि जो परमात्मा मनुष्य के शरीर में है और सूक्ष्म रूप से विराजमान है, देवालयों में उसी की प्राणप्रतिष्ठा होती है। उस अमूर्त परमात्मा को कलाकारों ने अनेक सौंदर्यात्मक, कलात्मक एवं धार्मिक रूप देकर मूर्ति के बहाने एक प्रतीक के रूप में गर्भगृह में रखा।

ऐसी स्थिति में मन्दिर अवयवीय पवित्र न होकर अपनी समग्रता में ही पवित्र होता है। यही कारण है कि प्रदक्षिणा केवल गर्भगृह या श्रीवत्स की न होकर सम्पूर्ण मन्दिर की की जाती है। मानव शरीर के रूप में मन्दिर की परिकल्पना हय-शीर्ष पांचशत्र नामक ग्रन्थ में आयी है। हरिभक्ति विलास नामक ग्रन्थ में इस हस्तलिखित प्रति के अनेक अंश प्रकाशित हुए हैं।[3] जिस चबूतरे पर मन्दिर का निर्माण आरम्भ होता है, उसे पाद कहा जाता है। उसके ऊपरी भाग पैर तथा जांघ के द्योतक है। जहां से मन्दिर का भीतरी भाग दिखाई देता है वहां कटि स्थित है। भीतरी भाग पेट का रूप उपस्थित करता है। छत के ऊपर छाती और स्कन्ध विद्यमान होते हैं। मन्दिर के शीर्ष भाग को शीर्ष एवं शिखर माना जाता है।

सर्वतत्वमयी यस्मात् प्रासादो भास्करी तनुः।
तद् यथावस्थितं कथयामि निबोधत।
पायुसस्थौ प्रणाली द्वौ नेत्रो ज्ञेयौ गवाक्षकौ।
सुधा भुग्न (?.........) पिनीत्रेया स (व) क्षो मञ्जरीकोर्द्धतः॥

जङ्घा जङ्घातु विज्ञेया वरण्डी वसना मता।
शुकाघ्रातु भवेन्नासा सूत्राणि विशेषतः॥
गर्भः स्थिरत्वे विज्ञेयो यो मुखं द्वारं प्रकीर्त्तितं।
कपाटौ·ष्टपुपुटौ ज्ञेयो प्रतिमाजीवमुच्यते॥

---

१. के० इ० आ०, पृ० २२४.
२. के० इ० आ०, पृ० २२४.
३. हरिभक्ति विलास, १९।१९७.

स्कन्धस्तु वेदी गदिता कण्ठं कण्ठमिहोच्यते ।
शिरोमालास्थितं ज्ञेयं ....चून संस्थितं ।
एवमेष रविः साक्षात् प्रासादस्थेन संस्थितः ।
जगती पिण्डिका ज्ञेया प्रासादो भास्करस्मृतः ।[1]

समस्त मन्दिर को ही देवत्व प्रदान करने की धारणा को अग्निपुराण[2] अधिक अमूर्तता, प्रतीकात्मकता एवं गम्भीरता से उठाता है। शिव केवल गर्भगृह का देवता ही नहीं अपितु सारा मन्दिर ही शिवत्व लिये हुए है। यह इस बात का प्रतीक है कि पिण्ड ही ब्रह्माण्ड है और ब्रह्माण्ड ही पिण्ड है। मन्दिर की पीठ ब्रह्माण्ड है जिसमें भूमि, पाताल, नरक एवं लोकपाल सम्मिलित हैं। जंघा पंचभूत है, मंजरी और वेदिका चार विद्याएं हैं, कण्ठ रुद्र सहित माया है; अमलसार विद्या है, कलश बिन्दु एव विद्येश्वर सहित ईश्वर है। शूल अर्धचन्द्र और तीन शक्तियां हैं, दण्ड नाद है तथा ध्वज कुण्डलिनी शक्ति है।

---

१. हयशीर्ष पांचरात्र, ३६, वी० आर० एस० पाण्डुलिपि.

२. प्रासादं वासदेवस्य मूर्त्तिभर्द निबोध मे ।
धारनाद्धरणीम् विद्धि आकाशं शुषिरात्मकम् ।

तेजस्तत् पावकं विद्धि वायुं स्पर्शगतं तथा ।
पाषाणादिष्वेव जलं पार्थिवं पृथिवीगुणम् ।।

प्रतिशब्दोद्भवं शब्दं स्पर्शं स्यात् कर्कशादिकम् ।
शुक्लादिकं भवेद्रुपं रसमन्नादिदर्शनम् ।।

धूपादिगन्धं गन्धन्तु वाग्मेर्य्यादिपु संस्थिता ।
शुकनासाश्रिता नासा बाहू तद्रथकौ स्मृतौ ।।

शिरस्त्वण्डं निगदितं कलसं मूर्द्धजं स्मृतम् ।
कण्ठं कण्ठमिति ज्ञेयं स्कन्धं वेदी निगद्यते ।।

पायुपस्थे प्रणाले तु त्वक् सुधा परिकीर्त्तिता ।
मुखं द्वारं भवेदस्य प्रतिमा जीव उच्यते ।।

तच्छक्ति पिण्डिकाम् विद्धि प्रकृति च तदाकृतिम् ।
निश्चलत्वञ्च गर्भोऽस्या अधिष्ठाता तु केशवः ।।

एवमेष हरिः साक्षात् प्रासादत्वेन संस्थितः ।
जङ्घा त्वस्य शिवो ज्ञेयः स्कन्धे धाता व्यवस्थितः ।।

ऊर्द्धभागे स्थितो विष्णुरेवं तस्य स्थितस्य हि ।

अग्निपुराण, ६१।१६-२७.

फर्ग्यूसन ने मन्दिरों के बाहर से अत्याधिक सज्जित होने तथा भीतर से सादे होने की आलोचना की है और कहा है कि यह अत्यधिक अलंकरणीयता अनावश्यक व्यय है। इस व्यय को यदि करना ही था तो मन्दिर का भीतरी भाग सजाना था। फर्ग्यूसन ने धर्म, कला और सौंदर्य बोध को अनावश्यक व्यय मानकर भूल की है। अग्निपुराण के सन्दर्भ को यदि वे देख लेते तो समझ जाते कि शरीर को ही सजाया जाता है, अमूर्त आत्मा तो अलंकारविहीन ही होती है।

मन्दिर के अर्थ एवं उसके भाषागत उपभोग के बारे में अधिक विवेचना करना अथवा उस सम्बन्धी विवाद में पड़ना अमारा अभीष्ट नहीं है। उपर्युक्त वर्णन केवल इस दृष्टि से किया गया है कि प्रस्तुत अध्ययन के लिये मन्दिर शब्द की मूल आत्मा और उसके क्षेत्र को टटोला जा सके।

निष्कर्ष के रूप में मन्दिर को दो अर्थों में ग्रहण किया जा सकता है :— व्यापक एवं संकुचित।

व्यापक : व्यापक अर्थ में मन्दिर के अन्तर्गत वे सभी धार्मिक निर्माण लिये जा सकते हैं जहां पूजा और उपासना होती हो। इस दृष्टि से स्तूप, चैत्य, एवं देवालय इन सभी का अध्ययन मन्दिर के अन्तर्गत आ जाता है। कहीं-कहीं विहारों में भी धार्मिक चर्चाएं, गोष्ठियां एव पूजन होते थे। स्तूपों के सामने एवं मन्दिरों के प्रांगणों में पवित्र स्तम्भ खड़े किये जाते थे। सहज है व्यापक अर्थ में ये भी, चाहे प्रासंगिक रूप में ही क्यों न हो, मन्दिर के अन्तर्गत आ जाते हैं।

संकुचित : संकुचित अर्थ में मन्दिर के अन्तर्गत स्तूपों, चैत्यों, विहारों, मठों एवं स्तम्भों को सम्मिलित नहीं किया जा सकता। आज नितान्त सामान्य अर्थ में मन्दिर से आशय वे निर्माण हैं जहां पूजा एवं उपासना की दृष्टि से देवी-देवताओं अथवा तीर्थंकरों की मूर्तियां प्रतिस्थापित की जाती हों, किन्तु हमारा सम्बन्ध प्राचीन मालवा के मन्दिर वास्तुकला से है। प्राचीन काल में मन्दिर शब्द उक्त उल्लेखित संकुचित अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता था, साथ ही ऐसा कोई दृढ़ मूल-आधार नहीं है, जिसके कारण मन्दिर शब्द को संकुचित जामा पहनाया जा सके। इस दृष्टि से प्रस्तुत प्रबन्ध में मन्दिर शब्द को इसके व्यापक अर्थ में ही ग्रहण किया गया है।

(ख) मन्दिरों की उपादेयता और महत्व

भारत में संस्कृति और सभ्यता ने जैसे ही होश सम्भाला, धार्मिक चेतना आध्यात्मिकता को लेकर उदित हुई। इस चेतना ने ब्रह्म को दो रूपों में देखना प्रारम्भ किया। उसका प्रथम स्वरूप निराकार था, जिसमें ब्रह्म को निर्गुण, निर्विशेष, इन्द्रियातीत, अद्वैत एवं अवाङ्मनसगोचर माना था। जिन दर्शनों ने उसकी सत्ता में विश्वास नहीं किया, वे भी आत्म तत्व के रूप में किसी अविकारी, अज, नित्य एवं अमायोपाधिक सत्ता को स्वीकारते रहे।

दूसरा स्वरूप उसका सगुण साकार स्वरूप था। यह ब्रह्म का सविशेष एवं मायोपाधिक स्वरूप था। इस स्वरूप को अवतारवाद की परिकल्पना से जोड़ा गया। निराकार की प्राप्ति में यह साकार स्वरूप एक महत्वपूर्ण सौपान माना गया। यह दार्शनिक मान्यता धीरे-धीरे जब अधिक घनीभूत हुई तो ब्रह्म के प्रतीक के

रूप में विभिन्न देवी-देवताओं की कल्पना की जाने लगी। इन कल्पनाओं के आधार पर मनुष्य ने ब्रह्म की विभिन्न शक्तियों अथवा अवतारों को भौतिक आवरण देना प्रारम्भ किया। प्रवृत्तिमार्गी धार्मिक मान्यताओं ने इस दृष्टि से बड़े तेज कदम उठाये। परिणामस्वरूप देवी आराध्यों के प्रतीक सामने आये। ये प्रतीक कला और सौन्दर्य बोध से जुड़ते हुए कालान्तर में मन्दिरों और मूर्तियों के रूप में प्रकट हुए। मूर्तियां यदि ब्रह्म की देवी शक्तियां थीं, तो मन्दिर उसका शरीर। गर्भगृह का देवता उसका प्रतीक था। इन मन्दिरों में बैठकर साधकों एवं उपासकों ने किसी न किसी रूप में सगुण-साकार सविशेष के माध्यम से निर्गुण-निराकार निर्विशेष को पाने का उपकरण किया। इस प्रकार मन्दिर अपने सबसे उदात्त रूप में वे माध्यम सिद्ध हुए जिनके द्वारा मूर्त से अमूर्त एवं भौतिकता से आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख होने का उपक्रम किया जा सकता था।

द्वितीयतः मन्दिर न केवल साध्य थे अपितु साधन भी थे। वे स्वयं में देवत्व की प्राप्ति के लिये साधना, उपासना, श्रद्धा, पूजा, चिन्तन, मनन, भक्ति एवं निदिध्यासन के भरपूर साधन बने।

मन्दिर लघु एवं दीर्घ तथा निजी एवं सार्वजनिक दोनों ही रूपों में सामने आये। निजी एवं लघु मन्दिरों का अधिकांश सम्बन्ध व्यक्तिनिष्ट धर्म से रहा। अधिक से अधिक उसमें व्यष्टि के साथ समान धर्मी परिजन अथवा पड़ौसी भी सम्मिलित होते रहे किन्तु विशाल एवं सार्वजनिक मन्दिरों ने धर्म के व्यापक स्वरूप को जहां एक ओर पल्लवित किया, वहां लोक-जीवन, लोक-आस्था एवं लोक-धर्म को अपने उदात्त दार्शनिक स्वरूपों के साथ प्रकट भी किया।

मन्दिर का यह सूक्ष्म महत्व था, किन्तु अनेक दृष्टियों से मन्दिर एवं उनके सम्बन्धित मण्डप अथवा परिसर अन्य कई प्रकार से बड़ी उपादेयता रखते रहे। वासुदेव उपाध्याय ने मन्दिर की उपादेयता का उल्लेख इस प्रकार किया है[1] :—

"हिन्दू धर्म में मन्दिर का निर्माण, पारलौकिक कार्य को ध्यान में रखकर किया जाता है। भक्त इष्टदेव की पुकार सुनने वहां एकत्रित होते हैं। अतएव, गर्भगृह के बाद ऐसे मण्डप की आवश्यकता हुई, जहां भक्तजन आराधना कर सकें एवं उपदेश सुन सकें। ऐसे मण्डप के निर्माण से निम्नलिखित कार्यों में भी सहायता मिली :—

(१) विद्वत् परिषद—इन स्थानों पर विद्वजन एकत्रित होकर सामाजिक तथा धार्मिक विषयों पर विवेचन एवं शास्त्रार्थ कर तत्वबोध का पता लगाते थे।

(२) व्यासकथा का स्थान—धार्मिक प्रवचनों के लिये मन्दिर स्थल को चुना जाता था क्योंकि वहां का वातावरण धार्मिक तो था ही, जनसाधारण इष्टदेव के सामने एकत्रित होकर शान्तचित्त से व्यास द्वारा कथित कथाओं का श्रवण करते रहे।

(३) शिक्षा का स्थान—मन्दिरों में शिक्षा की भी व्यवस्था थी। धनीमानी व्यक्ति मन्दिर का निर्माण करवाते और धर्मग्रन्थों के पठन पाठन की व्यवस्था भी करवाते था। उसके अनुकरण पर इस्लाम के

---

१. प्रा० भा० स्तू० गु० म०, पृ० २०१-२०२.

मकतब, मस्जिदों में स्थिर किये गये । गिरजाघरों में पादरी बाइबिल पढ़ाता है । उनकी संख्या बढ़ने पर शिक्षा संस्थाएं समीप में तैयार हुई और समीपस्थ गिरजाघर प्रार्थना के लिये सुरक्षित रखे गये ।

(४) राजाओं के जन-सम्मेलन के स्थान—शासकों के सम्मुख प्रजाजन द्वारा कष्टों का वर्णन करना तथा निराकरण के मार्ग ढूंढने की प्रथा भी प्राचीन युग में प्रचलित थी । उस कार्य के लिये मन्दिर का मण्डप ही समुचित स्थान था । यहां देवता के सामने राजा जनता को सुख पहुंचाने, सुधार लाने तथा नवीन योजना के सम्बन्ध में वार्ता करता था ।

(५) राजसभा का अधिवेशन स्थल—मन्दिरों को मण्डप में राज-सदस्य एकत्रिक होकर शासन सम्बन्धी विषयों पर चर्चा करते थे । आज भी पंचायतें मन्दिरों के प्रांगण में बैठकें आयोजित करती हैं तथा अनेक विषणें पर निर्णय भी लेती हैं ।"

वासुदेव उपाध्याय ने अपने इन निरीक्षणों के साक्ष्य में कोई निश्चित प्रमाण प्रस्तुत नहीं किये हैं । ऐसा उन्होंने सोद्देश्य किया होगा, ऐसा लगता है । मन्दिर और उसके अन्तर्हित क्रिया-कलापों की जिन्हें अल्प जानकारी है, वह उन निष्कर्षों से असहमत न होगा ।

देखा जा चुका है कि मन्दिर न केवल देवगृह थे, अपितु स्वयं देवस्वरूप भी थे । धार्मिक स्थानों पर शासक वर्ग एकत्रित होता रहा । इस अवसर पर शासकगण अनेक धार्मिक एवं जनहितकारी कार्यों की घोषणा करते रहे । अपने जूनागढ़ अभिलेख में स्कन्दगुप्त ने मन्दिर निर्माण के ही साथ बांध के पुनर्निर्माण की भी घोषणा की ।[1] हर्ष तो प्रयाग या कन्नौज में धार्मिक कार्यों के निमित्त भारी राशि व्यय करता था ।[2] अशोक ने लुम्बिनी की यात्रा कर वहां के निवासियों से लिये जाने वाले करों में सुविधा दी थी ।[3] मालवा के ही अनेक मन्दिर अभिलेखों में शासकवर्ग अथवा धनीवर्ग द्वारा कूप, वापी, तड़ाग आदि की [illegible] नीवि की उद्घोषणा अथवा भूमि-दान आदि की चर्चा की गई है ।

धार की भोजशाला इस बात का प्रमाण है कि मन्दिर अथवा धर्मदर्शनों का प्रयोग शिक्षा संस्थानों के रूप में भी होता था । इसी प्रकार मन्दिर के सभामण्डपों का आविष्कार भजन, कीर्तन, नृत्य, संगीत आदि के लिये होता रहा । उड़ीसा के मन्दिरों के नट-मण्डप तो इन कार्यों के लिये सुरक्षित रहते थे । देवदासी पद्धति द्वारा मन्दिरों के साथ इन सांस्कृतिक गतिविधियों की अनिवार्यता सिद्ध होती है । मण्डप नाम ही इस बात का प्रमाण है कि इसके नीचे यज्ञ, सभा, सार्वजनिक कार्य, विवाह संस्कार, धर्मग्रन्थ वाचन, सत्संग, भजन, पूजन आदि होते थे । इन धार्मिक एवं सामाजिक आवश्यकताओं के कारण मण्डप अस्तित्व में आये । कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि मन्दिर अपनी परिपूर्णता में न केवल एक पूजा का धार्मिक स्थल था, किन्तु अनेक निजी एवं सार्वजनिक सांस्कृतिक एवं सामाजिक कार्यों का सम्पादन कर्ता भी रहा है ।

---

१. मा० ध्रू० ए०, पृ० २४०.
२. मुकर्जी आर० सी० : हर्ष, पृ० १४४-४६.
३. अग्रवाल आर० सी० : प्राचीन व मध्यकालीन भारत का सांस्कृतिक व राजनैतिक इतिहास, पृ० २९८.

(ग) भारत में मन्दिरों के विकास की समीक्षा

भारत में मन्दिरों के विकास का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों में करना उचित होगा :—

(i) मन्दिरों के उद्भव के सिद्धान्त,

(ii) मन्दिर शिखरों का विकास, एवं

(iii) मन्दिर विकास का ऐतिहासिक सर्वेक्षण।

(i) मन्दिरों के उद्भव के सिद्धान्त :— मन्दिर के उद्भव के प्रश्न को लेकर पुराविदों एवं कला समीक्षकों ने कई मत प्रकट किये हैं। संक्षेप में यहां इन्हें प्रस्तुत करना अन्यथा न होगा।

(१) मूर्ति पूजा से मन्दिर उत्पत्ति का सिद्धान्त—यह मत प्रकट किया गया है कि मन्दिर तभी सामने आये जब कि मूर्ति पूजा प्रारम्भ हुई। मन्दिरों के प्राचीन नाम देवकुल, देवगृह, देव-प्रासाद अथवा देवायतन रहे हैं, जो यह स्पष्ट करते हैं कि जिस वस्तु में किसी न किसी देवता की मूर्ति स्थापित होती थी, वह मन्दिर होता था।[1] जिस प्रकार के स्थान निवास के लिये प्रयुक्त होते थे, उसी प्रकार के स्थानों में देवता प्रतिस्थापित किये गये, क्योंकि भारतीयों ने सदैव ही मूर्तियों को देवता का प्रतीक माना है और अपने देव प्रतीकों को वे उत्तमोत्तम निवासों में प्रतिस्थापित अवश्य करते रहे होंगे।

इस मत को मानने में यह बाध्यता है कि प्रत्येक मूर्ति के लिये एक वास्तु आवश्यक है, जब कि ऐसी बाध्यता का कोई प्रमाण हमें नहीं मिलता। सभी आदिम जातियां अपने देवी-देवताओं को वृक्षों, चट्टानों तथा चबूतरों पर रखती रहीं। यहां तक कि प्राचीन सभ्यता में सर्वाग्रणी सैंधव सभ्य.ा के जन मूर्तियों के निर्माता तो थे किन्तु अभी तक एक भी ऐसा निश्चित प्रमाण नहीं मिल पाया है जि.से पूरी तरह निश्चय हो सके कि इस सभ्यता के नगरों एवं ग्रामों में किसी मन्दिर का निर्माण करवाया गया।

(२) विदेशी मन्दिर उत्पत्ति का सिद्धान्त—हवेल[2] ने मत प्रकट कि.ा है कि भारत में मन्दिर वनने के पूर्व सम्भवतया आर्यों ने मेसोपोटामिया में कोर्णीय शिखरों से युक्त मन्दिर बनवाये। लेयार्ड द्वारा निनेवा (Nieveh) में सेना शेरीव (Senn-a-Cherib) के बनाये हुए आठवीं शताब्दी ई० पू० के एक मन्दिर का पता चला है। इसमें शिखर, शंकु व गुबंद थे। अभी अभी २००० ई० पू० का इसी प्रकार का एक और भी मन्दिर यूफ्रेटिस की तराई में मिला है जिससे यह रोचक तथ्य पता लगता है कि मित्तानी आर्य वैदिक देवताओं के सांथ साथ ईश्वर अथवा अशतोरोथ जैसे असुर देवताओं को भी पूजते थे। २७५० ई० पू० की असुर शासक नरर्मा.न की जो सील मिली है, उससे आभास होता है कि उस समय निर्माणों पर ऊंचे शिखर बनाने की परम्परा थी। अतः हवेल या धारणा प्रकट करते हैं कि मन्दिर निर्माण की यह पद्धति आर्य लोग अपने साथ विदेशों से लाये।[3]

---

१. वौधायन गृहसूत्र, ३।३. ६.३; ३।२. १३.१६; आपस्तंभ गृह्यसूत्र, ७।२०.

२. हवेल इ० बी० : इंडियन आर्किटेक्चर थ्रू एजेस, पृ० ५८-५६.

३. वही, पृ० ६०.

हवेल द्वारा प्रस्तुत प्रमाण निश्चित ही चौकाने वाले तथा पुष्ट पुरातत्वीय प्रमाणों पर आधारित हैं किन्तु सिद्धान्त में यह कहीं नहीं बताया गया है कि मेसोपोटामिया में मन्दिरों का उद्भव कैसे हुआ ?

इसी प्रकार यह भी प्रमाणित नहीं होता कि मेसोपोटामिया के मन्दिरों ने भारत की ओर यात्रा की। कालमान की दृष्टि से भी यह मत इसलिये लड़खड़ा जाता है कि मेसोपोटामिया के मन्दिरों और भारत के उस प्रकार के मन्दिरों के मध्य कई शताब्दियों का अन्तराल है।

निर्माण कला की दृष्टि से भी विदेशी और भारतीय मन्दिरों की वास्तुकला में पर्याप्त अन्तर रहा है। जहां विदेशी वास्तु में मेहराबों, तहखानों, वितानों आदि के निर्माण में विभिन्न प्रस्तरखण्डों को मसाले से जोड़ते हुए गतिपूर्ण शक्ति सिद्धान्त के सहयोग का सन्तुलन किया गया था, वहां भारतीय कारीगरों ने इस तकनीकी एवं वैज्ञानिक प्रगति से पृथक् अपनी पारम्परिक वास्तुकला तकनीक का प्रयोग किया था। उनकी इस तकनीक में गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्तों का भरपूर प्रयोग करते हुए आड़े शिलाखण्डों का वजन खड़े भारी शिलाखंडों पर डालकर सारे वजन को धरती में उतार दिया जाता था। इस कारण निर्माण मसालों से विहीन एवं शुष्क होता था। विदेशी यांत्रिकी एवं गतिशील वैज्ञानिक पद्धति को स्वीकार करने की अपेक्षा भारतीयों ने एक उदात्त सुन्दर एवं कलात्मक वास्तुकला का विकास किया।[1] इन आधारों पर विदेशी शिल्प आयात का सिद्धान्त मन्दिर उद्भव के मामले में सहयोगी नहीं होता।

(३) हिमालय-प्रतीक मन्दिर उत्पत्ति का सिद्धान्त—हवेल ने ही अन्यत्र यह तर्क दिया है कि हिमालय और मानसरोवर ने भारतीय संस्कृति के साथ-साथ भारत के मन्दिर वास्तुकला को भी भरपूर प्रभावित किया।[2] उनका दृढ़ मत है कि एलोरा का कैलाश मन्दिर हूबहू कैलाश पर्वत की नकल है। उनका कहना है कि शृंग एवं शिखर बनाने की प्रेरणा पर्वतीय शिखर एवं शृंगों से मिली। भारतीयों का प्रिय कमल अलंकरण वस्तुतः मानसरोवर के भौगोलिक परिवेश का ही अभिव्यक्तिकरण है।

यह मत मौलिकता तो रखता है, किन्तु इसमें वैज्ञानिकता नहीं है। यदि हम गुप्तकालीन प्रारम्भिक मन्दिरों को देखें तो वे शिखरहीन ही थे। एलोरा का मन्दिर स्पष्ट ही एक गुहा मन्दिर है, जो चैत्यों की परम्परा का विकासशील स्वरूप है। कैलाश पर्वत से उसकी रूपरेखा मिल जाना महज संयोग हो सकता है। अन्य मन्दिर तो निश्चित ही यह समानता प्रकट नहीं करते। हवेल के इस कथन में वजन है कि शिल्पशास्त्रों के मेरु, मन्दर, आदि नाम पर्वत सूचक हैं। किन्तु यह नाम मन्दिरों की ऊंचाई को व्यक्त करते हैं न कि मन्दिरों के उद्भव को। अतः यह मत भी कसौटी पर खरा नहीं उतरता।

(४) तीर्थों से मन्दिर उत्पत्ति का सिद्धान्त—स्टेला क्रामरिश यह मत प्रकट करती है कि मन्दिरों का निर्माण तीर्थों से प्रारम्भ हुआ।[3] तीर्थों में समान आस्था के लोग एकत्रित होते रहे और मन्दिर

---

१. ब्राउन पर्सी : इंडियन आर्किटेक्चर, पृ० ७९.
२. हवेल : दी हिमालयाज इन इंडियन आर्ट, पृ० १४.
३. क्रामरिश स्टेला : दी हिन्दू टेम्पल, प्रथम, पृ० ३,६.

के माध्यम से अपनी सार्वजनिक भावमयी अभिव्यक्ति प्रकट करते रहे। क्रामरिश ने तीर्थ को एक ऐसा स्थान बताया है जो जल के किनारे हो और जहां यात्री लोग आते हों।

क्रामरिश का मत तीर्थों में मन्दिरों की अनिवार्यता तो सिद्ध करता है किन्तु मन्दिरों के उत्पत्ति की गुत्थी नहीं सुलझाता। तीर्थ से आशय जल किनारा मान भी लें तो भी यह सिद्धान्त इसलिये अपूर्ण है क्योंकि भारत के अधिकांश मन्दिर समूह ऐसे ऊंचे पर्वतीय स्थानों पर हैं जहां न तो कोई नदी किनारा और न ही कोई तीर्थ थे। वहां मन्दिरों के कारण ही जलाशय आदि स्रोत निर्मित किये गये। ऐसे स्थलों में भुवनेश्वर, खुजराहो, ऊन, मदुरा, माऊंटआबू, एहोल आदि स्थान प्रस्तुत किये जा सकते हैं। इन आधारों पर तीर्थ वाला सिद्धान्त भी मान्य नहीं हो सकता। स्टेला क्रामरिश स्वयं भी तीर्थ वाली बात पर नहीं टिकती।[1] वे कहती हैं कि हिन्दू मन्दिरों का उद्भव एकाधिक कारणों से हुआ दीखता है। इन कारणों में वैदिक यज्ञ, आदिवासी डोलमेन तथा ग्रामीण त्यौहार भी सम्मिलित हैं। इतना होने पर भी वह यह सिद्ध करने में असमर्थ रही है कि उनके द्वारा दिये गये आधारों पर वास्तुकला की दृष्टि से मन्दिरों का क्रमशः विकास कैसे हुआ? क्रामरिश की महत्ता इतनी अवश्य है कि उसने अपने इन सूत्रों के द्वारा भविष्य में इस दिशा में चिन्तन का बहुत कुछ मार्ग प्रशस्त किया है।

(५) आदिवासी मन्दिर उत्पत्ति का सिद्धान्त—दो दृष्टियों से कुछ विद्वान् मन्दिरों के उद्भव और विकास के पीछे आदिवासी जीवन को श्रेय देते हैं। प्रथमतः उनका कहना है कि आदिवासी आस्थायें तथा त्यौहार ग्रामीण डोलमेनों में मनाये जाते रहे। ये डोलमेन उस समय जो आदिवासी ग्रामीणों की झोपड़ियां होती थीं, उनके तुल्य ही होते थे। वे कालान्तर में विकसित होने वाली। वास्तुकला के साथ-साथ मन्दिर वास्तु के रूप में परिवर्तित हो गये। ई० बी० हवेल भी अपनी एकाधिक मान्यताओं के साथ-साथ सुझाव देते हैं कि भारतीय धर्म का मूल लोगों के दैनिक जीवन में मिलता है न कि धार्मिक उत्सवों तथा भोजों और परम्पराओं में। इस कारण भारतीय मन्दिर वास्तुकला को अपने मूल रूप में अपने भारतीय ग्रामों में स्थित सीधे-सादे झोपड़ीनुमा पूजागृहों में ही देखा जा सकता है।[2]

इस सिद्धान्त के साथ कठिनाई यह है कि यह मत इस बात को नहीं बताता है कि आखिर ग्राम के आदिवासी जन को अपनी इन झोपड़ियों में मन्दिर बनाने की आवश्यकता क्यों हुई? पूर्व की ही भांति इनका क्रम क्यों नहीं चलता रहा?

इस दृष्टि से जो एक दूसरा मत अधिक महत्ता रखता है, वह है वृक्ष कुंजों वाला सिद्धान्त। इस सिद्धान्त के अनुसार भारत के अनार्य आदिवासी जन कुछ देवी शक्तियों में विश्वास करते थे। उनकी आज की ही अनेक वन्य कबीलों की भांति ही यह मान्यता रही है कि उन सूक्ष्म देवी आत्माओं का निवास वनों में रहा है। अतः जब वन कटने की बारी आयी तो इन जनजातियों ने वृक्षों के एक समूह को इसलिये

---

१. क्रामरिश स्टेला : दी हिन्दू टेम्पल, प्रथम, पृ० १४५-५९.
२. हवेल इ० बी० : एंशियंट एण्ड मिडिएवल आर्किटेक्चर आफ इंडिया.

सुरक्षित कर लिया कि वन की ये दैविक शक्तियां इन कुंजों में निवास करेगी। ये कुंज अपनी निरन्तरता को कायम रख सकें, इस दृष्टि से वे साधारणतः किसी जल तट पर ही इन कुंजों को सुरक्षित रखते थे और इस मान्यता से ग्रस्त रहते थे कि हमारी सारी समृद्धि व सन्तान इन्हीं देवी-आत्माओं का आशीर्वाद है। एस० सी० राय इस सन्दर्भ में लिखते हैं कि अभी भी हर मुण्डा गांव के निकट प्राचीन वृक्षों का एक समूह अवश्य होता है। इसे 'सरना' कहा जाता है। यह सरना प्राचीन मूल वन की स्मृति होती है। मुण्डा लोग महत्वपूण तिथियों पर यहां पूजा पाठ करते और बलि देते हैं।[1]

दक्षिण भारत के सन्दर्भ में भी रमन्नया कहते हैं कि दक्षिणी भारतीय मन्दिरों पर आदिवासियों के डोलमेन मन्दिरों व झोपड़ी-नुमा मन्दिरों का प्रभाव अवश्य पड़ा। इन आदिवासी मन्दिरों को वे सुडालेमादन मन्दिरों या टोड़ाकुटीर के नाम से पुकारते हैं। इनका मत है कि डोलमेन प्रकार के मन्दिरों पर कुटीर मन्दिर कालान्तर में हावी हो गये।[2] इसका परिणाम दक्षिण भारतीय मन्दिरों के विकास के रूप में सामने आया। मन्दिरों के उद्‌भव के प्रश्न पर वे कहते हैं कि आर्यों की सांस्कृतिक दृष्टि के परिणाम स्वरूप दक्षिण भारत के पुरातन ग्रामवासियों ने मन्दिर बनाने की कला सीख ली क्योंकि टोड़ा कुटीर मन्दिरों एवं उत्तर भारतीय मन्दिरों के मध्य कोई सम्बन्ध अवश्य है।[3] दक्षिण भारत के आदिवासी जन भी बिहार के मुण्डाओं के भांति आज भी कुंजों की एवं कुंजों में पूजा पर विश्वास रखते हैं। जहां तक कुंजों से मन्दिरों के उद्‌भव का प्रश्न है, जब कुंज भी नष्ट होने लगे तो लकड़ी और घास के कुछ मकान दैविक आत्माओं के लिये आदिवासी सुरक्षित रखने लगे। जहां लकड़ी और घास की उपलब्धि न थी, वहां पर्वतों की गुफाओं को उन्होंने अपनी पूजा के निमित्त चुना।[4]

पर्सी ब्राउन ने ऐसी कुछ प्राचीन काष्टनिर्मित झोपड़ियों के चित्र देकर उनके आधार पर कतिपय मन्दिर वास्तुओं की कल्पना की।[5] मैदानों में यही वास्तु मन्दिरों के रूप में तथा पर्वतों पर चैत्यों के रूप में विकसित हुआ।

प्रारम्भ में इन आदिवासी मन्दिरों में लोक देवता अमूर्त से क्रमशः मूर्त बनकर विराजमान हो गये। परिणाम यह हुआ कि भारतीय मूर्तिकला का आदिम स्वरूप यक्ष के रूप में सामने आया। कालान्तर में अन्य देवी-देवताओं की प्रतिस्थापना भी होने लगी। ब्राह्मण धर्मी परम्पराओं में धीरे-धीरे आदिवासी मन्दिरों की इस परम्परा को अपने में आत्मसात् कर लिया।

इस दृष्टि से जेम्स सी० हार्ले का निम्न कथन उल्लेखनीय है[6] :—

---

१. राय शरत चन्द्र : दी मुण्डाज ऐण्ड देअर कण्ट्री, पृ० २२१-२२.
२. रमन्नया व्ही० : ओरिजिन आफ साउड इंडियन टेम्पल्स, पृ० ६८-७१.
३. वही, पृ० ६८-७१.
४. के० इ० आ०, पृ० २७८-७६.
५. ब्राउन पर्सी : इंडियन आर्किटेक्चर, पृ० ६ के सम्मुख प्लेट क्र० ८.
६. हार्ले जेम्स सी० : टेम्पल गेटवेज इन साउथ इंडिया।

"चिदवरम् में वहां प्रचलित अनुश्रुतियों एवं प्रतिमाओं के उपरान्त भी हिन्दू मत के पूर्व की पूजा विधान के दर्शन हो सकते हैं। तिल्लई वृक्षों के पवित्र समूह के नीचे अभी भी नटराज शिव 'चिरंबलम्' की पूजा होती है। दक्षिण भारत के अनेक मन्दिरों में इसी प्रकार पूजा विधान आज भी जड़ जमाये बैठा है।"

इस सिद्धान्त के मानने वालों ने कई ऐसे उदाहरण दिये हैं, जो यह सिद्ध करते हैं कि यद्यपि आर्य जन ने इन मन्दिरों को वैदिक धर्म में आत्मसात् कर लिया और मन्दिरों के स्वरूप को ब्राह्मणवादी देवी-देवताओं से सम्बद्ध कर दिया किन्तु कई अन्य विजेता जातियों की भांति वे विजित जाति को अपने मूल सांस्कृतिक तत्वों से पूरी तरह मुक्त नहीं कर पाये। इस कारण कई मान्यतायें और प्रथायें आर्यों को भी इन अनार्य जातियों की स्वीकार करनी पड़ी। आर० एस० शर्मा कहते हैं कि इस अवधारणा को स्वीकृति मिल जाती है कि आर्यों में जो पौरोहित्य पद्धति है, वह एक अनार्य आदिवासी देन है जिसे विजयी आर्यों ने विजेताओं के पुरोहित वर्ग से ग्रहण कर लिया। अभी भी कई हिन्दू संस्कार कई सवर्ण जातियों में आदिवासी पुरोहित सम्पन्न कराते हैं।[1]

यह सिद्धान्त विकासवादी एवं वैज्ञानिक ढंग से मन्दिरों के उद्भव और विकास की परिकल्पना करता है किन्तु दुर्भाग्य से अनार्य और आदिवासी तत्वों की ओर इतना अधिक झुक जाता है कि आर्यों की इस मामले में किसी भी प्रकार की देन नहीं स्वीकारता। यदि स्वीकारता भी है तो इस रूप में कि एक मन्दिर-परिकल्पना-विहीन प्रजाति ने विजित प्रजाति की परिकल्पना को अपनी सांस्कृतिक मान्यताओं के प्रचार-प्रसार के निमित आत्मसात किया।

(६) **वैदिक कर्मकाण्ड से मन्दिर उत्पत्ति**—कतिपय ऋग्वेद वर्णित ऋचाओं से यह धारणा बनती है कि मन्दिरों का उद्भव ऋग्वेदकालीन देन है।[2] उनके मतानुसार ऋग्वेद में हमें मूर्तिपूजा के कुछ प्रमाण मिल जाते हैं। उदाहरण के लिये एक ऋचा में एक महिला अपने इन्द्र के बदले में दस गायें लेने को तत्पर दिखाई देती है।[3] मूर्तिपूजा के कारण ऋग्वेद में वर्णित कुछ हर्म्यों को प्रारम्भिक मन्दिरों के रूप में परिवर्तित कर दिया होगा।[4]

किन्तु ऋचाओं के संदिग्ध अर्थ के आधार पर उस समय ऋग्वेद काल में मूर्ति पूजा की परिकल्पना करना दुस्साहस तथा तथ्यों को कुरेदना है। यह धारणा उन कतिपय विद्वानों की धारणाओं का अनुशीलन है जो यह मानते हैं ऋग्वेद वह अबूदेववाद का समर्थन करता है। वे यह भूल जाते हैं कि स्वयं ऋग्वेद ही इस प्रकार की धारणाओं के विरुद्ध एक सवल प्रमाण है, जो यह प्रकट करता है कि निराकार निर्गुण ब्रह्म एक ओर अद्वैत है। विप्रगण उसे इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, सूर्य, यम, मातरिश्वा आदि नामों से पुकारते हैं।[5] स्वयं

---

१. शर्मा आर० एस० : शूद्राज इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ० २.
२. ऋ०, ७।५६. १६; ७।७६. २.
३. लूनिया बी० एन० : प्राचीन भारतीय संस्कृति, पृ० ११२.
४. ब्राउन पर्सी : इंडियन आर्किटेक्टर, पृ० ४ के सम्मुख चित्र.
५. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु रथो द्विव्यो स सपर्णा गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वान्माहु॥ ऋग्वेद १।१६४. ४६.

अनेक विदेशी विद्वान् इस धारणा को स्वीकार करते हैं। मेक्समूलर का मत है कि वैदिक धर्म प्रतिमाओं से अनभिज्ञ था।[1] एच० एच० विल्सन कहते हैं कि वैदिक धर्म मुख्यत. घरेलू प्रार्थनाओं और बलियों तक सीमित रहता था। उससे मूर्तियों अथवा मूर्तियुक्त मन्दिरों की अपेक्षा व्यर्थ है।[2] मेकडानल भी मत प्रकट करते हैं कि ऋग्वेदकालीन आर्य मूर्ति पूजक नहीं थे। ऋग्वेद में प्रतिमाओं अथवा मन्दिरों का उल्लेख नहीं है।[3]

एक अन्य मत भी ऋग्वेद से जुड़ा है। इसके अनुसार ऋग्वेद काल में जो यज्ञ-यूप बनाये जाते थे, वे मन्दिरों के प्रारम्भिक स्वरूप रहे। ऋग्वेदकालीन आर्य ग्राम से बाहर खुले स्थानों में सामूहिक यज्ञ करते थे। वे यज्ञ वेदी को आसपास बांसों या काष्ठ स्तम्भों को गाढ़ देते थे। ऐसे स्तम्भों को ऋग्वेद में स्थूण स्तंभ, स्कंभ, विष्कंभ, उपमित, मेत, उपमत, धरुण आदि नामों से पुकारा गया है। यूप के साथ-साथ स्थूण शब्द का प्रयोग अधिक हुआ है। यह स्थूण अष्टकोणीय काष्ठ स्तंभ होता था। ऐसे कई स्तंभ प्रस्तर निर्माण के रूप में प्राचीन मन्दिरों में देखे जा सकते हैं।[4]

पर्सी ब्राउन ने वैदिक आर्यों के काष्ट एवं बांस निर्मित ग्रामों की परिकल्पना करते हुए एक चित्र दिया है और उस आधार पर बौद्ध चैत्यों, स्तंभों, तोरणद्वारों और वेदिकाओं की कल्पना की है।[5] उन्होंने यह मत भी व्यक्त किया है कि इस प्रकार के निर्माणों का प्रभाव। सबसे पहला प्रमाण बराबर की पहाड़ी पर स्थित सुदामा की गुफाओं में देखा जा सकता है। वैदिक ग्राम का द्वार सांची और भरहुत के तोरणद्वारों से मेल खाता है।[6] कलशयुक्त स्थूणों का प्रस्तर संस्करण कार्ले की गुफाओं में देखा जा सकता है। वैदिक ग्रामों के काष्ट निर्मित बाड़े वेदिकाओं के रूप में बौद्ध स्थापत्य में दिखाई देते हैं।

इस धारणा के अनुसार वैदिक आर्यों ने यज्ञ पर स्थूणों से युक्त जो बांस या खजूर की चटाइयों के छप्पर डाले, वे उनकी धार्मिक आस्थाओं के प्रथम सार्वजनिक प्रमाण थे। कालान्तर में जब आर्यों में मूर्तिपूजा का प्रारंभ हुआ तो ये ही धार्मिक स्थल मन्दिरों के रूप में परिवर्तित हो गये।

इस मत के पक्ष विपक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है। भारत के अधिकांश मन्दिर ब्राह्मण धर्म से सम्बन्धित हैं। जो उससे सम्बन्धित नहीं है, वे भी मन्दिर निर्माण के मामले में उसी से प्रेरणा लेते हैं, जैसे जैन या बौद्ध मन्दिर। वैदिक परम्पराएं इन पर अधिक घनीभूत दिखाई देती है। अनेक मन्दिरों में गर्भगृह के साथ-साथ मण्डप भी होता है। यह मण्डप सम्भवतः यज्ञ यूपों का ही विकसित रूप है। ब्राह्मण मन्दिरों के मण्डप में कई बार यज्ञ वेदी रही है। मण्डप स्तंभ से भी परिपूर्ण रहे हैं। बहुत सम्भव है जब छोटे-छोटे वैदिक देवालयों का स्वरूप सामने आया तो उनके सामने एक मण्डप में गोष्ठियां एवं यज्ञ के लिये

---

१. मेक्समूलर : चिप्प फ्राम ए जर्मन वर्कशाप, १, पृ० ३८.
२. विलसन एच० एच० : विष्णु पुराण, भूमिका, पृ० ११.
३. मेकडानल एम० : वैदिक माइथोलाजी, पृ० १७-१८.
४. ऋग्वेद : १।५९. १; ३।३१.१२; ४।५.१.
५. ब्राउन पर्सी : इंडियन आर्किटेक्चर, प्लेट क्र० १.
६. ब्राउन पर्सी : इंडियन आर्किटेक्टर, प्लेट क्र० १, पृ० ४.

मण्डप निर्माण की कल्पना सामने आई। सम्भव है, ये देवालय ही कालान्तर में विकसित होकर गर्भगृह का रूप धारण कर गये हों तथा उनके सामने बनाये जाने वाले यज्ञ यूपों ने मण्डप के रूप में विकास कर लिया हो।

सारी पुष्ट सम्भावनाओं के उपरान्त भी यह मत पूर्व के आदिवासी मत के भांति ही नितान्त एकपक्षीय है क्योंकि यह मन्दिर उद्भव के विषय में अनार्य देन के लिये स्थान नहीं रखता।

(७) बौद्ध स्थापत्य से मन्दिर उत्पत्ति का सिद्धान्त—अनेक विद्वानों की यह धारणा है कि हिन्दू मन्दिरों (संकुचित अर्थ) का उद्भव स्तूपों अथवा चैत्यों से हुआ।[1]

स्तूप :—भारतीय वास्तुकला की सबसे पुरातन विधा के रूप में स्तूपों को माना गया है। स्तूप—संस्कृत - स्तूप : अथवा प्राकृत थूप 'स्तुप' धातु से बना है, जिसका अर्थ है एकत्रित करना, ढेर लगाना आदि। अतएव, मिट्टी के ऊंचे टीले के लिये स्तूप शब्द का प्रयोग होने लगा। अमरकोष (३।५।१६) में राशिकृत मृतिकादि उसी कथन की पुष्टि करता है। बौद्ध साहित्य दीघनिकाय (२।१४२), अंगुत्तरनिकाय (१।१७०) तथा मज्झिमनिकाय (३।२८४) में थूप शब्द का अधिकतर प्रयोग किया गया है।[2] कुल मिलाकर किसी टीले या टीले के रूप में बने स्मारक को स्तूप की संज्ञा दी है।

स्तूप की जब चर्चा आती है तो साधारणतः बौद्ध धर्म से सम्बन्धित धर्म स्थलों से आशय निकलता है। किन्तु ऐसा सोचना उचित नहीं है। वैदिक साहित्य में भी स्तूप का उल्लेख हुआ है।

स्तूपों का प्रयोजन इस प्रकार मानव स्मारक से आता है। मनुष्य एक पितृ के रूप में अपने वंशजों के द्वारा याद किया जाय, यह सहज है. और अपनी श्रद्धा भावना बताने के लिये उसकी संतति या अनुयायी कोई यादगार निर्मित करे, यह भी उतना ही स्वाभाविक है। मृतक की अन्तिम क्रिया या तो उसका दाह संस्कार करके और उसकी अस्थि का उपरांत संकलन करने से ही नहीं होती अपितु उन अस्थियों को या तो पवित्र जल में प्रवाहित कर दिया जाता है या उसे पूजा या श्रद्धा का पात्र मानकर अस्थिकलश में रख दिया जाता है। इस अस्थि और कलश को चिरस्थायी बनाने के लिये कोई स्मारक खड़ा कर दिया जाता है।

भारत में यह पद्धति बहुत लोकप्रिय रही है। विशेषकर बौद्ध मत ने इसे इतनी आस्था एवम् आत्मीयता से ग्रहण किया कि कालान्तर में अस्थि कलश रखने और उस पर स्मारक बनाने की पद्धति बौद्धों के साथ रूढ़ हो गई।

बौद्ध काल के पहले स्तूपों को स्मृति एवम् आदर का पात्र माना जाता रहा किन्तु बौद्धों ने उसे धार्मिक मान्यता प्रदान की और स्तूप को भगवान बुद्ध के परिनिर्वाण का प्रतीक प्रदर्शित किया। इस प्रकार स्तूप मात्र स्मारक टीले न रहकर पूजा व उपासना के प्रतीक बन गये।

---

१. के० इं० आ०, पृ० २७१.

२. प्रा० भा० स्तू० गु० म०, पृ० ४.

वासुदेव उपाध्याय स्तूपों को उनके प्रयोजन के मान से निम्नलिखित चार भागों में विभाजित करते हैं।

(१) शारीरिक—जिस स्तूप को बुद्ध के अवशेष (भस्मपात्र में) पर बनाया गया था।

(२) औद्देशिक—उद्देश्य सहित अर्थात् किसी विशेष प्रयोजन को लेकर बनाया गया स्तूप। सांची स्थित सारिपुत्र का स्तूप इसका उदाहरण है।

(३) पारिभोगिक—तथागत के दैनिक जीवन में काम आने वाली वस्तुओं पर निर्मित स्तूप।

(४) व्रतानुष्ठित—ऐसा स्तूप जो मन्नत अथवा चढ़ावा हो। उसमें किसी प्रकार के धातु या वस्तु को रखने का प्रयोजन निहित था। किसी के मन्नत मान लेने पर अथवा इच्छा की पूर्ति होने पर उपासक बड़े स्तूप के चारों ओर मिट्टी के छोटे स्तूप बनाया करते थे। तक्षशिला, सारनाथ अथवा नालन्दा के प्रधान स्तूप के चारों ओर मन्नतवाले स्तूप (Votive stupa) देखे जा सकते हैं[१]।

जहां तक स्तूपों से मंदिर के उद्भव का प्रश्न उपस्थित होता है, इस सम्बन्ध में ऐसी मान्यता प्रकट की गई है कि वे स्तूप जब मूर्तिपूजा से जुड़े तो उनके स्वरूप में आवश्यक परिवर्तन आया। पवित्र टीले के भीतर ही कक्ष निर्माण की कल्पना की गई और इस प्रकार उसमें देव-प्रतिमा स्थापित की गई। तोरणों ने प्रवेश द्वार का रूप लिया। उसकी ऊंचाईयों ने शिखर का स्थान ले लिया। हर्मिका मंदिर की शिखा बन गई। उत्तर भारत में उस पर कलश जा बैठा और दक्षिण भारत में उस पर स्तूपी। दक्षिण भारत में प्रवेश द्वार पर तोरणद्वार गोपुरम् के रूप में प्रकट हुए।[२]

रमन्नया ने इस सिद्धान्त का बड़ा युक्तियुक्त खण्डन दो आधारों पर किया है। प्रथम तो यह कि स्तूपों से मंदिरों के उद्भव की कल्पना युक्ति-युक्त नहीं है। द्वितीय यह है कि स्तूप मूल रूप में कोई बौद्ध निर्माण नहीं है। जहां तक पहली बात का प्रश्न है, रमन्नया का मत इसलिये विचारणीय है कि मन्दिरों के मूल आधार अन्य कई सिद्धान्तों के अनुसार उत्तरी अथवा दक्षिणी आर्य या अनार्य जन के निवासों की प्रतिकृति रही है यद्यपि बैराठ का तीसरी शताब्दी ई० पू० का बौद्ध मन्दिर स्तूपनुमा गोलाकार तथा चैत्य गवाक्षों और हर्मिका से युक्त था। इसी प्रकार विदिशा में भी अभी अभी एक दीर्घवृत (Elliptica) मन्दिर का आधार मिला है जो द्वितीय शताब्दी ई० पू० का है।[३] इसे मन्दिर उद्भव का आधार नहीं माना जा सकता है क्योंकि दूसरी शताब्दी ई० पू० में विदिशा में जो वासुदेव मन्दिर बना, वह स्तूपों के अम्बार के मध्य होते हुए भी स्तूपों के प्रभाव से मुक्त था। जहां तक दूसरे मत का प्रश्न है, रमन्नया योग्यतापूर्वक सिद्ध करते हैं कि स्तूप मूलतः बौद्ध वास्तु नहीं थे।[४]

---

१. प्रा० भा० स्तू० गु० मं०, पृ० १४.
२. ब्राउन, पर्सी: इण्डियन आर्किटेक्चर, पृ० ७७.
३. तिथि विवेचन के लिए कृपया अध्याय ४ देखिये.
४. रमन्नया : ओरिजिन आफ साउथ इंडियन टेम्पल्स, पृ० ४८.

वैदिक साहित्य में स्तूपों की चर्चा आयी है। ऋग्वेद में तो हिरण्यस्तूप नाम के एक ऋषि का उल्लेख भी हुआ है। वैदिक स्तूप में क्या रखा जाता था? यह बात विद्वानों में मतभेद का विषय है। ऐसे सन्दर्भ ऋग्वेद में आते हैं, जिनसे यह ज्ञात होता है कि मृतकों की अस्थियों पर टीलों पर निर्माण होता रहा। 'मृणमय्यन ग्रहीयम" के सन्दर्भ शायद इन्हीं टीलों से रहा होगा।[1] ऋग्वेद के दशम मंडल में इन टीलों के आसपास वृत्ताकार परिधि की बात कही गई थी।[2] उसी के पास स्थूण निर्माण भी होता था। अत. टीले बौद्ध स्थापत्य में स्तूपों के रूप में, परिधि प्रदक्षिणा पथ के रूप में तथा स्थूण स्तम्भ के रूप में विकसित हुए। ब्लाच को नंदनगढ़ के उत्खनन के समय काष्ट और मिट्टी द्वारा निर्मित ऐसी बहुतसी सामग्री मिली है जिनके आधार पर उसने उन्हें वैदिक स्तूपों के रूप में स्वीकार किया है।[3]

शुक्ल यजुर्वेद[4] में भी समाधि के चारों ओर मिट्टी का स्मारक बनाने का प्रसंग है। शतपथ ब्राह्मण तो एक अत्यन्त ही रोचक सूचना देता है।[5] इसके अनुसार आर्य स्तूप चतुष्कोणीय एवम् असुर स्तूप गोलाकार होते थे। अत: स्तूपों के निर्माण का काल इस साक्ष के प्रकाश में पुराना हो जाता है।[6]

दुब्राय ने तो भिन्नापुरम् की प्रागैतिहासिक गुफा तथा सुदामा गुहा की संगीति वैदिक स्मारकों से करने का प्रयास किया है। यदि यह बात मान ली जाती है तो राजगृह स्थित सोन-भण्डार की गुहा के आंतरिक भाग को स्तूप माना जा सकता है। यह गुहा पूर्व मौर्यकालीन निर्माण जरासंघ की बैठक की समकालीन मानी जाती है[7]। इन आधारों पर व्यावहारिक और सैद्धान्तिक दोनों ही रूपों में इस मत का खण्डन हो जाता है कि मंदिरों का उद्भव बौद्ध स्तूपों से हुआ।

चैत्य—चैत्यों से भी हिन्दू मंदिरों के उद्भव मानने के तर्क दिये गये हैं। चैत्य शब्द का उद्भव 'चिता' या 'चिती' या बौधिवृक्ष से हुआ प्रतीत होता है। साहित्य में कई स्थानों पर स्तूप के लिये चैत्य शब्द का प्रयोग हुआ है। यह शब्द चिता से सम्बन्धित होने से भस्मी अवशेष पर बनाये गये स्मारक की ओर भी सकेत करता है। इसी कारण एक स्थान पर चैत्य को श्मशान बताया गया है। अमरावती स्तूप लेखों में स्पष्ट ही स्तूप को चैत्य कहा गया है किन्तु चैत्य का भिन्न अर्थ भी होता है। ईंट और पत्थर से जो निर्माण (चि) करवाया जाता रहा है, उसे भी चैत्य कहा गया। कई स्थानों पर चैत्यों में बोधिवृक्ष भी पाये जाते हैं। प्रश्न यह उठता है कि चैत्य से आशय स्तूप से होता है या बौधिवृक्ष से। इसके उत्तर के लिये कुछ गहराई में जाना होगा।[8]

---

१. ऋग्वेद, ७।८९.
२. ऋग्वेद, १०।१८.
३. आ० स० रि० (१९०६-०७), पृ० ११९.
४. शुक्ल : यजुर्वेद, ३५।१५.
५. शतपथ ब्राह्मण, १३।८.१.५.
६. हवेल : हैण्डबुक आफ इंडियन आर्ट (के० इ० आ०), २७१.
७. डूब्राय : वैदिक एंटिक्विटिज, (के० इ० आ०), पृ० २७१.
८. के० इं० आ०, पृ० २७२.

दीघनिकाय के महापरिनिब्बान सुत्त में बुद्ध ने लिच्छिवियों की प्रगति के लिये चैत्य पूजा को आवश्यक बताया है। वैशाली के छः चैत्यों के नाम उदेन, गोतम, सतम्बक, बहुपुत, सरदन्द तथा चपल बताये गये हैं। दिव्यावदान में अन्तिम तीन नाम भिन्न प्रकार से दिये हुए हैं। गौतम, न्यग्रोध, शालवन, संतबक (सप्रामक) आदि नामों से यह प्रकट होता है कि ये चैत्य पूजा-वृक्ष या वृक्ष-कुंज थे। न्यग्रोध चैत्य नाम से प्रकट होता है कि यह न्यग्रोध अर्थात् (वट) का वृक्ष था। बहुपुत्र शब्द से ज्ञात होता है कि वह संभवतः पवित्र पीपल का वृक्ष था। दिव्यावदान में बुद्ध ने चैत्य वृक्ष का स्पष्ट उल्लेख किया है।[1]

भारतवर्ष में वैसे तो सिन्धु सभ्यता से ही वृक्षपूजा प्रारभं हो गई थी। पीपल के वृक्ष के नीचे गौतम को महाबोधि प्राप्त होने से बुद्ध काल में उसका महत्व बहुत अधिक बढ़ गया था। वृक्ष को ही चैत्य के रूप में स्वीकारा जाने लगा। भरहुत की वेदिकाओं पर मृगों द्वारा पूजित एक वृक्ष के अर्द्ध-चित्र पर "मग समदक चैत्य" अर्थात् हिरणों का आनंद दाता चैत्य तथा हाथियों द्वारा पूजित पीपल वाले अर्ध चित्र के शीर्षक के रूप में "बहु हथि को निगोधो न डोदे" शीर्षक दिया गया है। इससे ज्ञात होता है कि पूजनीय वृक्ष को एक चैत्य के रूप में स्वीकार किया गया है। ज्ञान का प्रतीक बोधिवृक्ष ही बौद्धों के लिए चैत्य था।[2]

सांची और भरहुत के तोरण द्वारों पर बुद्ध के प्रतीक के रूप में कहीं बोधिवृक्ष, कहीं चैत्य, तो कहीं धर्मचक्र प्रदर्शित किया गया है। चैत्य के आसपास वेदिकाओं का प्रारम्भ में निर्माण किया जाता था। उपलब्ध कई प्राचीन सिक्कों में भी ये वेदिकाएं पवित्र वृक्ष के आसपास उत्कीर्ण मिली हैं।

मठों और विहारों की वृद्धि होने पर जब गुहाओं का निर्माण बढ़ गया तब स्तूपों को इन निर्माणों के भीतर लाने का प्रयास किया गया। प्रारंभ में ये विहार काष्ट एवं प्रस्तर के बने थे। निर्मित किये जाने के कारण ये चैत्य मण्डप कहलाते थे। जब इन चैत्य मण्डपों में स्तूप प्रतीक पूजा के रूप में उत्कीर्ण किये जाने लगे, तो ये स्तूप भी चैत्य के पर्यायी माने जाने लगे। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रारम्भ में वृक्ष को चैत्य माना जाता था किन्तु कालान्तर में स्तूपों को भी वह संज्ञा दी गई।

यह कहा गया कि अनेक प्रमाण सिद्ध करते हैं कि बौद्ध चैत्यों ने जब पर्वतों एवं गुहाओं का आग्रह छोड़ा तो वे क्रमशः मंदिरों के रूप में परिवर्तित हो गये।

रमन्नया पुनः उन्हीं आधारों पर चैत्य से मंदिर उद्‌भव की बात का खण्डन करते हैं। उनके अनुसार चैत्य प्रासाद का उल्लेख आया है।[3] सभवतः उस समय चिताओं के स्थान पर निर्माण किये जाते रहें होंगे। यह पद्धति आज भी कई स्थानों पर मठों या शिवलिंग युक्त चबूतरों के रूप में विद्यमान है। वृक्ष के रूप में चैत्य पूजा की जाना भी कोई बौद्ध परम्परा नहीं है। मोहन जोदड़ों और हड़प्पा की सीलों में वृक्ष दिखाई देते हैं।[4] मेगास्थनीज भी वृक्षों के पवित्र मानने की बात करता है। संभव है बौद्धों ने इस प्राचीन

---

१. घोष, नगेन्द्रनाथ : भारत की प्राचीन स्थापत्य एवं तक्षण कला (वि० रम० ग्रं०).

२. वही, पृ० ७६८.

३. रामायण, ५।१५; ५।४३.

४, मार्शल, जान : मोहनजोदड़ों एण्ड इंडस वेली सिविलिजिशन अध्याय ५.

परम्परा को भी चैत्यों के रूप में स्वीकार कर लिया। चैत्यों में स्तूपों ने भी प्रवेश किया।[1] स्तूप भी मूलतः बौद्ध नहीं थे। इन समस्त आधारों पर जब चैत्य मूल रूप से बौद्ध सिद्ध नहीं होते, तो फिर बौद्ध चैत्यों से हिन्दू मन्दिरों के निर्माण की कल्पना करना उचित नहीं। कई विद्वान् अब निर्णयात्मक रूप से यह धारणा प्रकट करते हैं कि प्राचीन वैदिक झोपड़ियों ने कालान्तर में चैत्यों का स्वरूप धारण किया। कुछ अन्य विद्वान भी दक्षिण भारत के चैत्यों का पूर्ववर्ती टोड़ा कुटीरों को मानते हैं। इन आधारों पर अधिकांश विद्वान् चैत्यों से मन्दिरों के उद्भव की कल्पना न करते हुए अब यह मानने लगे हैं कि मन्दिर और चैत्य दोनों के ही पूर्व रूप भारतीय जन के ये प्राचीन कुटीर थे।

विहार—स्तूपों व चैत्यों की भांति ही विहारों से मन्दिरों की उत्पत्ति विषयक तर्क दिये गये हैं। विहार भारत के प्राचीन धार्मिक निर्माणों के अपरिहार्य अंग रहे हैं। भगवान बुद्ध ने अपने शिष्यों को सदैव ही परिव्राजक बने रहने तथा अकेले रहने का उपदेश दिया था।

संभव है वैदिककालीन वानप्रस्थ आश्रम एवं सन्यास आश्रम पद्धति से उन्होंने यह प्रेरणा ली हो, यद्यपि बुद्ध वर्णाश्रम धर्म के पूरी तरह विरोधी थे। इस प्रकार प्रारम्भ में बौद्ध भिक्षु अपने लिये न तो कोई निवास और न किसी संघ का निर्माण कर सकते थे।

किन्तु जब भिक्षुओं की संख्या में आशातीत वृद्धि हुई तथा प्राकृत गुहाओं एवं योग्य शरण-स्थलों का मिलना बन्द हो गया तो भगवान बुद्ध को उन्हें कृत्रिम विश्राम स्थलों पर संघबद्ध होकर रहने की अनुमति देनी पड़ी। धीरे-धीरे बौद्ध मत में संघ एक अनिवार्य तत्व बन गया और बुद्ध तथा धम्म के साथ-साथ संघ की शरण में जाने का निर्देश भी दिया जाने लगा।

इसी प्रकार भिक्षुओं के निवास के लिये अस्थायी निवास की व्यवस्था की गई। स्वयं भगवान बुद्ध ऐसे विश्राम स्थल में रहे थे जिन्हें आराम कहते थे। बौद्ध साहित्य में तपोदाराम, जीविकाराम, संघाराम आदि शब्द प्राप्त होते हैं। कालान्तर में भिक्षुओं के विश्राम स्थलों को कुछ स्थायित्व देने का प्रयास किया गया। ऐसे स्थलों को विहार की संज्ञा दी गई। श्रावस्ती में महाश्रेष्टि अनाथपिंडक ने जेतवन में एक विहार भगवान बुद्ध के लिये निर्मित करवाया था। धीरे-धीरे आराम भी स्थायी निवास के विषय बन गये। वस्तुतः सांची में वैदिसा देवी द्वारा निर्मित संघाराम बौद्ध विहार ही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रारंभ में आराम और विहार दोनों भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होते थे किन्तु कालान्तर में एक दूसरे के पर्याय बन गये। जब इन विहारों को और भी स्थायित्व देने का प्रयास किया गया तो कृत्रिम गुहाओं का निर्माण प्रारंभ हुआ। भगवान बुद्ध कृत्रिम गुहाओं के पक्ष में नहीं थे। इस कारण मौर्यकाल तक कोई बौद्ध गुहा नहीं बन पायी। बराबर और नागार्जुन की पहाड़ियों पर जो गुफायें बनीं, वे बौद्धों के लिये न होकर आजीविकों के लिये निर्मित की गई थीं। किन्तु शुंग-सातवाहन काल में बौद्धों ने इस प्रतिबन्ध को उखाड़ फेंका। अतः पहाड़ों को काटकर विशाल गुफाओं का निर्माण प्रारम्भ हुआ। कार्ले, कान्हेरी, अजता आदि स्थानों पर विशाल गुहाएं पर्वतों को काटकर बनायी गईं। ये गुफायें या तो चैत्य या विहार के रूप में निर्मित की गई थी।

---

१. भट्टाचार्य, तारापाद : दी कल्ट आफ ब्रह्मा, पृ० १७१.

जैनियों ने भी उड़ीसा में उदयगिरि और खण्डागिरि पर इसी ढर्रे पर गुफाओं का निर्माण किया। इस प्रकार चैत्यों और विहारों के रूप में गुहाओं का निर्माण कुछ सदियों तक जारी रहा। जब धरातल पर मन्दिर निर्माण की विद्या अत्यधिक लोकप्रिय हो गई तो यह सिलसिला कमजोर पड़ गया। फिर भी शैवादि सम्प्रदायों की मठ पद्धति एवं जैनियों की स्थानक पद्धति के रूप में विहार अपना अस्तित्व प्रदर्शित करते हुए आज तक दिखाई देते हैं।

रम नया ने विहारों को भी मूलतः एक बौद्ध देन नहीं माना है। रामायण और चुलवग्ग के अनेक संदर्भों के आधार पर वे कहते हैं कि विहार हिन्दू वैदिक मत की देन है, जिसे कालान्तर में बौद्धों ने ग्रहण किया था। तारापाद भट्टाचार्य निष्कर्ष रूप से कहते हैं कि बौद्ध विहारों, चैत्यों या स्तूपों का निर्माण निश्चित ही बौद्ध देन न होकर पूर्व में बहुत समय से प्रचलित रहने वाले वैदिक प्रासादों, चैत्यों एव विहारों की वास्तु परिणति है।[1]

एक बार इनमें से किसी से भी मन्दिरों का उद्भव मान भी लिया जाय तो वह भी इन आधारों पर बुद्ध-पूर्व परम्पराओं से जुड़ता है। अधुनातम अध्ययन के अनुसार उन पूर्व परम्पराओं से ही मन्दिर का श्रीगणेश तार्किक, सांस्कृतिक एवं वैज्ञानिक दृष्टि से हुआ प्रतीत होता है।

इस निष्कर्ष में बाधक कुछ प्रमाण अवश्य सामने आते हैं। उत्तर भारत में चैत्य प्रणाली (स्थापत्य) से सीधे सम्बन्धित ९वीं शताब्दी के भुवनेश्वर के वेतालदेवुल तथा ११वीं शताब्दी का तेली का मन्दिर (ग्वालियर) है। दक्षिण भारत में मन्दिरों में जो चैत्य छत दी गयी है, उसे गजपृष्ठीय कहा गया है। इस दृष्टि से चेजरला का ४थी शताब्दी का और तेर का ४५० ई० का मन्दिर विशेष रूप से बौद्ध चैत्यों के अत्यधिक निकट है।[2]

रमन्नया इस तथ्य से परिचित हैं और उन्होंने कहा है न केवल ये दो मन्दिर अपितु मामल्लपुरम के रथ भी इसी शैली में निर्मित हुए हैं।[3] पर्सी ब्राउन ने मामल्लपुर के सहदेव रथ को भी इसी शैली का माना है। इसके साथ ही वे सोमंगलम्, मणीमंगलम्, तेनेसी, मगराल्लू, तिरुपति, तिकुंदरम के मन्दिरों का भी इस दृष्टि से उल्लेख करते हैं।[4] किन्तु इन उदाहरणों पर पूरी तरह विचार करने के उपरान्त भी रमन्नया का यह स्पष्ट मत हमें मान्य करना होता है कि बौद्ध विहारों व चैत्यों को हिन्दू मन्दिरों का उद्भवकर्ता कदापि नहीं माना जा सकता।

---

१. के० इं० आ०, पृ० २७३-७४, ३००-०२.

२. ब्राउन, पर्सी : इंडियन आर्किटेक्चर, पृ० ७७.

३. के० इं० आ०, पृ० २७८.

४. ब्राउन, पर्सी : इंडियन आर्किटेक्चर, पृ० ७७.

(८) रथ से मन्दिर उत्पत्ति का सिद्धान्त – दक्षिण भारतीय शिल्प निर्माण में विमान शब्द आम रूप में प्रयुक्त हुआ है। यह तो स्पष्ट नहीं होता कि वस्तुतः विमान से आशय किस प्रकार के भवन से था, किन्तु बाद के दक्षिण भारतीय कोषकारों एवं वास्तु-ग्रन्थों में स्पष्ट ही विमान को मन्दिर का पर्याय बताया है। उत्तर भारत में भी विमान शब्द वास्तु के रूप में प्रयुक्त हुआ है। रामायण में 'प्रसादाग्रह विमानेषु'[1] जैसे सन्दर्भ इस बात को प्रमाणित करते हैं। हवेल और आनन्दकुमार स्वामी इस कारण मन्दिरों का उद्भव रथों से मानते हैं। उनके तर्क हैं कि मन्दिरों के लिये उत्तरभारत में रथ और दक्षिणभारत में विमान (कहीं-कहीं रथ भी) शब्द का प्रयोग रथों से मन्दिरों का सम्बन्ध निरूपित करता है।[2]

कोणार्क का सूर्य मन्दिर तो पूरी तरह रथशैली में ही है। मामलपुर के मन्दिर तो रथ ही कहलाते हैं। किन्तु इन सारी स्थितियों के होते हुए भी यह प्रमाणित नहीं होता कि रथों की नकल पर मन्दिरों की उत्पत्ति हुई। भारत में अंगुलियों पर ही ऐसे मन्दिरों की गणना होती है जो रथों की हूबहू नकल हों। प्रारम्भ के दक्षिण भारतीय शिल्प-ग्रंथ मन्दिरों के लिये विमान शब्द का प्रयोग न करते हुए प्रासाद नामक शब्द का प्रयोग करते थे। इसी प्रकार उत्तरभारतीय ग्रंथों में भी मन्दिरों को रथ कहने की पद्धति बहुत बाद ही प्रचलित हुई। ऐसा लगता है कि इस सिद्धान्त को देने वाले महानुभाव समरांगणसूत्रधार[3] के सन्दर्भों से अधिक प्रभावित हो गये। इस ग्रंथ में यह कहा गया है कि प्राचीन समय में ब्रह्मा ने देवताओं के लिये पांच विमान बनाये ताकि देवगण आकाश में यात्रा कर सके। इनकी नकल पर ही लोगों ने प्रासादों का निर्माण प्रारम्भ किया। ऐसा लगता है कि विमान और रथ को ही मन्दिर का मूल पर्याय मानकर समरांगण-सूत्राधार में राजा भोज ने रथों को मन्दिरों का मूल पर्याय मानकर इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। अतः आधुनिक कई विद्वानों ने भी इसे मन्दिर उद्भव का एक प्रामाणिक साक्ष मान लिया। इन आधारों पर यह निष्कर्ष निकलता है कि विमान या रथ शब्द मन्दिरों के मूल पर्याय नहीं हैं। वे कालान्तर में उनके लिये प्रयुक्त होने लगे।

मन्दिर उद्भव के इन सारे सिद्धान्तों का सार केवल यह है कि मन्दिर उद्भव का कोई अकेला सिद्धान्त पूरी तरह तथ्य एवं तर्क परक नहीं है। सीधी-सी बात यह है कि दैवी-शक्तियों अथवा ईश्वर के प्रति जो धार्मिक श्रद्धा विभिन्न स्थानों के विभिन्न जन के मन में विभिन्न प्रतीकों के माध्यम से जब भौतिक अभिव्यक्ति पाने को आकुल होने लगी, तो अति प्रारम्भ में उसने वृक्षों, पर्वतों अथवा शैलाश्रयों के चित्रों का अवलम्बन लिया। कालान्तर में घड़े हुए काष्ट या प्रस्तर प्रतीकों के रूप सामने आये। इन प्रतीकों को सम्मान देने के लिये श्रद्धालुओं ने उनके निवास जैसे ही भवन पूजा के लिये बना दिये। जब कला और सौन्दर्य बोध निश्चित धार्मिक एवं दार्शनिक मान्यताओं के साथ पुष्ट होकर सामने आया तो प्रस्तर अथवा ईंटों के स्तूप, चैत्य आदि बनने लगे। अन्ततः मूर्ति एक सशक्त प्रतीक अभिव्यक्ति के रूप में जब उभरी, तो आवासों के रूप में उस समय तक विकसित जो भी श्रेष्ठतम वास्तु उपलब्ध था उसका प्रयोग धार्मिक अनुष्ठानों के लिये होने

---

१. रामायण, ५।१५.
२. के० इं० आ०, पृ० २७०.
३. स० सू०, अध्याय ४९.

लगा। धीरे-धीरे इन धार्मिक प्रासादों को ही ईश्वरीय शरीर के रूप में माना जाने लगा, तथा शैलीगत विभिन्नताओं के होते हुए भी मन्दिर एक विशिष्ट वास्तु विद्या के रूप में उभर कर सामने आया।

(६) शिखरों की उत्पत्ति

पर्सी ब्राउन ने शिखरों के उद्भव के लिये निम्नलिखित तीन सिद्धान्त संकलित किये हैं।[1] अपने ग्रन्थ में उन सिद्धान्तों के आधार पर चित्रों द्वारा संभावित प्रस्तुतीकरण भी दिया है।[2]

(अ) पूर्वी या मध्यभारत की चोटीनुमा अथवा गुम्बदनुमा झोपड़ियों से उद्भव

(१) ईसा पूर्व की शताब्दियों में भारत के इन क्षेत्रों में काष्ट अथवा बांस की चोटी या गुम्वदनुमा झोंपड़ियां बनायी जाती थीं। ऐसा माना जाता है कि नागर शैली के मन्दिर शिखरों का ये पूर्व रूप थीं। यह मत रामप्रसाद चन्दा का है।[3]

(२) स्तूप से विकास : उत्तर भारतीय मन्दिरों के शिखर बौद्ध स्तूपों से उद्भूत हुए माने गये हैं। इस मत के प्रतिपादकों का कहना है कि स्तूप का अर्ध-गोलाकार अण्ड ईसा के बाद के हजार वर्षों में क्रमशः परिवर्तित रूप ग्रहण करते हुए मन्दिर शिखर के रूप में विकसित हो गया। इस मत का सब से पहले प्रतिपादन करने वाले लांगहर्स्ट थे।[4]

(३) रथ सिद्धान्त : इस सिद्धान्त के प्रतिपादक विद्वान् मानते हैं कि मन्दिर का नाम रथ का भी दिया गया है। इस कारण सहज है कि इसका ऊपरी भाग भी रथ के ऊपरी भाग के भांति हो और रथ के ऊर्ध्व आवरण की भांति ही मन्दिर वास्तु पर शिखर बनाये जाने लगे हों। आनंद कुमारस्वामी इस मत के स्पष्ट समर्थक हैं।[5]

शिखरों की उत्त्पत्ति के इन सिद्धान्तों को मन्दिरों की उत्पत्ति से जोड़ना ही उचित होगा। उनकी विवेचना करते समय यह सिद्ध किया जा चुका है कि मन्दिरों की उत्पत्ति के पीछे स्तूपों अथवा रथों का कोई स्पष्ट प्रभाव नहीं है। अतः शिखरों के सम्बन्ध में वही समीक्षा, जिसका कि बहुत कुछ विवेचन मन्दिरों के साथ ही हो चुका है, सहज लागू हो जाती है।

मन्दिरों के उद्भव की ही भांति निवासियों के कुटीरों से शिखरों की उत्पत्ति वाला विचार निश्चित ही गहरायी से विचार करने योग्य है। यह कहा गया है कि कुटीरों के शिखरों या गुम्बदों का विकास

---

१. ब्राउन, पर्सी : इंडियन आर्किटेक्चर, पृ० ७७.

२. वही, प्लेट क्रं० ५, पृ० ८ के सामने.

३. चन्दा, रामप्रसाद : रूपम, क्रं० १७, कलकत्ता, जनवरी १९२४, (इं० आ०, पृ० ७७).

४. लांगहर्स्ट : दी स्टोरी आफ दी स्तूप, कोलम्बो १९३६ (इं० आ०, पृ० ७७).

५. हि० इं० इं० आ०, पृ० ८३.

ई० पू० की प्रारम्भिक शताब्दियों में मन्दिर शिखरों के रूप में हुआ ।[1] पुरातत्वीय दृष्टि से भी यह माना जाता है कि मन्दिरों के साथ शिखरों का समन्वय उत्तर गुप्त काल में ही हुआ । उदयगिरि, सांची, तिगवा, ऐरण,

मालवा के मन्दिरों का विभिन्न प्रागैतिहासिक आवासों के आधार पर विकास (विभिन्न सम्भावनाएँ)

१. ब्राउन, पर्सी : इंडियन आर्किटेक्चर.
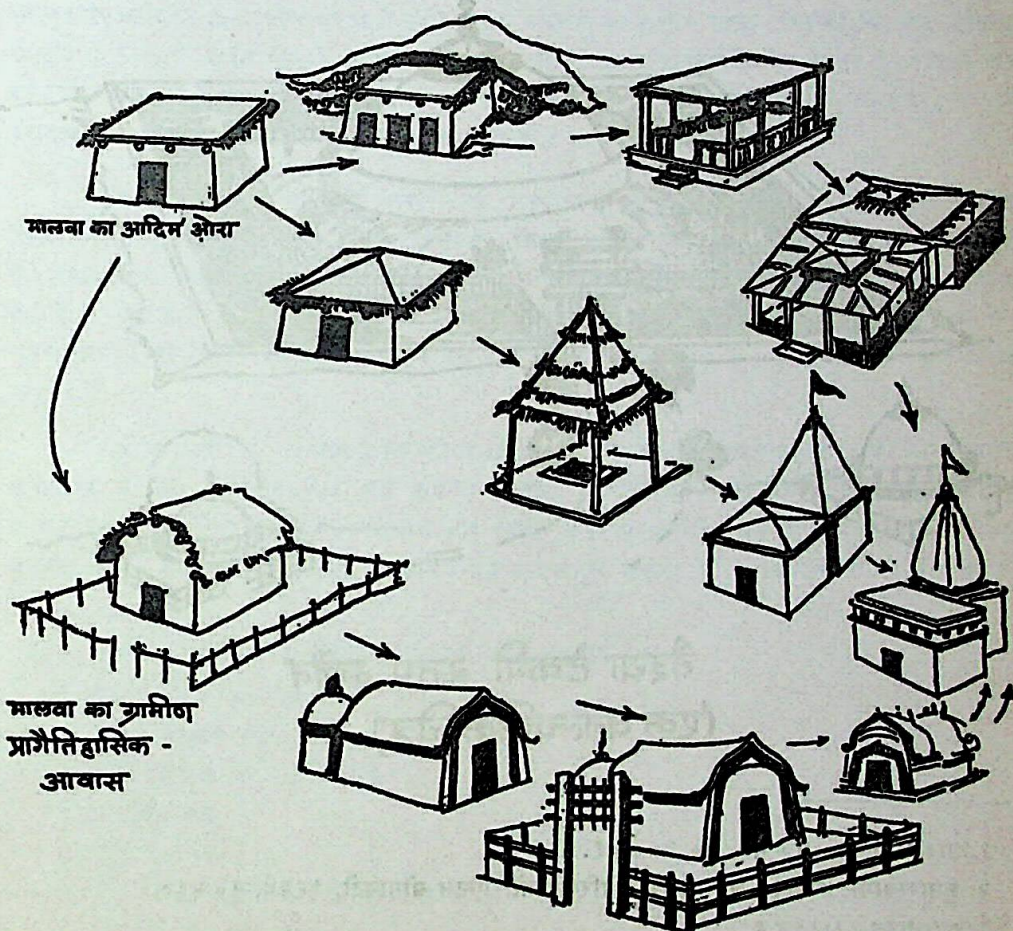
भूमरा आदि के प्रारम्भिक गुप्तकालीन मन्दिर शिखरविहीन ही थे। प्रथम बार नाचनाकुठार के पार्वती मन्दिर में शिखर उठाने का प्रयास किया गया है।[१]

किन्तु पुष्ट साहित्यिक प्रमाणों एवं परोक्ष पुरातत्वीय संदर्भों ने शिखर निर्माण की इस पुरातत्वीय प्रतिस्थापना में बहुत बाधा प्रस्तुत की है। रामायण,[२] महाभारत,[३] तथा जातक कथाओं[४] में ऐसे कई प्रासादों का उल्लेख हुआ है जिन पर शिखर अथवा श्रृंग थे। पंतजलि[५] ने अपने महाभाष्य में एक ऐसे प्रासाद का उल्लेख किया है जिस पर भूमियां थीं। (उत्तर भारत के शिखर भी भूमियुक्त होते रहे) भरहुत, अमरावती और मथुरा
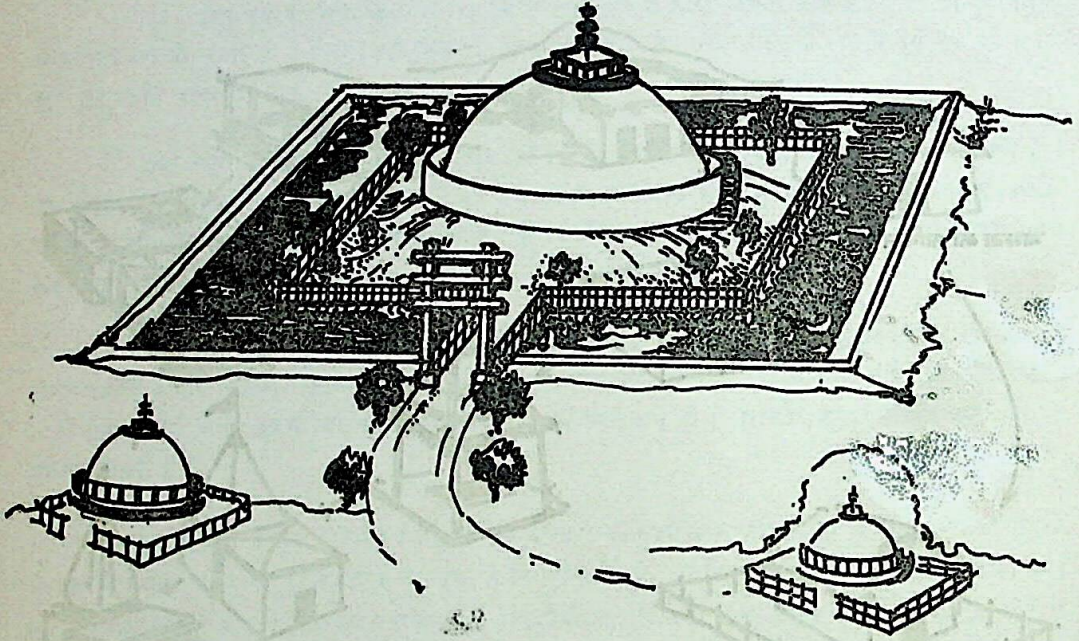
वैश्या टेकरी स्तूप, उज्जैन
(एक काल्पनिक चित्र)

१. प्रा० भा० स्तू० गु० मं०, पृ० २०८-०९.
२. कुमारस्वामी, आनन्द : जर्नल आफ अमेरिकन ओरिएन्टल सोसायटी, १९२८, पृ० २६०.
३. महाभारत, १।१८४.९.
४. जातक कथा क्र० ३९६ एवं ४१८.
५. महाभाष्य, २।२.३४, १।१.९.

के प्रथम तथा द्वितीय शताब्दियों के उत्कीर्णों पर हमें कुछ ऐसे निर्माण दिखाई देते हैं जो या तो गुम्बदों या रेखीय शिखरों से युक्त हैं।[1]

के० पी० जायसवाल दूसरी शताब्दी ई० पू० के खारवेल के अभिलेख के आधार पर उस समय शिखर का अस्तित्व सिद्ध करते हैं।[2] मत्स्यपुराण[3] में शिखरयुक्त मन्दिरों का उल्लेख है। प्रारम्भिक गुप्तकालीन प्रमाण मन्दिरों पर शिखर होने के परोक्ष साक्ष देते हैं। बन्धुवर्मन का सन् ४७३-७४ का अभिलेख दशपुर में कुमारगुप्त प्रथम के राज्यकाल में निर्मित जिस सूर्य मन्दिर का उल्लेख करता है, वह शिखरयुक्त था।[4] सन् ४२४-२५ के विश्ववर्मन के गंगधार अभिलेख में मयूराक्षक के द्वारा जिस विशाल विष्णु मन्दिर की निर्मिति का उल्लेख है, उसमें कहा गया है कि उस मन्दिर का शिखर कैलाश पर्वत की भांति ऊंचा था।[5] स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ अभिलेख यह उल्लेख करता है कि भगवान चक्रभृत्य का मन्दिर इतना ऊंचा था कि वह आकाश में पक्षियों का मार्ग रोकता था।[6] यद्यपि स्पष्ट पुरातत्वीय रूप से भीतरगांव और देवगढ़ के परवर्ती गुप्त मन्दिरों पर शिखरों के स्पष्ट दर्शन होते हैं, पर इन उल्लेखों से यह प्रमाणित होता है कि इस सम्बन्ध में मात्र पुरातत्वीय आधारों पर टिकना कला और इतिहास की दृष्टि से भारी भूल होगी।

एक और आधार पर भी शिखरों की प्राचीनता सिद्ध होती है। उत्तर भारतीय नागर शैली के शिखरों पर आमलक अथवा अमलसार शीर्ष होता है। शिखर के साथ ही आमलक का अस्तित्व माना गया है। आश्चर्यजनक रूप में दूसरी शताब्दी ई० पू० के बेसनगर के मन्दिर अवशेष में आमलक खोज निकाला गया है।[7] अमरावती और मथुरा के इसी समय के अवशेषों में भी आमलक उत्कीर्ण दिखाई देता है[8]। कुमारस्वामी ने तो ईसा के कई शताब्दी पूर्व रचित बौद्ध ग्रंथ में 'चुललवग्ग' में आमलक शब्द का उल्लेख पाया है।[9]

स्टेला क्रामरिश[10] ने कहा है कि मन्दिर शिखर विभिन्न कोणों से उठते हुए ऊपर की ओर सिकुड़ता चला जाता है और आमलक शीर्ष तक समाप्त हो जाता है। आमलक और शिखर के इस सह-सम्बन्ध के आधार पर यह प्रमाणित होता है कि आमलक और शिखर उत्तर-गुप्तकालीन देन न होकर ई०पू० की निकट शताब्दियों में भी अपनी विद्यमानता रखते थे। इस कारण पुन. हमारा ध्यान उन प्रासादों की ओर जाता है

---

१. हिं० इं० इं० आ०, आकृति क्र० ४१, ४३, ४५, ४६ एवं १३२.
२. के० इं० आ०, पृ० २७४.
३. मत्स्य, अध्याय २६९.
४. का० इं० इं०, ख्हा ३, पृ० ८७.
५. वही, पृ० ७६.
६. वही, पृ० ६१.
७. आ० स० इं०, १९१३-१४, पृ० १८६.
८. के० इं० आ०, पृ० २७४.
९. कुमारस्वामी, आनंद : जर्नल आफ ओरियण्टल सोसायटी, १९२८, पृ० २८२.
१०. क्रमरिश, स्टेला : जर्नल आफ इंडियन सोसायटी आफ ओरिण्टल आर्ट, १२, पृ० १८४.

जो विभिन्न भूमियों के हुआ करते थे और जिनका उल्लेख जातक कथाओं से लगाकर काव्य ग्रन्थों और पुराणों तक में आया है।

अतः यह स्पष्ट मत प्रकट करना उचित होगा कि इन्हीं प्रासादों की भव्यता को मन्दिर वास्तुकारों ने शिखरों के रूप में उतार दिया था। प्रासादों की भूमियों को यह प्रेरणा कहां से मिली ? यह विवेचन हमारा अभीष्ट नहीं है।

(१०) मन्दिर विकास का ऐतिहासिक सर्वेक्षण

मन्दिरों के उद्‌भव की चर्चा करते हुए यह निष्कर्ष निकाला गया है कि एक विशिष्ट विधा बनने के पहले मन्दिर एक प्रकार से उन आवासों व प्रासादों की प्रतिकृति रहे जो कि भारत के प्राचीन जन अपने निवास के लिये प्रयुक्त करते रहे। अतः मन्दिर वास्तुकला का परीक्षण बहुत कुछ भारतीय वास्तुकला के इतिहास की टटोल ही हो जाता है। गुप्तकाल तक भारतीय मन्दिर वास्तुकला दो परम्पराओं के रूप में विकसित हो चुकी थी। एक थी उत्तर भारत की विश्वकर्मा-परम्परा तथा दूसरी दक्षिण भारत की मय-परम्परा। मत्स्यपुराण दोनों परम्पराओं के प्रमुख आचार्यों की सूची प्रस्तुत करते हुए भृगु, अत्रि, वशिष्ट, विश्वकर्मा, मय, नारद, नग्नजित्, विशालाक्ष, पुरन्दर, ब्रह्मा, कुमार, नन्दीश, शतानक, गर्ग, वासुदेव, अनिरुद्ध, शुक्र, तथा बृहस्पति का वास्तु आचार्यों के रूप में उल्लेख करता है।[1] तारापाद भट्टाचार्य इन आचार्यों की ऐतिहासिकता पर विभिन्न दृष्टियों पर विचार करते हुए यह निष्कर्ष निकालते हैं कि विश्वकर्मा की परम्परा ही कालान्तर में नागर शैली के रूप में विकसित हुई। इस वास्तु परम्परा के पुराने आचार्यों में गर्ग का नाम आता है जिनका समय उन्होंने प्रथम शताब्दी ई० बताया है। वराहमिहिर भी इसी परम्परा का उद्‌गाता था।[2]

मय वास्तुकला को एक अनार्य वास्तुकला के रूप में स्थापना मिली। यह धारणा प्रकट की गयी है कि असुर एवं द्रविड़ वास्तु परम्परा यही मय परम्परा है। मय परम्परा के आदि आचार्यों में नग्नजित का उल्लेख प्रमुख्य रखता है।[3] असुर वास्तुकार के रूप में इस आचार्य का उल्लेख ऋग्वेद में आया है।[4] इस शैली के अन्य आचार्यों के रूप में शुक्र, नारद, भृगु आदि के नाम प्रमुखता से उल्लिखित किये गये हैं।[5] दोनों ही वास्तु पद्धतियों में आचार्यों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया तथा शिल्पशास्त्र के अनेक ग्रथों का इस प्रकार निर्माण हुआ। विश्वकर्मा पद्धति का विवरण विश्वकर्मा-प्रकाश में मूल रूप से आता है। इस ग्रंथ में विश्वकर्मा की मान्यताएं बहुत कुछ सुरक्षित मिलती हैं। मत्स्य एवं भविष्य पुराण में जो वास्तु विवरण है, उसका सम्बन्ध

---

१. मत्स्य, अध्याय २५५।४.

२. के० इं० आ०, पृ० ९७.

३. घोष, जे० सी० : इंडियन कल्चर, व्हा० ६, पृ० ३४७-५१, शतपथ ब्राह्मण, ७।३४.९; एतरेय ब्राह्मण, ७।३४.९.

४. वही.

५. के० इ० आ०, पृ० ९७.

भी इसी शैली से आता है। वराहमिहिर भी बृहत्संहिता तथा भोज का समरांगण सूत्रधार, हयशीर्ष पांचरात्र तथा गरुड़पुराण इसी परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं। दूसरी ओर सुप्रभेदागम, ईशानशिव गुरुदेव पद्धति, शिल्परत्न, वैखानसागम, शुक्रनीति, आत्रेय संहिता, मयमतम्, कश्यपतन्त्र तथा मानसार द्रविड़ शैली की वास्तु विद्याओं का उल्लेख करते हैं।[1]

कुल मिलाकर यह निष्कर्ष निकलता है कि जब आर्य भारत में आये तो यहां वास्तुकला की असुर पद्धति विद्यमान थी। हड़प्पा और मोहनजोदड़ों के अवशेष उसके प्रमाण कहे जा सकते हैं। ऋग्वेद में अनार्यों की पुरियों[2] एवं नग्नजित्[3] नामक असुर आचार्य का उल्लेख हैं। असुर अथवा अनार्य वास्तुकला प्रस्तर और ईंटों से युक्त होती थी जबकि आगन्तुक आर्यों की विश्वकर्मा वास्तुकला ईंटों और काष्ट की होती थी।[4] चौथी शताब्दी ई०पू० तक दोनों कलायें न केवल एक दूसरे के निकट आईं अपितु एक दूसरे को इस सीमा तक प्रभावित किया कि दोनों के बीच अन्तर करना कठिन हो गया। असुर अर्थात् अनार्य कला उत्तर भारत पर प्रभाव छोड़ती हुई दक्षिण भारत में मय शैली के रूप में रुढ़ होती चली गयी। उत्तर भारत की आर्य कला भी इससे पर्याप्त प्रभावित होकर विश्वकर्मा शैली के रूप में प्रसिद्ध हुई। आर्यों के दक्षिण प्रसार ने दक्षिण भारत के वास्तु को इस सीमा तक प्रभावित किया कि दक्षिण भारत के कई वास्तु उत्तर भारतीय शैली की प्रतिकृति दिखाई देने लगे। इस प्रकार यह निर्णय लेना कठिन नहीं है कि चौथी शताब्दी ई० पू० तक आर्य और अनार्य कला क्रमशः विश्वकर्मा और मय कला के रूप में एक दूसरे से इतनी निकट आ गई थी कि दोनों के मध्य कोई दृढ़ कलात्मक या भौगोलिक सीमा-रेखा खींचना कठिन था।[5] अन्तर का एक मोटा आधार दोनों के मध्य यह था कि जहां आर्य स्थापत्य आयताकार अथवा वर्गाकार होते थे, वहां अनार्य स्थापत्य षट्कोणीय, अष्टकोणीय अथवा वर्गाकार होते थे। यह वास्तु-भेद सबसे पहले स्तूपों पर प्रकट हुआ। आर्य शैली से प्रभावित स्तूप चतुरस्र तथा अनार्य शैली से प्रभावित स्तूप गोलाकार बने। आर्य शैली में काष्ट और मिट्टी तथा ईंटों का प्रयोग अधिक होने से इस शैली के प्राचीन वास्तु अब लगभग ओझल हो गये हैं, किन्तु अनार्य वास्तु में ईंटों और प्रस्तर का प्रयोग होने से कुछ वास्तु कुछ अंशों में अपना अस्तित्व बचा सके। यही कारण है कि प्रारंभिक पुराविद् बौद्ध स्थापत्य को पूरी तरह अनार्य स्थापत्य से उद्भूत मान बैठे। किन्तु विगत दशकों में हुई पुरातत्वीय खोजों और अनेक साहित्यिक सन्दर्भों ने यह सिद्ध कर दिया है कि ये बौद्ध निर्माण आर्य और अनार्य संस्कृति को समन्वित कर लेने वाले बुद्ध-पूर्व के ब्राह्मण धर्म की ही देन है।[6]

बौद्ध वास्तु की भांति ही मन्दिर वास्तु भी इसी आर्य-अनार्य समन्वित वास्तुकला की देन कही जा सकती है। इस समन्वित वास्तुकला पर जो आंचलिक एवं भौगोलिक प्रभाव पड़ा, यह धीरे-धीरे अपने में कई

---

१. के० इ० आ०, अध्याय १३.
२. ऋ० ६।३०.२०; ५।१९-२.
३. ऋग्वेद : १०।६७.३.
४. घोष, जे० सी० : इंडियन कलचर, व्हा० ६, पृ० ३४७-५१.
५. के० इं० आ०, पृ० ३१५-१६.
६. वही, पृ० ३०८-१०.

अपवाद छोड़ते हुए उत्तर भारत में विश्वकर्मा व दक्षिण भारत में मय शैली के रूप में विकसित हुआ। छठी शताब्दी ई० पू० तक आते-आते शैलियों के इन नामों में परिवर्तन होने लगा। उत्तर भारत की विश्वकर्मा शैली कुछ विशिष्ट वास्तु मूल्यों के साथ विकसित होकर नागर शैली कहलाई जब कि दक्षिण भारत की मय शैली स्वतः में कुछ विशिष्ट आंचलिक और परम्परागत विधाओं को विकसित करती हुई द्रविड़ शैली के रूप में सामने आयी।[1]

नागर शैली—ऊपर के विवरण से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि नागर शैली आर्य-शैली का ही परिवर्तित और परिवर्धित रूप है। इस शैली का सबसे प्रथम प्रामाणिक उद्‌गाता गर्ग माना गया है। इसने नाग राजाओं के आधीन ई० पू० की प्रथम शताब्दी में अपने ग्रंथ का प्रणयन किया।[2] यह एक उत्तेजक विडम्वना ही मानी जावेगी कि आर्यों की विश्वकर्मा शैली का नागर नामकरण अनार्य नागों ने किया। नागर शैली जैसा कि के० पी० जायसवाल कहते हैं नागों से अपने नाम को उधार लेती है।[3] जब आर्यों की ईंटों और काष्ट की वास्तुकला नागों की प्रस्तर कला का अवलम्बन ग्रहण कर गई, तो वह नागरशैली के रूप में सामने आयी। जो लोग बौद्ध चैत्य, स्तूप और विहार बनाते रहे, वे अब आर्य देवी-देवताओं के प्रस्तर मन्दिर बनाने लगे यद्यपि मन्दिर शिल्प के आधार पूर्ववर्ती ही रहे।

पूर्व में यह देखा जा चुका है कि उत्तर वैदिककालीन साहित्य में देवगृहों, देवकुलों तथा देवायतनों के रूप में मन्दिरों का उल्लेख हुआ है। बौद्ध और वैदिक साहित्य में प्रासादों, हर्म्यों और विमानों के रूप में मन्दिर का परोक्ष उल्लेख आता रहा है किन्तु कौटिल्य का अर्थशास्त्र[4] इस दृष्टि से सीधे और स्पष्ट प्रमाण देता हुआ नगरों और दुर्गो में अपराजित, अप्रतिहत, जयन्त, विजयन्त, शिव, वैश्रवण, अश्विनी, श्री और मन्दिर जैसे देवी-देवताओं के कोष्ठ निर्माण की बात करता है। महाभाष्यकार पंतजलि, केशव, [illegible] तथा धनपति कुबेर के मन्दिरों के सन्दर्भ देता है।[5] मनु-स्मृति में भी देवताओं की मूर्तियों एवं पुजारियों का [illegible] मिलता है।[6] दूसरी शताब्दी ई० पू० के अभिलेखीय साक्ष मन्दिर निर्माण की सूचना देने लगते हैं। इसमें सबसे अग्रणी बेस नगर का हैलियोडोर का स्तम्भ लेख है।[7] बेस नगर में ही एक अन्य अभिलेखीय प्रमाण ई०पू० की निकट शताब्दियों में मन्दिर निर्माण की सूचना देते है।[8] चितौड़ के निकट नगरी व घोशुंडी का अभिलेख

---

१. के० इ० आ०, पृ० २०४.

२. वही, पृ० ६७.

३. जायसवाल, के० पी० : एन इंम्पीरियल हिस्ट्री आफ इंडिया; मजूमदार, वी० पी० : पटना युनिवरसिटी जर्नल, व्हा० २, क्रं० २ व ३, पृ० ७२-६३.

४. अर्थशास्त्र, २।४.१७.

५. पतंजलि, २।२.३४.

६ मनुः, ३।१५२.

७. सरकार, डी० सी० : सैलेक्ट इंस्क्रिप्शन्स, पृ० ८८.

८. बेनर्जी, जे० एन० : डेवलपमेन्ट आफ हिन्दू आइकानाग्राफी, पृ० ६२.

लगभग इसी समय वासुदेव और शंकर्षण के मन्दिर के निर्माण का उल्लेख करता है। इस अभिलेख में नारायण-वाटिका की चर्चा भी आती है।[१]

मथुरा में महाक्षत्रप रजुवल के पुत्र महाक्षत्रप षोडास का प्रथम शताब्दी ई० पू० जो अभिलख मिला है, वह पंच वैष्णव वीरों के मन्दिर के निर्माण की बात करता है।[२] एक अन्य अभिलेख महास्थान में इसी समय में मन्दिर के अस्तित्व की सूचना देता है।[३]

अभिलेखों के अतिरिक्त उत्खनन द्वारा भी इन स्थानों पर मन्दिरों के प्रमाण प्राप्त होते हैं। अभी हाल ही में बेस नगर में एक दीर्घवृत्त मन्दिर के अवशेष पुराविदों ने खोज निकाले हैं। एम० डी० खरे ने उसका समय ३सरी सदी ई०पू० माना है।[४] यह मन्दिर वस्तुतः एक शताब्दी बाद का निर्मित प्रतीत होता है।[५] वेस नगर में ही दूसरी शताब्दी ई०पू० के एक मन्दिर के अवशेष मिले हैं। इनमें एक आमलक मिलने से इस मन्दिर के शिखरयुक्त होने की कल्पना को बल मिलता है।[६] नगरी में पूजा शिला प्रकार के एक विष्णु मन्दिर का एक प्लेटफार्म खोज निकाला गया है। इसके आसपास का रेलिंग भी मिला हैं जिसमें ८ या ९ फीट (२३-२४ सेःमी०) ऊंचे भारी प्रस्तर खण्डों का उपयोग किया गया था।[७] सिक्के भी इस क.ल में मन्दिर निर्माण के संकेत देते हैं। औदम्बरों के सिक्कों[८] पर स्तंभों पर निर्मित त्रितलीय गुम्वद युक्त गुहा विहारों जैसे मन्दिरों का अंकन है। ऐसा लगता है कि यह मन्दिर स्तम्भों पर बने हुए प्रतीत होते हैं। ये नींव एवं शीर्ष-विहीन किन्तु पोर्च युक्त थे। समकालीन प्रस्तर चैत्यों से कुछ मिलते जुलते ये मन्दिर सादे व काष्ट निर्मित रहे होंगे। पंजाव के लुधियाना जिले में वहां के स्थानीय जन के कुछ सिक्के ई०पू० की प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी के प्राप्त होते हैं। ये सिक्के शीशे के हैं। इनके पृष्ठ पर उत्कीर्ण वास्तु किसी काष्ट निर्मित मन्दिर का दिखाई देता है जिसकी छत दोहरे तल वाली पिरामिडीय है। मण्डप स्तम्भों से युक्त और खुला हुआ है। ये भी अनींव प्रतीत होते हैं।[९]

ये पुरातत्वीय सन्दर्भ ई०पू० के मन्दिरों पर निश्चित ही एक धुंधला किन्तु अत्यन्त प्रामाणिक प्रकाश डालते हैं। जव मन्दिरों के निर्माण की यह परम्परा चल रही थी, तब आर्य और अनार्य भारत के

---

१. इं० इं० २२, पृ० २०४.
२. वही, पृ० १९४.
३. चन्दा रामप्रसाद : विगिनींग आफ इण्डियन आर्ट इन इस्टर्न इण्डिया (एम० ए० एस० क्रं० ५), पृ० १६८-७३.
४. खरे, एम० डी० : वाघ; पृ० १३.
५. आ० स० इं०, १९१३-१४, पृ० १८९.
६. जैन, के० सी० : ए० सी० टा० रा०, पृ० ९८.
७. कनिंघम, ए० : का० आ० ए० इ०, पृ० ६८.
८. अधिक विवेचन अध्याय ४ में दिया गया है.
९. जे० एन० एस० आई, व्हा० ६, पृ० ५४-५६; सोझीनी, एस० व्ही० : जे०एन० एस० आई०, व्हा० ४, पृ० ५५.

विभिन्न भागों में स्तूपों, चैत्यों और विहारों का निर्माण ईंटों और प्रस्तरों को आधार मानकर हो रहा था। गुप्तकाल में मन्दिरों की दो प्रकार की पुरातत्वीय शृंखलाएं हमारे सामने छोड़ी गई हैं। प्रारम्भिक शृंखला में सपाट छत वाले शिखरविहीन मन्दिर आते हैं। उदयगिरि (विदिशा) के गुहा मन्दिरों, तिगवा के विष्णु मन्दिर, एरण के नृसिंह मन्दिर, सांची का मन्दिर क्रमांक १७, भूमरा के मन्दिर तथा नाचना का प्रारम्भिक मन्दिर इस श्रेणी में आते हैं।[1] नगरी में ५वीं शताब्दी ई० में एक विष्णु मन्दिर था जो आमलक युक्त शिखर से सम्पन्न था।[2] छठी शताब्दी के पार होते ही ये गुप्त मन्दिर शिखरयुक्त होने लगे थे। नाचनाकुठार के अन्य तथा देवगढ़ के मन्दिरों से यह बात प्रमाणित होती है।[3] किन्तु केवल पुरातत्वीय आधार को ही प्रमाणीकृत मानने वाले वास्तु समीक्षकों की इस बात में दम नहीं है कि शिखर छठी शताब्दी ई० से प्रारम्भ होने वाली एक गुप्तकालीन मन्दिर विधा है। स्वयं मन्दसौर एवं गंगधार के औलिकरों के ५वीं शताब्दी के अभिलेखीय साक्ष मन्दिरों पर शिखरों की बात कहते हैं। जैसा कि इसी अध्याय में पूर्व में देखा जा चुका है, साहित्यिक अथवा सिक्कों के प्रमाण ई० पू० की शताब्दियों में भी मन्दिर शिखरों का प्रमाण देते हैं।

फरग्यूसन[4] और पर्सी ब्राउन[5] ७वीं शताब्दी से नागर, द्राविड़ एवं बेसर नामक मन्दिर शैलियों की चर्चा करने हैं। इसको भौगोलिक आधार देते हुए वे हिमालय से लेकर विन्ध्य तक के मन्दिरों को नागर, कृष्णा से दक्षिण के मन्दिरों को द्राविड़ तथा चालुक्य मन्दिरों को बेसर शैली का मानते हैं। कई दृष्टि ों से उनके ये मत विचारणीय है :—

(१) **शैलियों की मौलिकता**—दोनों महानुभाव नागर और द्राविड़ शैली को ही मूल शैली मानते हैं। बेसर शैली को तो वे दोनों शैलियों का समन्वय मानते हैं। अतः मौलिकता की दृष्टि से बेसर शैली अर्थ नहीं रखती।

ऊपर इस बात का पर्याप्त विवेचन हो चुका है कि दोनों शैलियों की पूर्ववर्ती शैलियां प्रथमतः आर्य एवं असुर (अनार्य) तथा द्वितीयतः विश्वकर्मा एवं मय वास्तु शैली के रूप में अस्तित्व में रही। दोनों एक दूसरे से इतनी समन्वित होकर चली कि दोनों में बहुत अधिक शिल्पगत एवं भौगोलिक या क्षेत्रगत अन्तर करना कठिन है। यही कारण है कि ऐहोल में तथाकथित नागर शैली के तथा धमनार, ग्वालियर एव भुवनेश्वर में तथाकथित द्राविड़ शैली के मन्दिरों के दर्शन हो जाते हैं।

द्राविड़ शैली के गोलाकार स्तूप उत्तर भारत में कई स्थानों पर स्थान पाते हैं, तो नागर शैली की चतुरस गुफाएं दक्षिण भारत में भी मिल जाती हैं।

---

१ प्रा० भा० स्तू० गु० म०, पृ० २०८, इं० आ०, पृ० ५८.

२. एन्युअल रिपोर्ट आफ राजपूताना म्युजियम, अजमेर, १९१५-१६, क्रं० १ व २.

३. प्रा० भा० स्तू० गु० मं०, पृ० २०९.

४. के० इ० आ०, पृ० १५३, स्ट्र एम्या, पृ० ३५०.

५. इं० आ०, पृ० ७६ (पर्सी ब्राउन नागर शैलो को इण्डो-आर्यन संबोधित करते हैं).

(२) यह तर्क दिया जाता है कि नागर और द्राविड़ दोनों शैलियां ७वीं शताब्दी लगते-लगते स्पष्ट ही एक दूसरे से पूरी तरह भिन्नता रखने लगी थीं। यह बात वजन रखती है क्योंकि इसके पूर्व में नागर एवं द्राविड़ मन्दिरों के बीच अन्तर स्पष्ट करने वाले अनेक साहित्यिक संदर्भ बड़े विस्तार से हमारे सामने दोनों शैलियों के मन्दिरों का व्यापक वर्गीकरण करते हुए उपस्थित होते हैं।

विश्वकर्मा प्रकाश, मत्स्यपुराण, बृहत्संहिता एवं भविष्यपुराण बीस प्रकार के नागर मन्दिरों का उल्लेख करते हैं। इनके नाम मेरु, मंदर, कैलाश, विमानच्छन्द, नन्दीवर्धन, नन्दन, सर्वतोभद्र, वृष, सिंह, गज या कुंजर, कुंभ या घट, समुद्रक या समुद्र, पद्म, सपर्ण या गरुड़, हंस, वर्तुल या वृत चतुरस या चतुष्कोण, अष्टास्र, षोडषास्र, गृहराज, या मृगराज श्रीवृक्ष हैं। ये सब स्रोत पूर्व मध्यकालीन हैं और अपने समय के मन्दिरों का स्मरण कराते हैं। समरांगण सूत्रधार के अध्याय ६३ में इनका उल्लेख है, किन्तु अध्याय ६० में इनमें से केवल आठ का उल्लेख है। ग्रन्थ में २८ अन्य नागर मन्दिर का उल्लेख करते हुए कुल ३६ नागर मन्दिरों की चर्चा की गई है। इस तरह समरांगण सूत्रधार प्राचीन २० नागर मन्दिरों सहित कुल ४८ नागर मन्दिरों की बात करता है। उत्तरकालीन नागर एवं लाट शैली के मन्दिरों की चर्चा भी ग्रन्थों में की गयी है। इन मन्दिरों को ५ समूहों में वर्गीकृत किया गया है। वैराज्य समूह के मन्दिर वर्गाकार होते थे। पुष्पक समूह के मन्दिर आयताकार, कैलाश समूह के मन्दिर वृत्ताकार, मणिक समूह के मन्दिर अण्डाकार तथा त्रिविष्टम् समूह के मन्दिर अष्टकोणीय होते थे। हयशीर्ष पांचरात्र, अग्निपुराण तथा गरुड़पुराण में वैराज्य समूह के ९ मन्दिरों का उल्लेख आता है, जिनके नाम : मेरु, मंदर, विमान, नन्दीवर्धन, नन्दन, सर्वतोभद्र, भद्र, रोचक व शिववत्स कहे गये हैं। समरांगण सूत्रधार में २४ वैराज्य मन्दिरों का उल्लेख आता है। इन मन्दिरों में उक्त वामन, नन्दीवर्धन, नन्दन, सर्वतोभद्र, भद्र व रुचक सम्मिलित किये गये हैं। पुष्पक समूह के ९ मन्दिरों को हयशीर्ष पांचरात्र, अग्निपुराण तथा गरुड़पुराण में वलभी, गृहराज, मन्दिर, ब्रह्म मन्दिर, भुवन, प्रभव, शिविका, शाला तथा विशाला नाम दिये हैं। समरांगण सूत्रधार गृहराज, प्रभव, शिविका, विशाला, द्विशाल, अमल, विभु, भव, मुखशाल तथा सौ-मुख्य मन्दिरों की चर्चा करता है।

उपर्युक्त प्रथम तीन ग्रन्थ पुनः कैलाश समूह के मन्दिरों के बारे में लगभग एक मत हैं एवं वलय, दुंदुभी, पद्म, महापद्म, मुकुली या वर्धनी, उष्णीश, शख, कलश तथा श्रीवृक्ष अथवा गुहावृक्ष नामक मन्दिरों का उल्लेख करते हैं। समरांगण सूत्रधार कैलाश समूह के मन्दिर में वलय, दुंदुभी एवं पद्म को परम्परागत सूची से लेता है किन्तु मन्दिरों की अपेक्षा सात मन्दिर प्रभेद अपनी ओर से जोड़ता है। मणिक समूह के मन्दिरों की सूची में समरांगणसूत्रधार १० सर्वथा नये मन्दिर प्रभेद शामिल करता है जबकि पूर्व के ३ ग्रंथ जिन नौ मन्दिर प्रभेदों का उल्लेख करते हैं, उनके नाम हैं—गज, वृष, हंस, गरुड़, ऋक्ष या ऋक्षनायक, भूषण या भूमुख, भूधर, श्रीजय एवं पृथ्वीधर। त्रिविष्टप सूची में वज्र, चक्र, स्वस्तिक, वज्र स्वस्तिक या वक्र, वक्र, स्वस्तिक, खड्ग, गदा, श्रीकंद एवं विजय का उल्लेख प्रथम तीन ग्रन्थों में आता है। समरांगण सूत्रधार इनमें से केवल वज्र का उल्लेख करते हुए अन्य नौ नये नाम अपनी ओर से सम्मिलित करता है। इस प्रकार समरांगण सूत्रधार जो ६४ मन्दिर प्रभेद प्रस्तुत करता है, उनमें से केवल १५ प्रभेद ही परम्परागत सूची के हैं।

नागर शैली के मन्दिरों का यह वर्गीकरण यह तो सिद्ध करता है कि नागर शैली का उद्भव गुप्त-काल से भी पूर्व होने लगा था किन्तु पुरातत्वीय प्रमाणों की दृष्टि से मिलान करने पर हम केवल इतना कह सकते

हैं कि ग्रन्थों में उल्लिखित यह प्रभेद केवल सिद्धान्त रूप में ही थे। नागर शैली के जो प्राचीन मन्दिर उपलब्ध हुए हैं उनसे इनकी संगति बिठा पाना अत्यन्त कठिन है। अतः हमें इस सारे विस्तृत साहित्य के बाद भी मन्दिर वास्तु शैलियों के विवेचन के लिये आधुनिक कला समीक्षकों पर ही निर्भर करना होता है।

द्राविड़ शैली :—जैसा कि इस अध्याय में अन्यत्र देखा जा चुका है, द्राविड़ वास्तुशैली अनार्य-असुर-नाग शैली की ही परम्परा का विकसित रूप है। यह रूप उत्तर की आर्य शैली से पर्याप्त प्रभावित होते हुए मय शैली के रूप में विकसित हुआ। कालान्तर में दक्षिण भारत के अंचलों की स्थानीय विधाओं से प्रभावित हो उत्तर की नागर शैली की स्पर्धा में द्राविड़ शैली के रूप में सामने आया।

सुप्रभेदागम नामक ग्रंथ में १४ प्रकार के द्राविड़ मन्दिरों का उल्लेख है। ईशानशिव-गुरुदेव-पद्धति ३२, शिल्परत्न नामक ग्रंथ ३१, वैखानसागम नामक ग्रंथ २६, शुक्रनीति १७ तथा अत्रिसंहिता ९६ द्राविड़ मन्दिरों की सूची देते हैं। सबका समन्वय करने पर द्राविड़ मन्दिरों की सूची में १३७ प्रभेद आते हैं। इनमें बहुत से नाम तो ऐसे हैं जो नागर मन्दिरों की सूची में भी आते हैं जैसे मेरु, मंदर, कैलाश, सर्वतोभद्र आदि। उत्तरकालीन द्राविड़ मन्दिरों की एक से लगाकर सोलह भूमियों के विभिन्न वर्गीकरण शिल्परत्न, मय-मतम्, काश्यपसंहिता एवं मानसार नामक ग्रंथों ने दिये हैं। यदि इनकी सूची बनाई जाय तो इन प्रभेदों की संख्या १०० से भी अधिक चली जाती है।

इन प्रभेदों के साथ भी वही कठिनाई है। यह प्रभेद सैद्धान्तिक पक्ष ही प्रस्तुत करते हैं। पुरातत्वीय दृष्टि से इनकी संगति बिठाना असंभव है।[1] विद्वानों के एक वर्ग ने यह तर्क दिया है कि नागर और द्राविड़ शैलियों में कठोर प्रभेद ७वीं शताब्दी के बाद ही आया। उससे पूर्व तो नागर और द्राविड़ शैली एक दूसरे से इतनी निकट थीं कि दोनों में स्पष्ट अन्तर करना कठिन था या ऐसा लगता है कि मानों वे एक ही शैली की दो शाखाएं हों।[2]

जब हम विशुद्ध पुरातत्वीय दृष्टि से द्राविड़ शैली के मन्दिरों को देखते हैं तो प्रारम्भ में नागार्जुन-कोंडा, अमरावती, भट्टीप्रोल व घंटशाल के स्तूपों तथा अजन्ता ऐलोरा, कार्ले, कान्हेरी, बेदसा, पीतलखोरा, नासिक एवं कोण्डाने के प्रारंभिक बौद्ध गुहा-चैत्यों को पाते हैं। उपरान्त तेर, चेजरला एवं सामलपुरम के उन मन्दिरों को देखते हैं, जो ४थीं शताब्दी ई० के हैं और स्पष्ट ही उल्लिखित बौद्ध निर्माणों की मन्दिर अनुकृति दिखाई देते हैं। किन्तु लगता है कि ये द्राविड़ शैली के अन्तर्गत मात्र अपवाद हैं। दक्षिण भारत के शेष मन्दिर अपनी भिन्न विधा ही प्रस्तुत करते हैं और बौद्ध निर्माणों के पूर्व की वास्तु-परम्परा को ही आगे बढ़ाते हैं। ७वीं शती के उपरान्त स्पष्ट ही मंदिरों का विकास क्रम मूल रूप से दो भागों में विभक्त हो गया। एक नागर शैली के मन्दिर, जो उत्तर भारत में दूर-दूर तक व दक्षिण भारत में एहोल व पत्तदकल में बनाये गये। दूसरे द्राविड़ शैली के मन्दिर जिनका केन्द्र प्रमुख रूप से दक्षिण भारत रहा किन्तु उत्तर भारत में भी घमनार, ग्वालियर, बड़ोह एवं भुवनेश्वर में इस शैली के दर्शन मिल जाते हैं। चालुक्यों के आधीन बेसर शैली

---

१. इस शीर्षक के सम्पूर्ण विवेचन के लिये लेखक तारापाद भट्टाचार्य के ग्रंथ 'दी केनन्स ऑफ इण्डियन आर्ट' (पृ० ४४४-८०) का आभारी है।

२. के० इ० आ०, पृ० १७३.

का विकास हुआ, जिसका प्रमुख केन्द्र एहोल रहा। यह मन्दिर-शैली नागर एवं द्राविड़ शैलियों का मिश्रण थी। अतः मौलिकता नहीं रखती। न जाने क्यों बेसर शैली का नाम अधिक सामने आया जबकि दो प्रमुख शैलियों के मिश्रण से कई (राजपूत, मध्यभारतीय) अन्य शैलियां भी सामने आयी थीं।

नागर शैली के अन्तर्गत लाट, उत्कल, बंगाल व कश्मीर शैलियों का तथा द्राविड़ शैली के अन्तर्गत वराट, आन्ध्र, चालुक्य (बेसर), चोल, होयसल व विजयनगर शैलियों का विकास हुआ।[1] यह दुहराने की आवश्यकता नहीं है कि सब शैलियां ६ठी शताब्दी के बाद ही अपनी विशिष्टता पा सकी तथा इनमें जो भी वास्तु-तत्व आये, वे दोनों ही मुख्य शैलियों से लिये गये। स्थानीय वास्तु का उन पर भरपूर प्रभाव पड़ा। स्थानीय वास्तु का यह प्रभाव इतना जबरदस्त था कि जब ई० पू० की शताब्दियों में विश्वकर्मा और मय शैलियां एक दूसरे से कई दृष्टियों से भिन्न हो रही थीं, यह स्थानीय प्रभाव ही था जिसने नागर और द्राविड़ शैलियों के मध्य स्पष्ट ही एक कठोर वास्तु दीवार खींच दी। ६ठी शताब्दी तक यह कठोरता बहुत घनीभूत हो गई और जैसा कि ऊपर देखा जा चुका है, दोनों ही शैलियों के मिश्रण से बेसर शैली सामने आई। साथ ही इन दोनों शैलियों के अन्तर्गत अन्य कई उप-शैलियां विकसित हुईं। द्राविड़ शैली के अन्तर्गत ६०० से ९०० ई० तक पल्लव शैली का, ९०० से ११५० ई० तक चोल शैली का, ११५० से १३५० ई० तक पाण्ड्य शैली का तथा १३५० से १५६५ ई० तक विजयनगर शैली का एवं १६०० ई० के आसपास मदुरा शैली का विकास हुआ।[2] उत्तर भारत तो विकास क्रम की इस दीर्घता की कल्पना भी नहीं कर सकता था, क्योंकि १२वीं शताब्दी के बाद मन्दिर बनाने की कल्पना तो ठीक उसे सुरक्षित कर पाना भी एक असंभव कार्य था। मुस्लिम आक्रमणों के कारण एवं मुस्लिम शासन में नागर शैली के मन्दिर जब बुरी तरह ध्वस्त किये जा रहे थे, द्राविड़ शैली भी विधर्मियों की हथौड़ियों की चोट खाते हुए भी ? विकासशील होती चली जा रही थी।

स्थिति जो भी रही हो, दोनों शैलियों में ६ठी शताब्दी के बाद स्पष्ट अन्तर होने लगता है। नागर शैली के मन्दिर चतुष्कोण होते थे। उन पर शिखर और शिखर पर आमलक होते थे। प्राचीन प्रासादों के जो विभिन्न तल हुआ करते थे, उन्हें मन्दिरवास्तु में घनीभूत करके शिखर भूमियों में परिवर्तित किया गया। नागर शैली के ये मन्दिर निम्नवर्ती और ऊर्ध्ववर्ती इन दो भागों में विकसित होते थे। निम्नवर्ती भाग मूल विमान होता था जो त्रिरथ, पंचरथ या सप्तरथ होता था। ऊर्ध्व भाग शिखर होता था। उसकी अधिकांशतः तीन, पांच, सात या नौ भूमियां होती थीं। ये भूमियां विभिन्न श्रृंगों द्वारा प्रकट की जाती थीं। नागर शैली के मन्दिर को अष्टवर्गीय कहा गया है। कामिकागम के अनुसार ये आठ वर्ग-मुख, मसूरक, जंघा, कपोत, शिखर, गल, ऊर्धविन्दु तथा कुम्भ एवं शूरयुक्त आमलसार होता था। अन्यत्र भी नागर शैली के मन्दिरों में जंघा, भित्ति, रथक, शुकनासा, शिखर, कंठ व आमलसार वर्गों का उल्लेख आता है।[3] एस० के० सरस्वती उड़ीसा के मन्दिरों के विशिष्ट सन्दर्भ में कहते हैं कि नागर शैली के मन्दिरों के रथ चतुरस्र तथा आयतस्र होते थे। साथ ही वे आमलक युक्त रेखा शिखर वाले होते थे।[4]

---

१. आचार्य प्र० कु० : इण्डियन आर्किटेक्चर, पृ० ११३; के० इं० आ०, पृ० १६७.
२. ब्राउन पर्सी : इं० आ०, पृ० ९४.
३. के० इं० आ०, पृ० २०९.
४. स्ट्र०एम्पा०, पृ० ५३१-१३३.

द्राविड़ मन्दिर भी वैसे ही प्रमुख रूप से ऊर्ध्व एवं अध: इन दो भागों में विभक्त रहते थे। रथों की योजना भी विभिन्न आयामी होती थी, किन्तु आयामों की संरचना नागर शैली की संरचना की अपेक्षा पर्याप्त भिन्न होती थी। द्राविड़ शैली में शिखरों का स्थान गोपुरम् ने लिया था। गोपुरम् में विभिन्न भूमियों को धनीभूत न करते हुए विभिन्न मंजिलें लम्बाई और चौड़ाई में क्रमश: कम की जाती हुई ऊपर उठाई जाती थीं। अन्ततः कील शैली की छत तक उसे पहुंचाया जाता था। विभिन्न भूमियों के शीर्ष पर आमलक न होकर स्तूपी होती थी। साधारणतः द्राविड़ मन्दिर षड् वर्ग के होते थे। इन वर्गों के नाम अधिष्ठान, पाद, पक्ष, ग्रीवा, शिखर व स्तूपिका होते थे।[1]

एस० के सरस्वती के अनुसार जहां नागर शैली के मन्दिर आरम्भ में चतुष्कोणीय एवं विकसित रूप में स्वस्तिक शैली में होते थे, वहां द्राविड़ मन्दिर साधारणतः अष्टकोणीय एवं कहीं षट्कोणीय होते थे।[2] वेसर शैली के निर्माण वृत्ताकार होते थे। यह शैली दोनों प्रमुख शैलियों का मिश्रण थी तथा चालुक्यों को प्रिय थी। इस शैली पर नागर प्रभाव बहुत अधिक था क्योंकि ऐहोल एवं वातापी जैसी शैली के प्रमुख केन्द्रों पर आज भी हमें नागर शैली के प्राचीन मन्दिर दिखाई देते हैं।[3]

१०वीं से १३वीं शताब्दी के मध्य मालवा में परमारों के आधीन भूमिज शैली का विकास हुआ। इस शैली के मन्दिरों की योजना तारकाकृत थी, जो स्पष्ट ही द्राविड़ प्रभाव की स्वीकृति थी। किन्तु अपने उठाव में ये पंच रथ या सप्त रथ होते थे एवं न्यूनाधिक रूप में रेखा शिखर से युक्त एवं सश्रृंग होते थे।[4] अत: द्राविड़ शैली की बुनियाद पर खड़े, नागर शैली के कला बोध को परिपूर्णता से आत्मसात् करने वाले, विभिन्न श्रृंगभूमियों एवं आमलकों की छाया में छटा बिखरने वाले शिखरों से युक्त जिस वास्तु शैली के दर्शन हमें इस काल में होते हैं, वह भूमिज शैली थी। यह शैली मालवा तक ही सीमित नहीं रही। सीमान्त प्रदेशों यथा राजस्थान, महाकौशल, गुजरात एवं महाराष्ट्र में भी इसी समय इस शैली के मन्दिरों का निर्माण हुआ।[5]

(घ) मालवा एवम् मन्दिर वास्तुकला

उत्तर और दक्षिण भारत का संधिस्थल होने के कारण मालवा ने न केवल विभिन्न प्रकार की वास्तु शैलियों का समन्वय किया, अपितु अपनी ओर से अनेक मौलिक आयाम प्रस्तुत किये। अभी हाल में दंगवाड़ा की खुदाई में ३५०० वर्ष पुराने एक ऐसे गृह देवालय के ताम्राश्मयुगीन अवशेष मिले हैं, जो यज्ञ कुण्ड से युक्त था।[6] यह निष्कर्ष अत्यन्त चौकानेवाला और तथ्यान्वेषण की अपेक्षा रखता है। अभी पुराविदों को इस प्रारंभिक रपट पर निर्णायक कलम उठाना शेष है। किन्तु इतना तय है कि विभिन्न शैलाश्रयों में मालवा के

---

१. स्टू० एम्पा०, पृ० ५३१-३३.

२. वही.

३. प्रा० भा० स्तू० गु० मं०, पृ० २१५.

४. इस शैली पर विशद् चर्चा अध्याय ७ में की गई है।

५. कृष्णदेव : अध्यक्षीय भाषण, आ० प० मा०, पृ० १८-२२.

६ विक्रम विश्वविद्यालय २३वां वार्षिक प्रतिवेदन (१९७९-८०) पृ० १५-१६.

प्रागैतिहासिक मानव ने जो धार्मिक एवं सांस्कृतिक आस्थाएं शैलचित्रों के माध्यम से प्रकट कीं, उनका जब आर्यकरण हुआ होगा, तो ऐसे गृह देवायतन सामने आये होंगे।

भारत के अन्य भागों की ही भांति मौर्य पूर्व काल से ही यहां स्तूप निर्माण परम्परा प्रारम्भ हो गयी थी। वैश्या टेकरी इसका प्रमाण है। सांची और कसरावद के स्तूप, संघाराम और विहार मौर्यकालीन धार्मिक स्थापत्य को प्रस्तुत करने को पर्याप्त हैं। यह मालवा का सौभाग्य ही कहा जावेगा कि पुरातत्वीय दृष्टि से भारत के पहले विष्णु मन्दिर का प्रमाण हमें विदिशा में मिला है।

नागर शैली के विकास का कुछ श्रेय मालवा को भी है। गुप्त स्थापत्य की ऊंचाइयों के प्रारम्भिक दर्शन हमें उदयगिरि के गुहा मन्दिरों और सांची के मन्दिरों में होते हैं। गुप्तकाल के उपरान्त मौर्य, राष्ट्रकूट व प्रतिहार शैलियों का स्थापत्य समन्वय भी मालवा ने किया। उस युग के बीतने पर मालवा ने भूमिज शैली के मन्दिरों की धूम मचा दी किन्तु मौलिकता एवं प्रयोग धर्मिता के लिये स्वतः को सदैव खुला रखा।

मालवा के प्रारम्भिक देवायतन संभवतः बांस, काष्ठ एवं मिट्टी के बनते रहे और इस कारण उत्तर भारत के आर्य मन्दिरों की भांति ही समय ने उन्हें मिटा दिया। प्रद्योत और मौर्यकाल में काष्ठ तथा ईंटों का प्रयोग हुआ। वैश्या टेकरी, सांची और कसरावद में ये ईंटें देखी जा सकती हैं। मुरंम और मिट्टी का प्रयोग स्तूपों के भराव के लिये हुआ। सागवान की बहुमूल्य लकड़ी से मालवा क्षेत्र सम्पन्न रहा। वास्तु निर्माण में भी इसका प्रयोग हुआ। उज्जैन के प्रद्योतकालीन परकोटे में प्रयुक्त हुए सागवान के काष्ठ-स्तम्भ उत्खनन में प्राप्त हुए हैं। शीशम, सादड़, काला अंजन, बबूल आदि इमारती लकड़ी का प्रयोग मन्दिरों की काष्ठ सामग्री बनाने की दृष्टि से पहले भी होता रहा और आज भी हो रहा है।

चैत्यों और विहारों की निर्माण की दृष्टि से मालवा का पत्थर कुछ कच्चा निकला। उदयगिरि का प्रस्तर अवश्य कुछ टिकाऊ सिद्ध हुआ। इसी कारण वह गुप्तकालीन गुफाओं को हम तक सुरक्षित रख पाया है किन्तु बाघ, धमनार, खेजड़िया भोप, विनायका और कोलवी की गुफाओं का निर्माण अजन्ता, एलोरा, माजा, कार्ले जैसी दक्षिण भारतीय, उदयगिरि खण्डागिरि जैसी पूर्व भारतीय तथा बराबर और नागार्जुन जैसी उत्तर भारतीय गुफाओं जैसा स्थायी सिद्ध नहीं हुआ; क्योंकि मालवे की इन गुफाओं के पत्थर समय, वर्षा, मौसम एवं बाढ़ के कारण अत्यधिक क्षरण-शील सिद्ध हुए। परिणामस्वरूप ये वास्तु अब विदाई की तैयारी कर रहे हैं।

मालवा के वास्तुकारों से यह तथ्य छिपा नहीं रहा। अतः उन्होंने शीघ्र ही गुहाओं की अपेक्षा मन्दिर निर्माण की ओर ध्यान दिया। पूर्वी और पश्चिमी मालवा में जहां पहाड़ियों पर मजबूत बलुआ एवं काले पत्थर विद्यमान हैं प्रस्तर निर्मित मन्दिरों का निर्माण प्रारम्भ हुआ। इसमें विदिशा जिला अग्रणी हुआ। अति प्राचीनकाल से विकसित होने, महत्वपूर्ण राजनैतिक केन्द्र होने तथा उत्तर एवं दक्षिण भारत को जोड़ने वाले व्यापार मार्गों पर स्थित होने से यहां मन्दिर निर्माण की सुदृढ़ वास्तु परम्परा रही। कालान्तर में मंदसौर जिला इस दृष्टि से बहुत सम्पन्न हुआ। दक्षिण मालवा में नर्मदा के कांठे के चिकनाई लिये नीली, काली और पीली झांई वाले मजबूत प्रस्तरों का प्रयोग वास्तुकारों को बहुत आकर्षक लगा। परिणामस्वरूप नेमावर, ओंकार मांधाता और ऊन के मन्दिर सामने आये। मध्य मालवा में प्रस्तर की कमी और काली मिट्टी का आधिक्य था। अतः सम्पन्न लोगों द्वारा उज्जैन जैसे तीर्थ स्थलों पर एवं अपवाद स्वरूप यत्र-तत्र प्रस्तर मन्दिर

बनवाये गये। चूंकि प्रस्तर खण्ड दूर से लाने होते थे इस कारण काष्ठ और ईंटों के मन्दिरों का भरपूर निर्माण हुआ। समय और विधर्मियों द्वारा ध्वंस, ये दो ऐसे तत्व रहे जिनके कारण मध्य मालवा के मन्दिर अपने अस्तित्व को समेट कर अतीत के गर्त में चले गये।

(ङ) वास्तु का स्वरूप निरूपण

प्रस्तुत अध्ययन मन्दिर वास्तुकला से सम्बन्धित है। अतः उन विशिष्ट अवयवों से परिचित होना नितान्त आवश्यक है जो मन्दिर वास्तुकला से सम्बन्ध रखते हैं। इस दृष्टि से स्तूप, चैत्य (मन्दिर के संकुचित अर्थ में), मन्दिर एवं स्तंभ के अंगों और उपांगों का संक्षिप्त विवरण यहां हमारा अभीष्ट है।

स्तूप—अर्ध गोलाकार टीले को स्तूप की संज्ञा दी गई है। वैदिक युग में मिट्टी के ऊंचे टीले बनाये जाते थे। बौद्ध युग तक आते-आते वर्गाकार ये वैदिक स्तूप (टीले) अर्ध चन्द्राकार ग्रहण कर गये। बौद्धों ने मिट्टी और काष्ठ की अपेक्षा स्तूप निर्माण में ईंटों एवं पाषाणों का सहारा लिया। अर्ध चन्द्राकार स्तूप पर जो चौकोर हर्मिका बनायी गयी, वह वैदिक वास्तु से ग्रहण की गई।[1]

अर्ध चन्द्राकार अण्ड वस्तुतः आकाश अथवा ब्रह्माण्ड का प्रतीक है। उस अण्ड के ऊपरी भाग में चौकोर हर्मिका रखी गयी। हर्मिका में धातु गर्भ रखा जाता था। वस्तुतः यह हर्मिका स्वर्गलोक अथवा देवलोक का प्रतीक है। हर्मिका की छत्र-यष्टि साधना अथवा राजस्व का प्रतीक है! छत्र तीन, सात या चौदह रहे। तीन या सात छत्र, तीन एवं सात लोकों के प्रतीक हैं। चौदह छत्र, चौदह भुवनों का प्रतिनिधित्व करते हैं।[2] वायुपुराण में छत्रों को स्पष्ट ही विभिन्न लोकों का प्रतीक माना है।[3] इस तरह बुद्ध को एक प्रकार से व्यापक ब्रह्मत्व दिया गया। जिस चबूतरे पर अण्ड खड़ा होता था उस पर एक वृत्ताकार प्रदक्षिणा-पथ बनाया जाता था। इस पथ को 'मेधी' कहा जाता था। स्तूप के आसपास धरती पर एक और प्रदक्षिणा-पथ होता था। यह प्रदक्षिणा-पथ उपासकों के स्तूप से कुछ दूर रहकर परिक्रमा करने के लिये बनाया जाता था। इसका उद्देश्य स्तूपों की पवित्रता को बनाये रखना था। यह प्रदक्षिणा-पथ बौद्ध एवं मौर्यकाल में काष्ठ तथा बांस की वेदिकाओं से घिरा होता था। वैदिका या वेष्टनी चार प्रकार के अंशों को मिलाकर बनायी जाती रही। पहला अंश था, आलम्बन। इसका कार्य स्तंभ को सीधा रखना था। यह भाग धरती के नीचे होता था और इस कारण दिखाई नहीं देता था। दूसरा भाग होता था, वेदिका स्तंभ। यह थोड़ी-थोड़ी दूरी पर अविलम्बन के छेद से खड़े किये जाते थे। ये चौकोर और समान ऊंचाई वाले होते थे। तीसरा अंश होता था, 'सूची'। स्तम्भों को परस्पर सूचियों द्वारा जोड़ा जाता था। इन सूचियों को चिकना करके अण्डाकार बनाया जाता था। ये सूचियां तीन या चार की संख्या में स्तम्भों से आड़े रूप से जुड़ी होती थीं। चौथा अंश होता था, 'उष्णीश'। खड़े स्तम्भों को एक रूप में बांधने के लिये सभी के सिरे पर एक लम्बे प्रस्तर (पाट) को रख दिया जाता था ताकि वेदिका के गिरने का भय न हो। वेदिका तोरण-द्वारों से जुड़ी हुई रहती थी। ये तोरण-द्वार ठीक वैसे ही काष्ठ निर्मित होते थे जैसे कि वेदकालीन गांव में गायों के लिये बनाये गये बाड़े में आगम-निर्गम के लिये

---

१. के० इं० आ०, पृ० ३०१, पृ० ३१०-२०.

२. प्रा० भा० स्तूप० गु० मं०, पृ० १९.

३. वायु, ५०।७७.

हुआ करते थे। तोरण द्वार दो स्तम्भों को लम्ब रूप में खड़ा करके बनाये जाते थे। ये चौकोर होते थे तथा ऊपरी भाग में बड़ेरियों से युक्त होते थे। बड़ेरियों के नीचे से आना-जाना होता था। शुंगकाल में प्रदक्षिणा पथ, मेघी, तोरण द्वार तथा वेदिकायें सभी काष्ठ की अपेक्षा प्रस्तर की होने लगीं। स्तूप भी शिलापट्टों से ढंके जाने लगे। यद्यपि बांस और काष्ठ का स्थान प्रस्तर खण्डों ने ले लिया किन्तु वास्तु का आधार वही पुराना काष्ठ सिद्धान्त रहा। शुंगकाल में स्तरों पर अलंकरणों की विद्या ने बल पकड़ लिया। भरहुत और सांची के तोरण-द्वार और बड़ेरियां इसका प्रमाण हैं। भरहुत में तो वेष्टिनियां भी विभिन्न अलंकरण और उत्कीर्ण से युक्त रहीं। जनता को बुद्ध धर्म की ओर आकर्षित करने एवं लोकप्रिय जातक कथाओं एवं बुद्ध से सम्बन्धित प्रसंगों को जनता तक पहुंचाने के लिये ऐसा सब किया जाता रहा।[1]

चैत्य—शुंग सातवाहन काल से प्रस्तर निर्मित बौद्ध निर्माण की परम्पराओं ने जोर पकड़ लिया। अतः पर्वतों को काटकर उनमें चैत्य एवं विहार बनाये जाने लगे। विहार चैत्यों के साथ या चैत्यों से पृथक् भी होते थे और साधारणतः छोटे-छोटे चौकोर कक्षों में विभाजित होते थे। अधिकांश कक्ष छोटे होते थे, जिनमें बौद्ध भिक्षु निवास करते थे। कुछ कक्ष विशाल होते थे, जो सामूहिक पूजा-अर्चा अथवा चिन्तन के लियेसुरक्षित होते थे। बौद्ध काल में कुंजों और वनों में आराम बनाये जाते रहे। धीरे-धीरे आराम ईंटों और पत्थरों से निर्मित किये जाने लगे। इस प्रकार आराम ऐसे विहार सिद्ध हुए जो पर्वतों का आश्रय छोड़ उसी वास्तु ढब पर मैदानों में खड़े किये गये। ऐसे आराम संघाराम के नाम से लोकप्रिय हुए।

चैत्य, घोड़े के नाल के आकार के होते थे। इसी रूप में गुफाएं काटी जाती थीं। इनके निर्माण का आधार भी इनसे पहले बनने वाले काष्ठ, बांस और घास निर्मित वास्तु थे। चैत्य गुहा को तीन प्रमुख भागों में बांटा जा सकता है। प्रथम है मध्य का भाग, जिसे मध्य-वीथि कहा जा सकता है। इस मध्य-वीथि के अन्तिम सिरे पर प्रदक्षिणा का कुछ स्थान छोड़ एक स्तूप खोदा जाता था, जिसकी हीन यानी पूजा-अर्चा करते थे। मध्य वीथि में सबके सामने स्तंभ युक्त बरामदा खोद दिया जाता था। इसका ऊपरी भाग अर्ध गोलाकार बनाया जाता था। प्रवेश द्वार मेहराबदार होता था। संभवतः यह मेहराब बोधि वृक्ष के पते का स्मरण कराती हो। मेहराब की जालियों से प्रकाश और हवा के प्रवेश का प्रावधान रखा जाता था। बरामदा स्तंभ युक्त होता था। साधारणतः बरामदे से अन्तराल तीन द्वारों से जुड़ा होता था। किनारे के दरवाजे से उपासक पार्श्ववीथि में प्रवेश करता था तथा उसी मार्ग से स्तूप का अर्ध वृत्ताकार चक्कर लगाते हुए दूसरी ओर की पार्श्व-वीथि से होते हुए विपरीत दिशा के द्वार से बरामदे में जाकर फिर वहीं के मेहराब द्वार से बाहर निकल जाता था। प्रवेश द्वार पर कुछ चैत्यों में कीर्ति स्तंभ बनाये जाते थे। बरामदे के तीन द्वारों में से मध्य का द्वार मध्य-वीथि में प्रवेश के लिये होता था। मध्य-वीथि गुहा की मूल दीवार से अलंकृत स्तंभों की सुनियोजित श्रृंखला से पृथक् की जाती थी। इस तरह मध्य वीथि और गुहा भित्ति के मध्य स्तंभों में से जो गलियारा बनता था, वह प्रदक्षिणा-पथ बन जाता था। स्तंभ अलंकृत होते थे। चैत्यों का ऊपरी भाग वर्तुलाकार होता था। डाटदार छत पर बनी प्रस्तर की जो पसलियां बनायी जाती थीं, वे काष्ठ निर्माण की अनुकृति ही होती थी।[2]

---

१. प्रा० भा० स्तू० गु० मं०, पृ० १४-१६, ३०-३१.

२. प्रा० भा० स्तू० गु० मं०, पृ० १६२-६५.

मालवा क्षेत्र में बौद्ध चैत्यों और विहारों के निर्माण में यहां के बौद्ध गुहा मंदिरों, चैत्यों एवं विहारों को प्रत्यक्ष एवं स्पष्ट प्रभावित किया, किन्तु गुप्तकाल में उदयगिरि की गुहाओं ने इस निर्माण आग्रह को स्वीकार नहीं किया। वहां जो गुहा-मंदिर बनाये गये, वे स्तंभयुक्त सपाट छत के पोर्च से जुड़े होते थे। पोर्च से जुड़ा हुआ जो मंदिर कक्ष होता था, वह सादा, चौकोर और सपाट छत वाला होता था। इस निर्माण में गुप्त मंदिर निर्माण को भरपूर प्रभावित किया।

मंदिर—मंदिरों को एक पवित्र वास्तु पुरुष माना गया है। अग्निपुराण[1] तथा हयशीर्ष पांचरात्र[2] नामक ग्रन्थों में मंदिर के देही रूप की कल्पना स्पष्ट रूप से की गई है। बाद के उत्तरकालीन कलाविदों ने ने अपने इष्टदेव के देवालय को एक मानवाकृत आधार दिया। जिस चबूतरे पर मंदिर का निर्माण होता है उसे पाद कहा गया। उसके ऊपर का भाग जंघा कहा गया है। जहां से मंदिर का भीतरी भाग दिखाई पड़ता है, वहां कटि मानी गई। भीतरी भाग को उदररूप माना गया। छत के ऊपर उरस और कुछ और ऊपर स्कन्ध रखे गये हैं। वहीं सामने की ओर शुकनासा को स्थान दिया गया। मंदिर शिखर को सिर माना गया तथा आमलक सहित शीर्ष को शिखर का रूप दिया गया।[3]

उड़ीसा के मंदिरों की चर्चा करते हुए एस० के० सरस्वती ने कहा है कि गर्भगृह और जगमोहन को लंब रूप से चार भागों में विभाजित किया जा सकता है :—(१) सबसे नीचे का भाग पिष्ट, (२) उसके ऊपर का भाग बाढ़ (३) उसके ऊपर शिखर वाला भाग गण्डी व (४) सबसे ऊपर आमलक वाला भाग मस्तिष्क कहा गया। कई स्थानों पर पिष्ट न होकर सीधे ही मंदिर बाड़े पर खड़ा हो जाता है (परमारकालीन भूमिज शैली की यही तो विशेषता है)। बाड़ा कुछ ऊंचाई तक बढ़ते हुए गण्डी तक पहुंचता है। यह गंडी रेखा शिखर के रूप में होती है तथा उसे रेखाओं के भीतर रहने वाले विभिन्न भूमियों से संयुक्त किया जाता है। रेखा शिखर मस्तक अर्थात् आमलक शीर्ष तक जाकर समाप्त हो जाता है। आमलक शीर्ष पर उड़ीसा में कहीं-कहीं खपूरी होती है जिस पर अन्ततः कलश होता है। कलश के साथ ही जुड़ा हुआ ध्वज या आयुध होता है। सरस्वती आगे कहते हैं कि मंदिर का गर्भगृह और जगमोहन नागर शैली के होने के नाते अन्दर से वर्गाकार होते रहे। किन्तु विभिन्न उभारों के कारण बाहर से वे स्वस्तिकाकार दिखायी देते रहे। बाहरी दीवार कई आड़े उभारों, मोड़ों एवं कोणों से विभक्त कर दी जाती है। इस कारण मंदिर के शिखर के नीचे का भाग (जो रथ कहलाता है) कई भागों में विभक्त हो जाता है। इस तरह के मंदिर रथक, त्रिरथ, पंचरथ एवं सप्तरथ योजना वाले होते रहे।

उड़ीसा के प्राचीन मंदिर त्रिरथ योजना में बनाये गये। बाड़ को पाभाग (पदभाग), जंघा एवं बरण्ड इन तीन भागों में बांटा गया। अतः वे त्रिरथ योजना के मन्दिर कहे जाते रहे। जब पाभाग और जंघा उपविभागों में परिवर्तित हुए, तो पंचरथ और सप्तरथ मन्दिर सामने आये। शिखर या गंडी रथ से ऊपर उठती है तथा चारों ओर के राह-पग रेखीय शिखर को विभिन्न भूमियों से मुक्त करते हुए आमलक तक

---

१. अग्नि, पृ० ६१।१९-२७.
२. हय शीर्ष पांचरात्र, ३९.
३. प्रा० भा० स्तू० गु० मं०, पृ० २००.
४. स्ट्र० फा० एम्पा, पृ० ५३८-५३९.

पहुंचाते हैं। आमलक पर कलश, कलश पर नारिकेल एवम् संलग्न ध्वज होता रहा।[1]

जो बात उड़ीसा के मंदिरों के लिये कही गई, न्यूनाधिक रूप से उत्तर भारत के समस्त नागर शैली के मंदिरों एवम् कई अंशों में दक्षिण भारत के द्राविड़ शैली के मंदिरों पर भी लागू होती है। इस रथ योजना के नाम विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार से दिये गये। पश्चिम भारत में मंदिर की पीठ को कई विभिन्न स्तरों में बांटा गया। ग्राम पट्टी, केवाल, अंतर-पत्र, करड़, जाड्यकुंभ, भित्ति, गजथर, अश्वथर, सिंहथर, नरथर, हंसथर आदि पीठ के उपांग के रूप में सामने आये। पीठ को जगती, पिष्ट, पाद या अनुष्ठान भी कहा गया। पीठ के विभिन्न घटक कोण, प्रतिरथ, रथ, भद्र और मुखभद्र माने गये। इसी प्रकार मण्डोवर अर्थात् बाहरी दीवार नागर, मेरु, सामान्य और प्रकारान्तर इन चार भेदों में बांटा गया। मण्डोवर के १३ अंग बताये गये, जिनके नाम: (१) खुर, (२) कुंभ, (३) कलश, (४) केवाल, (५) मंची, (६) जंघा, (७) छज्जी, (८) उरूजंघा, (९) भरणी, (१०) शिरावटी, (११) छज्जा, (१२) विराड़, (१३) प्रकार दिये गये हैं। शिखर को शिखर, शिखा, शिखान्त, व शिखामणि इन चार अंगों में विभाजित किया गया। इसके अंगों का विभाजन एक अन्य प्रकार से भी किया गया। इसके नाम छाद्य, शिखर, आमलसार, कलश, कर्णरेखा, प्रतिकर्ण, उपरथ और उरु-श्रृंग दिये गये। आमलसार को गल, अण्डक, चंद्रिका व अमलसारिका में विभक्त किया गया।[2]

कलश साधारणत: शिखर का सबसे ऊपरी भाग कहलाता है। उसके अंगों को गल, अण्डक, कर्णिका और बीजपूरक कहा गया। शुकनासा शुकनासिका शिखर का वह भाग है जिसका आकार तोते की चोंच जैसा होता है। शिखर के ऊपरी भाग दण्डसहित ध्वज प्रतिस्थापित किये जाते रहे। इसके भागों को दण्ड, पर्वन्, ग्रन्थि, ध्वजमूल, ध्वजपुरुष और ध्वज नाम दिये गये।[3]

इस प्रकार मंदिर के विभिन्न अवययों के बारे में प्राचीनकाल से लगाकर आधुनिक वास्तुकारों ने बहुत सूक्ष्मता, व्यापकता एवम् सघनता से कार्य एवम् विचार किया है। ऊपर मंदिर के लंब रूप से किये जाने वाले विभाजन की बात कही गई है। मंदिरों का आड़े रूप में भी विभाजन किया गया है। उदाहरण के लिये भुवनेश्वर के लिंगराज मंदिर को लें। सबसे पहले मंदिर भोग मण्डप से प्रारम्भ होता है। उसमें से होते हुए नट मण्डप में जाना होता है। नट मण्डप के बाद जगमोहन आता है। जगमोहन अन्तराल द्वारा गर्भगृह से जुड़ा होता है।[4] उड़ीसा के मंदिर का यह भव्य पैमाना उत्तर भारत के अन्य स्थानों पर अनुकृत न हो पाया। मध्य, पश्चिम और उत्तर भारत में अपने नये पैमाने प्रस्तुत किये। उदयगिरि, सांची, भूमरा आदि स्थानों के प्रारम्भिक गुप्तकालीन मंदिर पोर्च-युक्त वर्गाकार थे। तदुपरान्त मण्डप बनाने की प्रथा प्रारम्भ हुई। पहले-पहल मण्डप गर्भगृह से पृथक् बनाये गये किन्तु कालान्तर में

---

१. स्ट्रा० फा० एम्पा, पृ० ५३८-३९.

२. घोष, अमलानन्द सम्पादित: जैन कला व स्थापत्य, खण्ड ३, पृ० ५१८-५२३.

३. वही.

४. स्ट्र० फा० एम्पा, पृ० ५२९, ७००.

मण्डपों को एक अन्तराल के माध्यम से गर्भगृह से जोड़ा गया। खजुराहो का कंदरिया महादेव का मंदिर इस दृष्टि से बहुत परिपूर्णता रखता है। सीढ़ियों पर चढ़कर जब मंदिर के चबूतरे पर पहुंचा जाता है तो अर्ध मण्डप आता है। फिर मण्डप, फिर महामण्डप, उपरान्त अन्तराल से होते हुए गर्भगृह में प्रवेश किया जाता है। गर्भगृह के आस-पास प्रदक्षिणा-पथ है, किन्तु प्रदक्षिणा-पथ की निर्मिति मंदिरों के लिये अनिवार्य नहीं माना गया है।[1]

मालवा क्षेत्र के मंदिर द्वार-मण्डप अथवा अर्ध-मण्डप, मण्डप एवम् गर्भगृह से युक्त होते रहे। यदि मण्डप चारों ओर से भित्तियों द्वारा बन्द रहा (केवल प्रवेश द्वार और अन्तराल को छोड़कर) तो उसे गूढ़ मण्डप कहा गया। यदि वह अन्तराल के अतिरिक्त तीन ओर से प्रवेश के लिये सुलभ रहा तो उसे महामण्डप कहा गया।

स्तम्भ—धार्मिक वास्तु की दृष्टि से स्तंभों का अध्ययन भी एक महत्वपूर्ण बिन्दु है। प्राचीन-काल में स्तूपों एवम् मंदिरों के सामने विशाल स्वतंत्र स्तंभ खड़े करवाये जाते थे। यह पद्धति आज भी कई मंदिर प्रागंणों में स्तंभों की विद्यमानता के कारण दिखाई देती है। स्तम्भ एक पवित्र विषय रहे एवम् श्रद्धालुजन उनकी पूजा-अर्चा करते रहें (इस नाते वे हमारे अध्ययन क्षेत्र की परिधि में आते हैं)।

मंदिरों, विहारों तथा चैत्यों में स्तम्भ अर्ध स्तम्भों का निर्माण एक अपरिहार्य स्थापत्य परम्परा रही है। ऐसे स्तंभ सादे एवम् अलंकृत, मूर्तियुक्त एवम् मूर्तिविहीन, गोल अथवा कोणीय बनाये जाते रहे। साधारणतः कोणीय स्तंभ चतुष्कोण, षट्कोण, अष्टकोण एवम् षोडषकोण होते थे। कतिपय विद्वानों ने सुझाव दिया है कि मंदिर वास्तु की शैलियां स्तभों पर भी लागू होती हैं। चौकोर स्तंभ नागर शैली की, अधिक कोणीय स्तम्भ-द्राविड़ शैली की तथा गोल स्तंभ वेसर शैली की देन है। कई स्तंभ अपने विभिन्न भागों में चौकोर, गोल एवम् अष्टकोणीय बनाये जाते रहे। इन्हें विभिन्न शैलियों का सम्मिश्रण बनाया गया।[2] किन्तु स्तम्भ निर्माण की परम्परा उस समय से दिखाई देती है जबकि ये स्थापत्य शैलियां ठीक-ठीक विकसित भी नहीं हो पायी थीं। इतना संभव है कि काष्ठ को आधार मान-कर जब प्राचीन त्वष्टा अपने निवास अथवा बाड़े बनाते रहे होंगे तो इन काष्ठकारों की स्तम्भ योजना को कालान्तर में प्रस्तरकारों ने स्वीकार कर लिया होगा। चैत्यों और अशोक पूर्व के स्तम्भों तथा बौद्ध तोरणों एवम् बड़ेरियों को देखकर यह बात सिद्ध हो जाती है। काष्ठकारों की स्तंभ परिकल्पना को भी टटोलने की कोशिश की गई है। कलश में से उठते हुए स्तंभ की मूल प्रेरणा दधी की मटकी में रखी हुई काष्ठ मथनी से प्राप्त होने का संकेत किया गया है।[3] स्तंभ शीर्षों पर जो घंटाकृति अथवा

---

१. स्ट्र, फा० एम्पा०, पृ०७०२; ब्राउन, पर्सी, इंडियन आर्किटेक्चर, पृ० ५८; प्रा० भा० स्तू० गु० मं०, पृ० २३३-२३९.
२. राजन, सौन्दर के० व्ही० : इंडियन टेम्पल स्टाइलस, पृ० ९.
३. ब्राउन, पर्सी : इंडियन आर्किटेक्चर, पृ० ४ के सामने प्ले० १।५.

कमल अलंकरण दिये गये हैं, निश्चित ही इनकी प्रेरणा प्राचीन एकाश्मीय स्तंभों से मिली होगी, जो मौर्य-शुंगकाल में भारी मात्रा में भारत में प्रमुख धर्म-स्थलों पर बनाये जाते रहे।

अशोक के रूपनाथ और ससाराम अभिलेखों तथा स्तंभ लेख क्रमांक ७ से यह संकेत मिलते हैं कि अशोक से पूर्व भी भारत में स्तंभ खड़े किये जाते रहे। बसड़-बखीरा, सांकीपा तथा सलेमपुर में जो स्तंभ दिखाई देते हैं, वे भारी भरकम, भद्दे और सादे हैं। ये स्तम्भ निश्चित ही मौर्यकाल के हैं तथा लकड़ी के स्तंभों की ठीक-ठीक प्रस्तर अनुकृति हैं। कुमारस्वामी ने मत प्रकट किया है कि भारत के ये स्तंभ एक चली आ रही वास्तु शैली का प्रस्तर संस्करण है।[1]

इन एकाश्म स्तंभों को दो भागों में बांटा जा सकता है। पहला भाग मूल स्तंभ स्वयं है तथा दूसरा भाग स्तंभ-शीर्ष है। स्तंभ-शीर्ष का अधोभाग चौकी कहलाता है। यह चौकी चौकोर या वृत्ताकार होती रही तथा पशु-पक्षियों एवम् वनस्पति, वल्लरियों आदि से अलंकृत की जाती रही। इस चौकी पर स्तंभ के सबसे ऊर्ध्व भाग पर वृषभ, गज, गरुड़ आदि पशु-पक्षी प्रतिमा के रूप में बिठायें जाते रहे।[2]

मालवा में केवल तीन स्थानों पर ही स्पष्ट रूप से स्वतंत्र स्तंभ प्राप्त हुए। सांची में अशोक के ओपयुक्त स्तंभ तथा शुंगकालीन स्तंभ के खण्डित अंश देखे जा सकते हैं। बेसनगर में शुंगकालीन हेलियोडोर का स्तंभ सुरक्षित रूप में पड़ा है, यद्यपि उसका शीर्ष अब दिखाई नहीं देता। पठारी में एक राजपूतकालीन स्तंभ इसी प्रकार अपने अस्तित्व को सुरक्षित रख पाया है। स्तंभों के शीर्ष तथा उनके परोक्ष वास्तु-प्रमाण विदिशा के बेसनगर क्षेत्र में पर्याप्त रूप में मिले हैं। ऐसा लगता है कि मौर्यकाल से लगाकर शुंग-सातवाहन काल तक विदिशा अंचल में स्तंभ निर्माण की धूम मची हुई थी। उज्जैन के पास सोडंग में एक मौर्यकालीन स्तंभ के अवशेष मिले हैं। मन्दसौर के पास सोंधनी में औलिकर नरेश यशोधर्मन-विष्णुवर्धन की प्रशस्ति सहेजे हुए दो लाटें अभी भी अस्तित्व प्रदर्शित कर रही हैं किन्तु इनका विषय धार्मिक न होने से यह हमारे अध्ययन के क्षेत्र में नहीं आती।[3]

---

१. सरस्वती, एस० के० : इंडियन स्कल्पचर (मौर्यन स्कल्पचर नामक अध्याय से).
२. वही ; राजन, सौन्दर के० व्ही० : इंडियन टेम्पल स्टाइल्स, पृ० ८२.
३. इन स्तम्भों की विस्तार से संदर्भ सहित चर्चा आगामी अध्यायों में काल क्रमानुसार की गई है।

३

प्रद्योत-नन्द-मौर्यकाल में मालवा एवम् उसकी मन्दिर वास्तुकला

प्रद्योतकाल के पूर्व की वास्तुकला

मालवा में प्रद्योतकाल के पूर्व भी वास्तुकला के कुछ अस्तित्व प्राप्त हुए हैं। मालवा क्षेत्र में मानव सभ्यता आदिकाल से लेकर आज तक विकसित होती चली आ रही है। इस क्षेत्र में नर्मदा, चम्बल, कालीसिंध, बेतवा, पार्वती, शिवना, रेतम, क्षिप्रा आदि नदियों के किनारे पुरापाषाण, मध्यपाषाण एवम् लघुपाषाण युग के उपकरण प्राप्त हुए हैं जिनके निर्माण में भी क्रमिक विकास दिखाई पड़ता है। इसी प्रकार मन्दसौर, भोपाल एवम् रायसेन जिलों में ऐसे अनेक शैलाश्रयों में चित्र खोजे गये हैं जो प्रागैतिहासिक मानव की अवस्था पर प्रकाश डालते हैं। इसके अतिरिक्त यहां पर ताम्राश्मयुगीन वस्तियां भी मिली हैं जिनसे उस समय के रहवास की जानकारी का पता चलता है। इसी समय बैल तथा मातृदेवियों की मृणमूर्तियां भी प्राप्त हुई हैं जिनसे अनुमान लगाया जा सकता है कि लोग उनकी पूजा करते थे। इसी से आगे जाकर पूजा पद्धति का क्रमिक विकास होता गया।

प्रद्योत-नन्द-मौर्यकालीन मालवा—भारत की भांति मालवा का भी क्रमबद्ध इतिहास छठी शताब्दी ई०पू० से प्रारम्भ होता है। ऐसी संभावना है कि मालवा में हैहयों का पतन हो जाने पर उनकी वीतिहोत्र एवम् अवन्ती शाखाओं का मालवा पर शासन रहा।[1] कालान्तर में अवन्ती राज्य दो भागों में बट गया। उत्तर का अवन्ती क्षेत्र उज्जैन को राजधानी के रूप में मान्यता देता रहा तथा दक्षिण का अनूप क्षेत्र माहिष्मति को राजधानी मानता रहा।[2] अन्ततः उज्जैन के एक मंत्री पुलिक (या पुणिक) ने अपने राजा को मारकर अपने पुत्र प्रद्योत को शासक बनाया और इस प्रकार उज्जैन में प्रद्योत वंश का शासन प्रारंभ हुआ।[3]

---

१. पुसालकर, ए०डी० : उज्जयिनी इन दी पुराणाज, वि० व्हा०, पृ० ४७६.
२. निगम, श्यामसुन्दर : मालव की हृदय-स्थली अवन्तिका, पृ० ३.
३. रायचौधरी, एच०सी० : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एंशियण्ट इंडिया, पृ० ९३.

यह वह समय था, जब उत्तर भारत महावीर, गौतमबुद्ध एवम् अन्य क्रांतिदर्शी महापुरुषों के नेतृत्व में धार्मिक एवम् बौद्धिक परिवर्तन की आधार-शिला रख रहा था। बौद्ध ग्रन्थ आंगुत्तर निकाय उत्तर-भारत में १६ महाजनपदों की सूचना देता है।[1] यह जनपद निम्नलिखित हैं:—अंग, मगध, काशी, कौशल, वज्जि, मल्ल, चेदि, वत्स, कुरु, पांचाल, मत्स्य, शूरसेन, अश्वक, अवन्ती, गांधार एवम् काम्बोज।

इन सोलह जनपदों में मगध, कौशल, वत्स एवम् अवन्ती सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं। अवन्ती का शासक प्रद्योत एक प्रतापी और क्रोधी शासक था। इसी कारण उसे महासेन या चण्ड आदि नाम से भी पुकारा गया है। इसके समकालीन मगध के शासक बिम्बसार, कौशल के शासक प्रसेनजित् तथा वत्स के शासक उदयन थे।

बिम्बसार प्रद्योत से भयभीत रहता था, इस कारण उसने सुप्रसिद्ध चिकित्सक जीवक को उसकी चिकित्सा के लिये उज्जैन भेजा था।[2] प्रद्योत वत्सराज उदयन को बंदी बनाने में सफल हो गया था किन्तु उदयन प्रद्योत की दुहिता वासवदत्ता को लेकर निकल भागने में सफल हो गया। इस वैवाहिक संबंध के परिणामस्वरूप दोनों में मधुर संबंध हो गये।[3] प्रद्योत ने तक्षशिला के शासक पुष्कर-सारिन् को पराजित करने का असफल प्रयास किया था।[4] मथुरा के शौरसेनी शासक अवन्ती पुत्र से प्रद्योत के अच्छे संबंध थे।[5] इस जैन अनुश्रुति का कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है कि प्रद्योत के समय महावीर स्वामी कुछ समय के लिये उज्जैन आये थे। यह तथ्य है कि उसने अपने मंत्री महाकात्यायन को गौतमबुद्ध को बुलाने भी भेजा था।[6] गौतम उज्जैन नहीं आ सके किन्तु महाकात्यायन बुद्ध के महान शिष्य बन गये। प्रद्योत के उपरान्त उसके पुत्र गोपाल ने सत्ता संभाल ली। उससे पालक ने राज्य छीन लिया।[7] पालक ने वत्स को जीत लिया और अपनी सीमाएं मगध तक बढ़ा ली। पालक एक दुष्ट राजा था। परिणामस्वरूप क्रांति हो गई और सत्ता आर्यक ने संभाली।[8]

प्रद्योत के उपरान्त उसका वंश १३८ वर्षों तक उज्जयिनी पर शासन करता रहा। पालक ने २५ वर्ष, आर्यक अथवा अजक ने २१ वर्ष, विशाखयूप ने ५० वर्ष तथा नंदिवर्धन ने २० वर्ष शासन किया।

---

१. आगुंत्तर, १।२१३; ४।२५२, २५६, २६०.
२. मा० थू० ए०, पृ० ९९.
३. रीस, डेविड्स : बुधिस्ट इंडिया, पृ० ४-७; व्रि० व्हा०, पृ० ४७८.
४. वही, पृ० १०१.
५. वही, पृ० १०१.
६. स्टीवेन्सन, एस० : दी हार्ट ऑफ जैनिज्म, पृ० ३३.
७. मज्झिम निकाय, माधुरिय सुतान्त, २।४।४.
८. कानुनगो, शोभा : उज्जयिनी का सांस्कृतिक इतिहास, पृ० ४९-५०.

अन्ततः ई०पू० ४३० के आसपास मगध-राज शिशुनाग ने नंदिवर्धन को पराजित कर अवन्ती पर अपना अधिकार कर लिया।[१]

कतिपय इतिहासकारों का मत है कि मगध-राज महापद्मनंद ने अवन्ती पर अधिकार किया था। मगध में शिशुनाग वंश करीव ४३० से ३६४ ई०पू० तक शासन करता रहा तथा नंद वंश ३६४ से ३२४ ई०पू० तक।[२] जहां तक मालवा का प्रश्न है इतना निश्चित था कि मौर्यकाल के प्रारंभ होने पर यह मगध राज्य का एक अंग था। मौर्यकाल में अवन्ती एक महत्वपूर्ण प्रान्त था तथा उज्जैन उस प्रान्त की राजधानी थी। मगध सम्राट् विन्दुसार के समय अशोक उज्जयिनी का राज्यपाल था।[३] ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक के बाद मौर्य साम्राज्य दो भागों में विभक्त हो गया था। एक भाग की राजधानी उज्जयिनी थी जहां जैन प्रभाव में सम्प्रति मौर्य शासक था। जहां तक सांस्कृतिक इतिहास का संबंध है, ऐसा लगता है उज्जैन इस समय बौद्धमत के हाथों से खिसक कर क्रमशः जैन धर्म का एक महान केन्द्र बनता जा रहा था।[४] शुंगों द्वारा मगध में की गई सैनिक क्रान्ति में संभवतः अवन्ती क्षेत्र का हाथ रहा था। कुछ अनुश्रुतियों के अनुसार अन्तिम मगध सम्राट वृहद्रथ को समाप्त करने वाले सेनापति पुष्पमित्र शुंग का मूल निवास विदिशा का क्षेत्र ही था।[५]

युगीन स्थापत्य विशेषताएँ

यह वह समय था जब आर्य और अनार्य वास्तु शैलियां एक दूसरे को प्रभावित कर एकीकृत हो रही थीं। इस प्रकार समकालीन वास्तु-जगत विश्वकर्मा एवम् मय की स्थापत्य विधाओं से परिचित हो चुका था। दोनों विधाओं के बारे में इतना उल्लेख पर्याप्त है कि इस समय तक ग्रामीण निवासों के ही आधार पर देवालयों का निर्माण हो चुका था। प्रारम्भिक आर्य शैली के देवायतन मिट्टी, काष्ठ, बांस एवम् ईंटों के बने होते थे, जबकि अनार्य वास्तु में प्रस्तर एवम् ईंटों का प्रयोग होता था। अभी तक कलाविद् मोटे तौर पर जो विभेद आर्य और अनार्य शैली में जुटा पाये हैं, वह यह है कि आर्य शैली के निर्माण चौकोर तथा अनार्य शैली के निर्माण गोलाकार होते थे।[६] कतिपय सूत्र ग्रंथ[७] और अर्थशास्त्र[८] के वर्णन धार्मिक प्रासादों व देवताओं के मंदिरों का उल्लेख करते हुए पाये गये। इसके वर्णन से यह निष्कर्ष निकालना सरल हो जाता है कि ये प्राचीन मंदिर या तो विभिन्न भूमियों से युक्त प्रासाद के रूप में या शिखर युक्त होते थे। इस तरह वेदकालीन सीधे-साधे निर्माणों से ऊपर

१. मा० यू० ए०, पृ० १०२-०३.
२. वही, पृ० १०२-०३.
३. महावंश, ५।३६, १३।८; दीपवंश, ६।२१-२२.
४. कानुनगो, शोभा : उज्जयिनी का सांस्कृतिक इतिहास, पृ० ८९-९०.
५. रैपसन, इ० जे० : के० हि० इ०, भाग १, पृ० ५१२.
६. के० इं० आ०, पृ० ३१५-३१९.
७. बौधायन गृह्यसूत्र, ३।३. ९.३; आपस्तंभ गृह्यसूत्र, ७।२०.
८. अर्थशास्त्र, २।४, १७.

उठकर अब मंदिर वास्तुकला ने भव्यता ग्रहण करली थी। दुर्भाग्य से इन साहित्यिक वर्णनों को पुरातत्वीय साक्ष्य देने वाला कोई भी प्रमाण हम तक अपना अस्तित्व नहीं बचा सका है। अलबत्ता भारत में कुछ ऐसे स्तूप अवश्य खोज निकाले गये हैं जो बुद्ध-पूर्व काल के वैदिक स्तूप माने जा सकते हैं।[1] बौद्धकाल जब हम चौपहले चबूतरे पर स्तूप का गोलाकार अण्ड देखते हैं तो इस सांस्कृतिक समन्वय का एक दृश्य सामने आता है। आर्य वास्तु के अधिष्ठान पर अनार्य वास्तु खड़ा दिखता है। यह इस बात को प्रमाणित करता है कि इस समय तक भारत की अनार्य विचारधारा आर्यों के सांस्कृतिक मूल्य को अपना आधार बनाकर अपने अस्तित्व को सुरक्षित कर रही थी। आर्यों के छोटे एवम् सादे ग्रामीण वास्तु पर अनार्य परिपक्व वास्तु-वैभव अपनी छटा बिखेर रहा था। इस तरह बुद्धकालीन स्तूप का आधार आर्य था और शीर्ष अनार्य। समन्वित रूप में यह भारतीय था। बौद्ध युग के स्तूप भद्दी-मोटी ईंटों से ढके हुए मुरंम व मिट्टी के भराव वाले होते थे।

मौर्यकाल में इन ईंटों का स्थान शिलाखण्डों ने ले लिया था। स्तूपों के आसपास और सामने प्रदक्षिणा-पथ बनाये जाने लगे, जो काष्ठ निर्मित होते थे। मौर्यकाल व गुहाओं का निर्माण प्रारम्भ हो गया था। इन गुहाओं का आधार यद्यपि काष्ठ-शिल्प था किन्तु निर्माण प्रेरणा संभवतः प्राकृतिक शैल गुहाओं से मिली थी। नागार्जुन और बराबर पर्वतीय गुफाओं के नाम इस सिलसिले में लिये जा सकते हैं। अशोक के पूर्व से ही एकाश्म स्तंभ खड़े करने की पद्धति जारी हो चुकी थी। इनका आधार भी काष्ठ था। अशोक ने तो दर्शनीय स्तंभ खड़े करवाकर परसोपोलिन स्तंभों की याद ही भुला दी। मौर्य प्रस्तर निर्माण पर जो ओप था वह या तो घिसावट द्वारा या वज्र लेप के प्रयोग द्वारा आता था। इस ओप के कारण मौर्यकालीन पत्थर धातु की भांति चमकते थे। मौर्यकाल के पतन के साथ ही यह महत्वपूर्ण विधा लुप्त हो गयी।[2]

चैत्य और संघाराम भी मौर्यकाल में बनाये जाते रहे किन्तु वे काष्ठ निर्मित ही होते थे। इसी शिल्प तकनीक पर जब प्रस्तर गुहाएं व चैत्य बनने लगे तो कालान्तर में कार्ले, वेदिसा, नासिक, कान्हेरी आदि की गुफाएँ सामने आईं। बौद्धकाल में भिक्षु जेतवन जैसे आरामों में रहते थे। मौर्यकाल तक आते-आते उनके लिये वर्गाकार या आयताकार कक्षों वाले संघाराम बनाये जाने लगे। प्रस्तर एवम् ईंटों द्वारा निर्मित ऐसे संघारामों के अवशेष सांची में दिखाई देते हैं।[3]

प्रद्योतकाल से लेकर मौर्यकाल तक इस सामान्य वास्तु-विधा के आधार पर तत्कालीन मालवा की बौद्ध, जैन एवम् ब्राह्मण वास्तुकला का निरीक्षण-परीक्षण करना सामयिक होगा।

---

१. प्रा० भा० स्तू० गुहा मंदिर, पृ ७५.
२. सरस्वती, एस० के० : इंडियन स्कल्प्चर 'अमौर्यन स्कल्पचर' नामक अध्याय से.
३. पहाड़िया, एस० एम० : बुद्धिज्म इन मालवा, पृ० ८१.

प्राङ्मौर्यकाल:—उज्जैन के उत्खनन से अनेक प्रद्योतकालीन अवशेष प्रकाश में आये। इनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रद्योतकालीन धार्मिक निर्माण कच्ची ईंटों, मिट्टी, बांस और लकड़ी से हुए होंगे। उत्खनन में जो पाट मिले हैं, उनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि शीशम, काला अंजन और सागवान को इमारती लकड़ी के रूप में इस समय प्रयोग किया जाता रहा।[1]

प्राङ्मौर्यकाल में बौद्ध धर्म :—बौद्ध धर्म का मालवा में विकास भगवान बुद्ध के समय से ही प्रारंभ हो गया था। हम देखते हैं कि भगवान बुद्ध के समय उज्जैन का राजा चण्डप्रद्योत था। उसके समय में उज्जैन में अनेक बौद्ध प्रचारक और अनुयायी विद्यमान थे, जिनमें अभयकुमार, ऋषिदासी (ईसीदासी), ईसीदत्त, धर्मपाल, सोणकुट्टिकर्ण एवम् महाकात्यायन आदि थे। महाकात्यायन प्रद्योत का मंत्री था। वह भगवान बुद्धको उज्जैन आमंत्रित करने के लिए मगध गया था किन्तु वहां जाकर वह तथागत बुद्ध का महान शिष्य हो गया। स्थविर महाकात्यायन ने मथुरा से लेकर उज्जैन तक बौद्ध धर्म का प्रचार किया था, किन्तु उसका अधिकांश समय उज्जैन के कांचनवन में गुजरा था।[2]

अवन्ती के वेलकुण्ड नगर से पदजितकुमार पुत्र वेणुग्राम के ऋषिदत्त (इसिदत्त) तथा कुरर के सौण कुटिकण्ण महाकात्यायन के प्रसिद्ध भिक्षु शिष्य थे। प्रसिद्ध गणिका प्रभावती जो पीछे भिक्षुणी होकर अभयमाता नाम से प्रसिद्ध हो गयी थी, उज्जैन की ही रहनेवाली थी। उसका पुत्र अभय भी उस समय का एक प्रसिद्ध भिक्षु था। भिक्षुणी अभया भी उज्जैन नगर की ही थीं। उज्जैन की ऋषिदासी जीवन्मुक्ता परम साधिका भिक्षुणी थी जिसकी ४८ गाथाएं आज भी थेरीगाथा में विद्यमान है। उन्हें पढ़कर धर्म-संवेग एवम् कर्म-सिद्धांत का दार्शनिक ज्ञान होता था।[3] 'कात्यायनी' काली आदि उपासिकाएं अवन्ती जनपद की ही बुद्धकालीन विभूतियां थीं, जिनके नाम बौद्ध जगत में बड़ी श्रद्धा से लिये जाते हैं।

भगवान बुद्धने संक्षिप्तीकरण का विस्तार से अर्थ करने के लिये महाकात्यायन को श्रेष्ठ कृत्व (एतदग्र), सोणकुटिकण्ण को सुवक्ता (कल्याण वाक्करण) तथा काली उपासिका को अनुश्रव श्रद्धालु की उपाधियां दी थीं। आंगुतरनिकाय में उल्लेख है कि एक बार महाकात्यायन 'तेलएनालि' नामक नगर में गये। उन्हें भिक्षा प्राप्त नहीं हुई। तव एक दरिद्र व्यापारी की श्रद्धालु कन्या ने अपने केश वेचकर उनकी भिक्षा का प्रवन्ध किया। महाराज चण्डप्रद्योत को जव इस घटना का ज्ञान हुआ तो उन्होंने उस कन्या से विवाह कर लिया। इससे उसे गोपाल नामक पुत्र हुआ, जो चण्ड के वाद उज्जैन का शासक बना।[5]

---

१. इं० आ० रि० (१९५७-५८), पृ० ३४.
२. मा० यू० ए०, पृ० ११५.
३. भिक्षु धर्मरक्षित : उज्जैन की बौद्ध परम्पराएं (उज्जयिनी दर्शन, १९८०), पृ० ५७.
४. वही.
५. वि० स्मृ० ग्रं०, पृ० ५१७.

महाकात्यायन एक प्रभावी व्यक्ति थे। उनके अनुरोध पर मालवा में बौद्ध धर्म के प्रचार की कठिनाइयों को देखते हुए भगवान बुद्ध ने संघ के नियमों में अनेक सुझावों को स्वीकार कर लिया था। उस समय उज्जैन और कुररगृह बौद्ध धर्म के प्रमुख केन्द्र थे।[1]

प्रद्योतकालीन बौद्ध निर्माण :—मालवा क्षेत्र में प्रद्योतकाल में कोई स्तूप बनाये गये अथवा नहीं, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है। फिर भी लेखक द्वारा कुछ ऐसे स्तूपों की चर्चा की गयी है, जिन्हें प्राङ्मौर्य कहा गया है।[2]

उज्जैन में वैश्या टेकरी पर एक बड़ा स्तूप था। यह अब लगभग समाप्त हो गया है। इस टेकरी का नामकरण अशोक की वैश्य पत्नी की स्मृति को ताजा रखता है। ऐसी मान्यता प्रकट की गयी है कि यह स्तूप प्राङ्मौर्य काल का है। पाली ग्रन्थों में इस विशाल स्तूप का कोई उल्लेख नहीं है। अतः यह शायद उत्तर-प्रद्योतकाल से संबंधित रहा होगा, क्योंकि निम्नलिखित आधारों पर इसे मौर्य पूर्व काल का भी माना जाना चाहिये :—

(१) स्तूप के निर्माण में काली मुरंम व मिट्टी का प्रयोग हुआ है। यह प्रयोग बहुत सघनता से हुआ है जबकि मौर्यकाल में ईंटों की सघनता होती है।

(२) वैश्या टेकरी की ईंटें ५६.५ x ४६ x ६.५ और ५६.५ x ३६ x ८.६ सेन्टीमीटर की हैं जबकि मौर्यकाल की सांची और भरहुत की ईंटें ३० x ३० x ८.५ तथा ३५ x २६ x ७.५ सेन्टीमिटर आकार की हैं। ईंटों का बड़ा आकार उन्हें मौर्य-पूर्व काल का सिद्ध करता है।

(३) वैश्या टेकरी के स्तूप की ईंटें पूरी तरह पकी हुई नहीं है जबकि मौर्यकाल की ईंटें पूरी तरह पकी हुई हैं।

(४) लोरिया नंदनगढ़ में जो बौद्ध स्तूप प्राप्त हुए हैं, वे निर्विवाद इससे मौर्य-पूर्व काल के माने जाते हैं। यहां स्तूप का अंड भाग ऊपर की ओर सकड़ा होता चला गया है। वैश्या टेकरी के आधार पर निरीक्षण करने पर हमें ये ही बातें इस स्तूप में ज्ञात होती हैं। वैश्या टेकरी के इर्द-गिर्द परिखा की विद्यमानता है। मौर्यकाल के स्तूपों के आसपास कहीं भी परिखा दिखाई नहीं देती। उज्जैन के उत्खनन से ज्ञात होता है कि प्रद्योतकाल में परिखायें नगरनिवेश का एक परिहार्य अंग रहीं।[3]

(५) वैश्या टेकरी के स्तूप के अवशेषों में कोई विशिष्ट प्रस्तर सामग्री प्राप्त नहीं हुई है। इससे यह अनुमान लगाना सहज है कि स्तूप के छत्र, हर्मिका एवं अन्य विशिष्ट भाग लकड़ी अथवा हाथी दांत के होंगे, संभव है स्तूप के ये अवयव न भी रहें हों। दोनों ही स्थितियों में स्तूप प्राङ्मौर्यकालीन सिद्ध होता है।

---

१. कानुनगो, शोभा : उज्जयिनी का सांस्कृतिक इतिहास, पृ० ५६-५७.

२. मा० क० स्था०, अध्याय २ के अन्तर्गत 'स्तूप' शीर्षक का विवरण.

३. इ० आ० रि० (१९५६-५७), पृ० २०; इं० आ० रि० (१९५७-५८), पृ० ३४.

(६) स्तूप के अवशेषों से जो पुरातत्वीय सामग्री विशेषतः आहत मुद्राएं प्राप्त हुई हैं, वे भी उसकी पुरातन्ता का साक्ष्य देती हैं।

इन समस्त तर्कों के आधार पर यह कहना अत्यन्त समीचीन है कि वैश्या टेकरी का स्तूप प्रद्योत के बाद एवम् मौर्यकाल के पूर्व निर्मित हुआ होगा।

वैश्या टेकरी के स्तूप की स्थापत्य विशेषताएं निम्नलिखित हैं :--

(१) इसमें गारे और काली मुरंम का भरपूर प्रयोग हुआ है।

(२) जहां भारत के अन्य स्तूपों को सामान्य विश्व से प्रदक्षिणा पथ द्वारा दूर रखा जा कर उसकी पवित्रता को कायम रखा जाता था, वहां उज्जैन में मौलिक रूप से यह कार्य परिखा द्वारा सम्पन्न किया गया था। परिखा के ऊपर एक थोड़ा-सा मार्ग पुल के रूप में स्तूप तक पहुंचने के लिये रखा गया था।

(३) स्तूप की ईंटें आकार में मौर्य ईंटों की अपेक्षा बड़ी एवम् तुलनात्मक रूप में अर्ध-पकी थीं।

(४) वैश्या टेकरी के स्तूप का व्यास लगभग ८७५ सेन्टीमीटर था। पुराविदों की यह धारणा है कि इसकी ऊंचाई २५० सेन्टीमीटर से अधिक रही होगी।

(५) अधिक गारे, मुरंम और अध-पकी ईंटों के प्रयोग से यह स्तूप पीपरहवा के स्तूप के तुल्य बैठता है। इसी प्रकार कला और आकार-प्रकार की दृष्टि से वह लोरिया नन्दनगढ़ स्तूप के समान है। चूंकि पीपरहवा और लोरिया के स्तूप मौर्य-पूर्वकाल के सिद्ध हो चुके हैं, अतः वैश्या टेकरी का स्तूप भी प्राङ्मौर्यकालीन होना असिद्ध नहीं होता।

वैश्या टेकरी के अतिरिक्त उज्जैन में दो स्तूप और प्राप्त हुए हैं। एक है तुलावटी टेकरी का स्तूप और दूसरा कंकड टेकरी का स्तूप। ये स्तूप भी वैश्या टेकरी की ही भांति वर्तमान उज्जैन के उत्तर-पूर्व में स्थित हैं। इन स्थलों पर जो अवशेष हैं उनसे इनका वैश्या टेकरी के स्तूप का समकालीन होना पाया जाता है, किन्तु अधिक प्रमाण अब अतीत के अंधेरे में लुप्त हो चुके हैं।

महावग्ग में कनकगिरि पर विशाल बौद्ध स्तूप का उल्लेख आया है।[1] ऐसी धारणा प्रकट की गयी है कि वैश्या टेकरी का स्तूप संभवतः यही स्तूप रहा होगा।[2] अशोक की वैश्य पत्नी को विशिष्ट प्रिय होने एवम् उसके द्वारा इसका जीर्णोद्धार किए जाने के कारण इसका नाम वैश्या टेकरी पड़ गया होगा। यदि यह बात ठीक है तो बुद्ध वंश के इस कथन को विचार के लिए ग्रहण करना होगा कि तथागत के परिनिर्वाण के उपरान्त उनकी आसनी और आस्तरण अवन्ती को प्राप्त हुए थे और उन पर उज्जैन में एक विशाल स्तूप निर्मित किया गया था।[3] यह स्तूप वैश्या टेकरी का स्तूप ही है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

---

१. महावग्ग.
२. उ०द० (१९८०), पृ० २९.
३. निसीदनं अवन्तिपुरे रट्ठे अत्थरणं तदा। बुद्धवंश, २८.

स्थिति चाहे जो भी रही हो, यह सब संकेत इस बात का प्रमाण देते हैं कि मौर्यकाल से काफी पूर्व उज्जैन में बौद्ध स्तूपों के निर्माण का सिलसिला जारी हो गया था।

प्रद्योतकाल में बौद्ध धर्म की विद्यमानता और व्यापकता को देखते हुए बौद्ध विहारों की कल्पना की जाना सहज ही है। लगता है कि वैश्या टेकरी के आसपास ही कहीं भिक्षुओं का निवास रहा होगा। इन विहारों का कोई पुरातत्वीय प्रमाण तो उपलब्ध नहीं है, किन्तु कुमार टेकरी के उत्खनन से उज्जैन में जो श्मशान भूमि प्राप्त हुई है, उसे विद्वानों ने बौद्ध भिक्षुओं से सम्बद्धित किया है। इसी प्रकार उज्जैन के निकट पानविहार ग्राम में भी प्राचीनकाल में किसी बौद्ध विहार के होने की संभावना प्रकट की गई है, यद्यपि इस संभावना का आधार पुरातत्वीय न होकर विशुद्ध भाषागत ही है।[1] (चित्र पृष्ठ क्र. ४२ पर)

प्राङ्मौर्यकाल एवम् जैन धर्म

जैन धर्म वस्तुतः भारत में ईसा की कई शताब्दियों पूर्व से प्रचलित निवृतिमार्गीय विचारधारा की एक अत्यन्त ही सार्थक अभिव्यक्ति रहा हैं। इस कल्पना का कोई आधार नहीं है कि तीर्थंकर महावीर के पूर्व मालवा में जैन धर्म प्रचलित भी था अथवा नहीं। महावीर का समकालीन अवन्ती का राजा चण्डप्रद्योत था। जैन अनुश्रुतियां उसे महावीर का अनुयायी मानती हैं। इस बात के अपुष्ट-आनुश्रुतिक जैन प्रमाण हैं कि प्रद्योत के आमंत्रण पर महावीर उज्जयिनी आये थे और यहां के अतिमुक्तक श्मशान में कुछ समय साधनारत् रहकर अपनी निवृति एवम् अपरिग्रहशील साधना का व्यावहारिक संदेश उन्होंने अवन्तीवासियों को दे दिया था।[2]

इन अनुश्रुतियों का यह भी कथन है कि प्रद्योत ने उज्जैन में जीवन्त स्वामी की प्रतिमाएं स्थापित की थीं। ऐसी प्रतिमाएं उसने दशपुर और विदिशा में भी स्थापित की थीं। प्रद्योत का पुत्र गोपाल भी जैन मत का अनुयायी था। इन सारे तथ्यों से यह ज्ञात होता है कि मोर्य-पूर्वकाल में मालवा में जैन मत प्रभाव रखने लगा था।[3]

जहां तक मन्दिर वास्तुकला का प्रश्न है, यह कहना अत्यन्त ही कठिन है कि कोई जैन देवालय प्राङ्मौर्यकाल में बनाये गये थे। पर यह कल्पना सहज है कि प्रद्योत द्वारा स्थापित जिन मूर्तियों के आसपास किसी न किसी प्रकार का वास्तु अवश्य रहा होगा।

उपर्युक्त वर्णन का अन्य कोई समकालीन प्रमाण नहीं होने से यह विवरण अधिक विश्वसनीय नहीं माना जा सकता।

प्राङ्मौर्यकालीन-मालवा में शैवधर्म

पौराणिक मान्यताओं के अनुसार ईसा से कई शताब्दियों पूर्व मालवा ब्राह्मण धर्म के प्रभाव में रहा। पुराणों के वर्णन से ज्ञात होता है कि आर्यो की इक्ष्वाकु एवम् हैहय शाखाएं प्राचीन अवन्ती क्षेत्र में

---

१. मा०क०स्था०, पृ० ४.
२. स्टोवेन्सन एस : दी हार्ट आफ जैनीज्म, पृ० ३३.
३. जैनतीर्थ सर्वसंग्रह, पृ० ३२२.

आकर बसीं और यहां भार्गव आदि ब्राह्मण वंशों के सहयोग से वैदिक धर्म तथा ब्राह्मण मतों का प्रचार-प्रसार किया। इस प्रचार-प्रसार के परिणामस्वरूप इस क्षेत्र की आर्येतर जातियां ब्राह्मण संस्कृति के प्रभाव में आगईं। कतिपय उत्खननों से ज्ञात होता है कि प्राङ्मौर्यकाल में मालवा में यज्ञों एवं अग्नि अर्चन का काफी महत्व रहा होगा।[1] ईस्वी की छठी शताब्दी तक आते-आते ब्राह्मण धर्म की शैव शाखा अपना कुछ प्रभाव स्थापित करने में सफल हो गयीं। अवन्ती के प्रागैतिहासिक केन्द्र माहिष्मती में शैव मत ईसा पूर्व छठी शताब्दी तक अपना प्रभाव जमा चुका था। कुछ पुराणों के अनुसार उज्जैन तथा माहिष्मती उस समय शैव धर्म के केन्द्र बन चुके थे। उज्जैन एक महत्वपूर्ण धार्मिक केन्द्रके रूप में उस समय उभर आया। स्कन्दपुराण के अनुसार प्राचीनकाल में इसके इर्द गिर्द एक विशाल वन था, जहां विभिन्न पौराणिक देवी-देवता मुक्त संचरण और तपस्या करते थे।[2] उज्जैन के आसपास का यह वन महाकाल वन कहलाता था। पौराणिक मान्यताएं कहती हैं कि इस वन में अनेक शिवलिंग विद्यमान थे।[3]

इन अनैतिहासिक अथवा अर्ध-ऐतिहासिक पौराणिक वर्णनों के आधार पर शिवलिंगों की विद्यमानता पर विश्वास करना कठिन है। फिर यह कहना और भी कठिन है कि क्या ये शिवलिंग किसी न किसी प्रकार के देवालयों तथा मन्दिरों में स्थापित रहे होंगे।

उज्जैन में प्रद्योत के समय में महाकाल मन्दिर का सन्दर्भ पाया जाता है। ऐसा प्रसंग प्राप्त होता है कि महाकाल मन्दिर में मानव मांस का विक्रय होता था जिसे रोकने के लिए प्रद्योत के अनुज कुमारसेन को दिवंगत होना पड़ा था। मानव मांस की कहानी शैवों के प्रति जैन घृणाभाव का प्रतीक हो सकती है और शैवधर्म एवम् परम्पराओं के सूक्ष्म परीक्षण के उपरान्त अविश्वसनीय भी लगती है; किंतु हमारे अध्ययन की दृष्टि से यह महत्वपूर्ण तथ्य है कि प्रद्योतकाल में उज्जैन में एक महाकाल मन्दिर था। इस मन्दिर की वास्तुकला अथवा विशेषताओं पर प्रमाणों के अभाव में कुछ भी कहा जा सकना संभव नहीं है।[*]

---

१. इन उत्खननों में कायथा, महेश्वर, नावड़ाटोड़ी व दंगवाड़ा के उत्खनन सम्मिलित हैं।
२. स्कन्द (आवन्त्य), १।६,७०.
३. वही, ७७।३३; १।३१-३२.
४. प्रधान, एस: क्रोनोलाजी ऑफ एन्शियंट इंडिया, पृ० ७२.
५. मालवा क्षेत्र पुरातत्वीय दृष्टि से भी आदिकाल से शैव उपासना का केन्द्र रहा है। मालवा में इन्द्र उपासना वैदिक काल से याने ४००० वर्ष पूर्व से ही नहीं बल्कि उससे पूर्व से चली आ रही है। धनुर्धारी विकराल रुद्रके शैलचित्र भीम बेटका से III F-१६, II F -१९ तथा सांची II ४ शैलाश्रयों में मिले हैं। महेश्वर और दंगवाड़ा के पात्रों पर भी उसका चित्र बना है। (अग्रवाल समाज उज्जैन सिंहस्थ स्मारिका में वि० श्री० वाकणकर का लेख उज्जयिनी, पृष्ठ २ "सिंहस्थ १९८०").
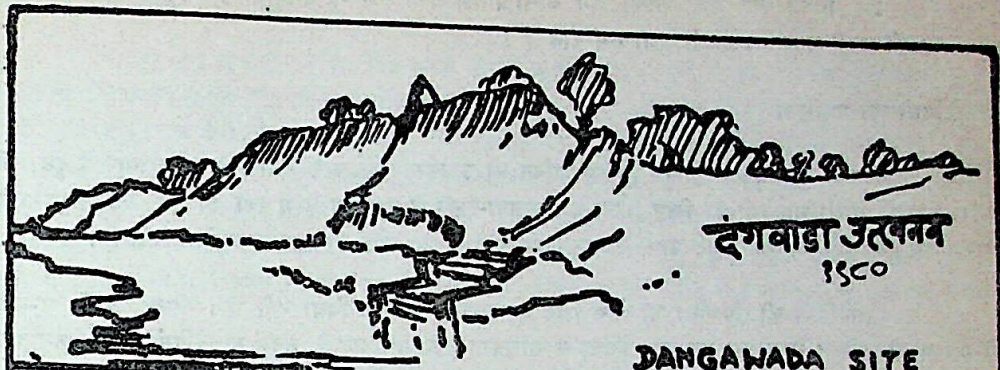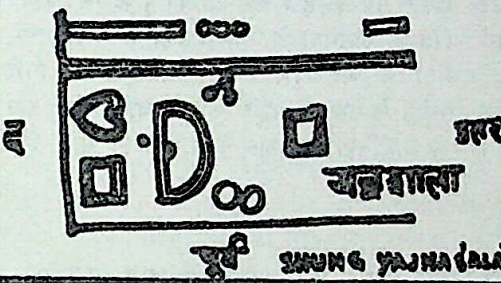
दंगवाड़ा उत्खनन
१९८०
DANGAWADA SITE
शुंग काल
पूर्व
SHUNG YAJNAŚALA
ताम्राश्मीय
अग्नि कुण्ड
समिधाएं
मृत्तिका देव प्रतिमाएं
CHALOLITHIC
FIRE ALTER
ताम्राश्मीय पूजा गृह
CHALCOLITHIC
SHRINE
भारत का प्राचीनतम
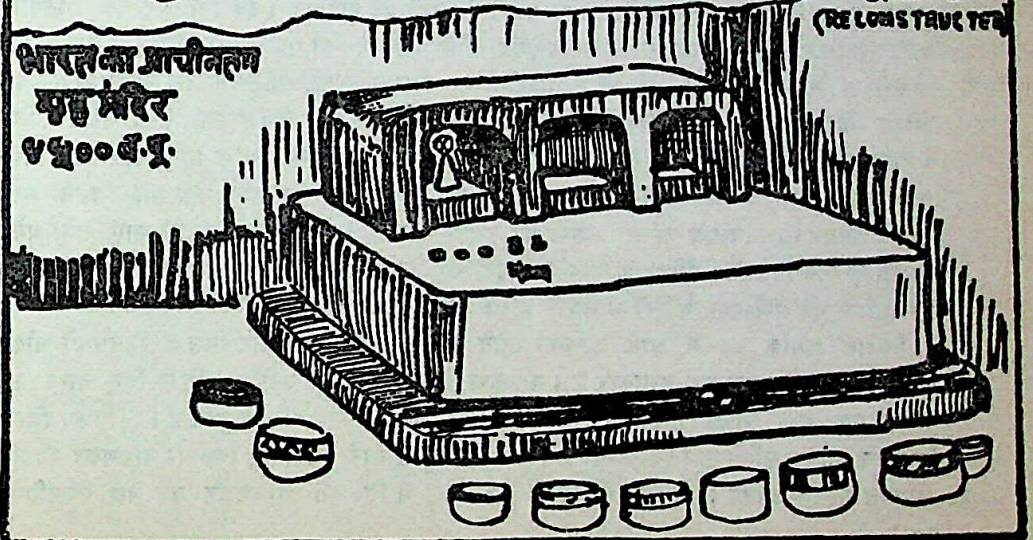
इस विषय का एक चौंका देने वाला प्रमाण अभी चल रहे दंगवाड़ा उत्खनन से प्राप्त हुआ है। दंगवाड़ा की ताजी उपलब्धि पर टिप्पणी समीचीन है।[1]

मातृदेवियों की उपासना

मालवा में मौर्यकाल के पूर्व ही मातृशक्ति की उपासना विद्यमान थी। जावरा मल्लवार में दूध की धारा बरसाने वाली मातृदेवी का चित्र मिला है। नावड़ा-टोड़ी के उत्खनन में भू देवी का एक चित्र मृद्‌भाण्ड पर प्राप्त हुआ है। मिट्टी के टूटे पात्रों पर इसी प्रकार दंगवाड़ा और कायथा में भी चित्र मिले हैं।[2]

मातृदेवियों की उपासना भारत के लिये एक प्राचीन धार्मिक विधा रही है। सिन्धु घाटी सभ्यता के जो अवशेष रोपड़ से लोथल तक और क्वेटा से कलिबंगा तक प्राप्त हुए हैं, उनमें मातृदेवियों की मृणमूर्तियां उपलब्ध हुई हैं। वे यह संकेत देती है कि शिव जैसे देवता की पूजा की भांति ही मातृदेवियों की पूजा भी ईसा से लगभग २००० वर्ष पूर्व विद्यमान रही है। अनेक विद्वानों की यह धारणा है कि ये मातृदेवियां शक्ति का प्रतीक हैं। शक्ति की उपासना का यह क्रम आर्येतर और वेदों से पूर्व का है। स्थापत्य की दृष्टि से कहीं भी यह प्रमाण उपलब्ध नहीं है कि शिव जैसी मूर्तियां और शक्ति की उपासना के निमित्त कहीं देवालय बनाए गए हों। हड़प्पा, मोहनजोदड़ो, चन्हूदड़ो जैसे सिन्धु घाटी सभ्यता के महत्वपूर्ण स्थलों पर एक भी निश्चित देवालय के भग्नावशेष प्राप्त नहीं हुए हैं। संभव है, निवास-गृहों के भीतर कहीं कोई पूजा स्थान रहा हो निर्णायक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। मालवा क्षेत्र के प्रागैतिहासिक काल के बारे में भी यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है।

---

१. उत्खननकर्ता वी० एस० वाकणकार के अनुसार निखात क्रमांक ७ के बस्तर में आज से ३८०० वर्ष पूर्व के एक गृह मन्दिर का प्रमाण मिला है। एक कमरे में मिट्टी के एक पादपीठ पर तीन आलों वाला छोटा मन्दिर मिला है। जिसमें से एक में पक्की ईंट रखी हुई पाई गई। इन ईंटों पर देव प्रतिमाओं को प्रतिष्ठित किया गया था। कोणाकृति गोल आकार की एक प्रतिमा मिली है जिसमें ऊपर सरलीकृत मुखाकृति रखी हुई थी। पादपीठ पर मिट्टी के छोटे-छोटे दीप रखे हुए पाये गये थे। ओटले के नीचे विविध आकारों के चित्रों से युक्त कटोरे मिले हैं। संभवतः ये देवताओं के लिये प्रसाद समर्पण के लिये रखे गये हों। इस प्रकार यह भारत का अभी तक के प्राप्त प्राचीनतम मंदिर माना जा सकता हैं। यहां जमीन को समतल कर एक यज्ञ कुण्ड भी बनवाया गया था, जिसमें जली हुई समिधा भी उपलब्ध हुई है। कुण्ड की उत्तरी और तीन मात्र देवियों की प्रतिमाएं तथा अनेक मिट्टी के दीप मिले हैं। मन्दिर के मध्य में मिट्टी का देवपीठ भी मिला है। संभवतः यह भी आद्य ऐतिहासिक गज पृष्ठाकार मंदिरों में सब से प्राचीनतम है।

निखात क्रमांक दो में आगे उत्खनन होने पर चार यज्ञ कुण्ड और मिले हैं, जिनमें दो चौखट एक वृक्षाकार और एक अर्ध-वृक्षाकार है। यह कुण्ड के पास तांबे की घंटी, आहुति के लिए धान्य भरे पात्र व एक मुद्रा ब्राह्मी लिपि में मिली है जिस पर 'वेदिस' लिखा हुआ है। [विक्रम विश्व-विद्यालय वार्षिक प्रतिवेदन (१९७९-८०) पृष्ठ १७-१८] ये सारी मान्यताएं वि० श्री वाकणकर की हैं।

२. अग्रवाल समाज उज्जैन : सिंहस्थ स्मारिका (१९८०) में वि० श्री वाकणकर का लेख, उज्जयिनी, पृ० २.

मौर्यकाल में बौद्धधर्म एवम् स्थापत्य

मालवा क्षेत्र में बौद्ध धर्म का तीव्र प्रसार मौर्यकाल में हुआ। उस समय उज्जैन, विदिशा एवम् कसरावद बौद्धधर्म के प्रमुख केन्द्र थे। अनुश्रुत्यानुसार राज्यपाल के रूप में रहते हुए मौर्य राजकुमार अशोक ने ही विदिशा की एक वैश्य कन्या वेदिशा देवी से विवाह किया, जिससे उन्हें महेन्द्र एवम् संघमित्रा प्राप्त हुए। उज्जैन की वैश्या टेकरी उस वैश्य रानी का स्मरण कराती है। अशोक के मगध चले जाने पर वेदिशा देवी ने प्रवृज्या ले ली थी एवम् सांची में एक संघाराम का निर्माण करवाया था। अशोक के राज्यकाल में महेन्द्र और संघमित्रा बौद्ध धर्म प्रचारार्थ श्री लंका गये थे।[१] अशोक मालवा को फिर भी नहीं भूल पाया। संभवतः उसने सांची के विशाल स्तूप का निर्माण करवाया और वहां एक सिंह-शीर्ष-युक्त प्रस्तर स्तंभ खड़ा करवाया।[२]

बौद्ध स्थापत्य

मौर्यकालीन बौद्ध निर्माणों को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है : (१) स्तूप-चैत्य, (२) विहार-संघाराम और (३) स्तंभ।

स्तूप निर्माण :—मौर्यकाल स्तूपों के अवशेष उज्जैन, सांची, महेश्वर और कसरावद में उपलब्ध हैं।

उज्जैन : यद्यपि उज्जैन की वैश्या टेकरी स्तूप के प्राङ्मौर्यकालीन होने के काफी तर्क दिये गये गये हैं[३] फिर भी निर्णायत्मक रूप से ऐसा सिद्ध किया जाना निश्चित प्रमाणों के अभाव में संभव नहीं है। कानीपुरा के इस विशाल स्तूप को लोकानुश्रुति वैश्या टेकरी के नाम से पुकारती है। अधिक संभव है कि अशोक की बौद्ध पत्नी वैश्या कन्या वेदिसा देवी ने इसका पुर्ननिर्माण करवाया हो। यदि महावग्ग वर्णित स्तूप यही हैं तो इसके पास ही उक्त ग्रन्थ में वर्णित दो लघु स्तूपों के निश्चित प्रमाण टीलों के रूप में आज भी उपलब्ध हैं। इनके बारे में मनोहरलाल दलाल[४] की यह धारणा है कि ये दोनों मौर्यकालीन रहे हैं और इन में एक का संबंध अशोक के पुत्र महेन्द्र से तथा दूसरे का संबंध अशोक की कन्या संघमित्रा से रहा था। ये दो स्तूप क्रमशः तुलावती टेकरी वैश्या टेकरी से लगभग १०० मीटर पश्चिम की ओर तथा कंकड़ टेकरी उससे लगभग उतनी ही दूर नैऋत्य की ओर स्थित है। यह मान्यता प्रकट की गई है कि वैश्या टेकरी की भांति से स्तूप मुरम युक्त काली मिट्टी से भराव देकर बनाये गए थे तथा इस भराव के ऊपर ईंटों का आवरण डाल दिया गया था।५

लेखक ने स्वयं वैश्या, तुलावती और कंकड़ टेकरियों का निरीक्षण किया है। वैश्या टेकरी के बारे में वह उसके प्राङ्मौर्यकालीन होने के तर्क से सहमत है किन्तु तुलावती और कंकड़ टेकरी के बारे में कोई

---

१. महावंश, ५।२०९-१०; ५।२; बौद्ध संस्कृति, पृ० ३६-३८; दीपवंश ८.

२. मा०सां० पृ० २४.

३. मा०क० स्था०, अ०-५ (स्तूप) ए०रि०आ० डि० ग्वा० स्टे० (१९३८-३९) पृ० ३४.

४. मा०क०स्था०, पृ० ७५.

५. मा०क०स्था०, पृ ७५.

निर्णय लेना कठिन है। ये दोनों टेकरियां अब केवल मिट्टी के टीले जैसी रह गयी हैं। उनका गोलाकार अस्तित्व उनके कभी स्तूप रहने का प्रमाण अवश्य देता है किन्तु दोनों ही टीलों पर ईंट का एक खण्ड भी उपलब्ध नहीं है जिससे उनके समय का ठीक-ठीक अनुमान लगाया जा सके। आसपास काफी तलाश करने पर एक भी ऐसा प्रस्तर खण्ड नहीं मिल सका जो मौर्यकाल होने का प्रमाण देता हो। इस कारण केवल पूर्व पुराविदों के इस निष्कर्ष को मानने के अलावा कोई चारा ही नहीं रह जाता कि ये दो स्तूप मौर्यकालीन थे। यह तर्क भी दिया गया है कि तुलावती टेकरी वाला स्तूप अधूरा ही छोड़ा गया था। यह तर्क भी प्रमाणो के अभाव में स्वीकार नहीं किया जा सकता। हमारी दृष्टि में कंकड़ टेकरी वाला स्तूप तुलावती टेकरी की उपेक्षा अधिक अधूरा दिखाई देता है। वर्तमान में जो स्थिति है उसके आधार पर तो दोनों ही अधूरे दिखाई देते हैं।

सांची—सांची प्रसिद्ध बौद्ध स्मारक १००० सेन्टीमीटर ऊंची पहाड़ी पर २३°२८ उत्तर एवं ७७°४८ पूर्व में स्थित है। ये सारे विश्व में अपने धार्मिक एवम् पुरातत्वीय महत्व के लिए प्रसिद्ध है। सांची के दान अभिलेखों से ज्ञात होता है कि इस स्थान का प्राचीन नाम काकणाव अथवा काकणाय था। स्तूप संख्या १ को पादवेदिका पर खुदे हुए ई० ४१२-१३ और ४५०-५१ के गुप्त काल के लेखों में इसका नाम काकनद उत्कीर्ण किया गया है। यह सचमुच एक आश्चर्य का विषय है कि ह्वेनसांग ने सारे भारत के बौद्ध तीर्थ स्थलों का जहां पर्याप्त वर्णन किया है, वहां उसने सांची के बारे में एक शब्द भी नहीं लिखा है। ईसा की ७वीं शताब्दी के एक लेख में इसका नाम वोटश्री पर्वत आता है।

बौद्ध-ग्रन्थों ने सब से पहले सांची पर बौद्ध निर्माण के साहित्यिक प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। सिंहली बौद्ध साहित्य में वर्णन है कि सम्राट् अशोक का पुत्र महेन्द्र जब अपनी माता से मिलने विदिशा गया तो उसकी माता श्रीदेवी उसे उसके द्वारा निर्मित वेदिसगिरि विहार में ले गयी। वेदिसगिरि विहार को सिंहली बौद्ध साहित्य में कहीं कहीं चैत्यगिरि भी लिखा गया है।[२] सांची में यद्यपि अनेक छोटे-मोटे स्तूपों के अवशेष हैं। किन्तु यहां से ३ स्तूप अत्यन्त प्रधान और पूर्ण हैं। इन में स्तूप क्र० १ प्रधान अथवा महास्तूप है। यह स्तूप अशोक के द्वारा निर्मित किया गया था। स्तूप क्र० दो और तीन भी मौर्यकाल में ही बनाये गये थे। इन स्तूपों का पुनर्निर्माण एवम् परिवर्धन पर्याप्त रूप से शुंगकाल में सम्पन्न हुआ।

प्रश्न यह उठता है कि इस स्थान पर स्तूप क्यों बनाया गया? इस स्थान का भगवान बुद्ध के जीवन से कोई संबंध न था। बौद्ध साहित्य से विदित होता है कि अशोक उज्जयिनी में राज्यपाल का कार्य करता रहा। उसके बाद वह विदिशा गया तथा वहां के सेट्ठी की पुत्री से विवाह कर लिया। संभवतः इस कारण उस स्थान का महत्व हो गया और अशोक द्वारा स्तूप तथा स्तंभ का निर्माण किया गया। दूसरा कारण यह हो सकता है चार महामार्गों के चौराहे पर स्थित सांची को उपयुक्त स्थान समझा गया। पाटलिपुत्र से कौशांबी होकर तथा उज्जैन-सांची होकर राजमार्ग भारतीय समुद्र के पश्चिमी बन्दरगाह भड़ौंच

---

१. देवला मित्र : सांची, पृ० १-२.
२. नरेन्द्र नाथ : आर्कोलाजिकल म्यूजियम सांची, पृ० ३.
३. मा० सां०, पृ० २९.
४. अग्रवाल वासुदेवशरण : इंडियन आर्ट, पृ० १०३-११०; मा०सां०, पृ० ९०; देवला मित्र : सांची, पृ० १-२.

जाया करता था। मथुरा से भी उज्जैन के लिये विदिशा होकर जाना पड़ता था। इस तरह सांची का भूभाग एक राष्ट्रीय चौराहा था जिसके महत्व को ध्यान में रखकर अशोक ने स्तूप निर्मित किया होगा। सांची के मुख्य स्तूप का कोई संबंध नहीं था। अशोक ने इसे पूजा हेतु निर्मित किया।[1] महास्तूप के निकट लेख-युक्त एक स्तम्भ अशोक ने खड़ा करवाया था।

महास्तूप अर्थात् स्तूप क्रमांक १ प्रारंभ में केवल १७५ सेन्टीमीटर व्यास और ८७ सेन्टीमीटर ऊंचाई का था। इसका अण्ड सूखी कच्ची ईंटो का था। इसका आकार अर्धवृत्त लिये हुए था। इस के नीचे के भाग में १५ सेन्टीमीटर की दूरी पर लकड़ी की वेष्टिनी बनी हुई थी। कतिपय विद्वानों की यह धारणा रही है कि अशोक ने तथागत के अवशेषों को सुरक्षित रखने वाले आठ बड़े स्तूपों को खुलवाकर उनमें रखे अवशेषों को कई भागों में बाँट कर उन पर कई स्तूप बनाये थे। सांची का स्तूप भी उनमें से एक था। किन्तु कनिंघम ने महास्तूप का जो बोरिंग किया था। उससे किसी भी प्रकार के भस्मावशेष प्राप्त नहीं हुए। इससे यह ज्ञात होता है कि सांची का महास्तूप विशुद्ध स्मारक स्तूप था और धार्मिक उद्देश्यों को लेकर उसका निर्माण किया गया था। शुंगकाल में महास्तूप का परिवर्धन-परिवर्तन सम्पन्न किया गया। इससे स्तूप का आकार लगभग दूना हो गया। मौर्यकालीन प्राचीन स्तूप को शिलाओं से आच्छादित किया गया। कालान्तर में इन शिलाओं पर १० सेन्टीमीटर मोटी कांक्रीट की खोल चढ़ाई गयी जिसके कारण आज इस स्तूप का व्यास ३१५ सेन्टीमीटर और ऊंचाई १३५ सेन्टीमीटर हो गई। शुंगकाल में काष्ठ वेदिका का निर्माण करवाया गया[2] साथ ही हर्मिका भी निर्मित की गई।

आज जो महास्तूप दिखाई देता है वह अपने मूल रूप की भांति "त्रिमेधि" है। सबसे नीचे भूमितल, उस पर आधार और उस पर हर्मिका है। अण्ड का आधार ३८.७५ सेन्टीमीटर है। इस आधार के आसपास चारों ओर लगभग १५ सेन्टीमीटर चौड़ा प्रदक्षिणा-पथ है। भूमितल से इस पथ पर पहुंचने के लिए २५ सीढ़ियां हैं, जिन्हें दोहरा सोपान दिया गया है। स्तूप के भूमितल प्रस्तर द्वारा निर्मित हैं। भूमितल पर स्तूप से ३५ सेन्टीमीटर की दूरी पर एक मण्डलाकार महावेदिका है जो २६.५ सेन्टीमीटर ऊंची है। इस वेदिका में ५-५ सेन्टीमिटर की दूरी पर २२.५ सेन्टीमीटर ऊंचे स्तंभ हैं जिन्हें आपस में ५ सेन्टीमिटर ऊंची तीन सूचियों से जोड़ा गया है। ये स्तंभ ५ सेन्टीमीटर ऊंचे प्रस्तर ऊष्णीशों से ढंके हुए हैं। इस प्रकार ये ऊंचाई में महावेदिका के तुल्य हो जाते हैं। यह महावेदिका यद्यपि बड़ी सादी है किन्तु अत्यन्त ही प्रभावोत्पादक है।[3]

पर्सी ब्राउन के मत में यह मौर्यकालीन निर्माण कला की सबसे प्रभावी निर्मिति है। महास्तूप का ऊपरी हिस्सा सपाट है, जिसका व्यास ९५ सेन्टीमीटर का है। इस ऊपरी भाग पर एक चौकोर हर्मिका स्थित थी जिसकी वेदिका की प्रत्येक भुजा ५३.७५ सेन्टीमीटर और कोण रेखा ७७.५ सेन्टीमीटर थी। इस हर्मिका में जो स्तम्भ प्रयुक्त हुए वे लगभग २५ सेन्टीमीटर ऊंचे रहे। महावेदिका के स्तम्भों की भांति ही वे सूचियों और ऊष्णीशों से युक्त रहे।[4]

---

१. रीस डेविड्स : बुद्धिस्ट इंडिया पृ० १३१; प्रा० भा०स्तू०गु०म०, पृ० ६२-६३.

२. ब्राउन पर्सी : इं०आ०; पृ० १६; मा०सा० पृ० २९.

३. मा०क०स्था, अ० ५ (स्तूप).

४. इं०आ०पृ० १६.

महावेदिका चारों दिशाओं में चार तोरण द्वारों से युक्त है। शुंगकाकालीन होने से इन तोरण द्वारों की चर्चा आगामी अध्याय में की जावेगी।

सांची के स्तूप क्रमांक दो का आकार-प्रकार भी महास्तूप के समान ही है। इनका व्यास ११७.५ और ऊंचाई ७२.५ सेन्टीमीटर है। यह स्तूप भी त्रिमेधि था, जिसे शुंगकाल में परिवर्धित किया गया। उसी काल में उसकी वेष्टिनी, सोपान, प्रदक्षिणा-पथ और हर्मिका का निर्माण किया गया। अशोक के समय के कई प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु मज्झिम, मोडनीपुत, गोतपुत, भोगालीपुत आदि भी थे। स्तूप क्रमांक दो में इन्हीं के अस्थिशेष रखे रहे।[1]

स्तूप क्रमांक तीन महास्तूप के उपरान्त सांची का एक महत्वपूर्ण स्तूप है। इसका व्यास लगभग १२५ सेन्टीमीटर और ऊंचाई ६७.५ सेन्टीमीटर है यह स्तूप भी त्रिमेधि है और संप्रति शुंगकालीन महावेदिका, मध्यवेदिका और हर्मिका से युक्त है। स्तूप क्रमांक तीन से बुद्ध के दो परम शिष्यों सारिपुत एवम् महामोद्गलायन की अस्थियों की मंजुषाएं प्राप्त हुई हैं।[2] इन्हें श्रीलंका भेज दिया गया था, किन्तु भारत की स्वाधीनता के उपरांत वहां से वापस मंगवा कर सांची में अभी बने नये विहार में प्रतिस्थापित किया गया है।

महेश्वर—महेश्वर में एक मौर्यकालीन स्तूप के अवशेष प्राप्त हुए हैं। यहां अब केवल इसका विशाल आधार ही शेष है। कच्ची मिट्टी से इस स्तूप का भराव किया गया था। इसे कालान्तर में ईंटों से ढांक दिया गया था। इन ईंटों के आकार, प्रकार के आधार पर इस स्तूप को मौर्यकालीन माना गया है।[3]

कसरावद—होलकर राज्य में सन् १९३६ से लगाकर सन् १९३८ तक जो एकाधिक उत्खनन हुए, उनसे कसरावद के मौर्यकालीन अवशेषों का ज्ञान हुआ है। कसरावद के पास 'ईंटवर्डी'* या बेड़ी नामक स्थान पर उत्खनन में विष्णु करंदीकर, धर्मपाल गुप्ता आदि का योगदान रहा। = उत्खनन के परिणाम स्वरूप स्तूपों, चैत्यालयों तथा विहारों का पता लगा। ऐसे मृणभाण्ड भी मिले जिनमें अशोक की ब्राह्मी लिपि

---

१. क०मि०टो०, पृ० १८५-८६.
२. वही, मा० सां०, पृ० ४५.
३. एक्स्केवेशन ऑफ महेश्वर एण्ड नावड़ाटोड़ी, पृ० २७.

*ईंटवर्डी के प्रारंगिक सर्वेक्षण के अनुसार इस स्थान को चार भागों में बांटा गया है—

(१) मुख्य स्तूप व उसके दक्षिण का चैत्यगृह,
(२) पूर्वी स्तूपों वाला भाग,
(३) पश्चिम में सामूहिक आवास, पूजापाठ अथवा सभामण्डप, उसके पीछे पश्चिम की ओर विशाल वर्गाकार कक्ष-भण्डारगार रहा होगा।
(४) पश्चिमोत्तर के विहारगृह, इस में टेकरी के मुख्य संघपति तथा नीचे की ओर भिक्षसंघ का आवास रहा होगा। मुख्य संघपति के सम्मुख एक विशाल भवन था तथा उसके सम्मुख एक ४०×१७.५×१२.५ सेन्टीमीटर का जलाशय बना था। इस जलाशय के भीतरी भाग चूने के पलस्तर से युक्त था। यही संभवतः सामूहिक भोजनालय अथवा चैत्यालय रहा होगा। क्योंकि निकट ही जो कुण्ड है, उसका प्रयोजन केवल भोजनार्थ व पूजार्थ ही रहा होगा।

कसरावद . स्तूप व विहार परिसर
- एक अनुमानिक प्रस्तुति -
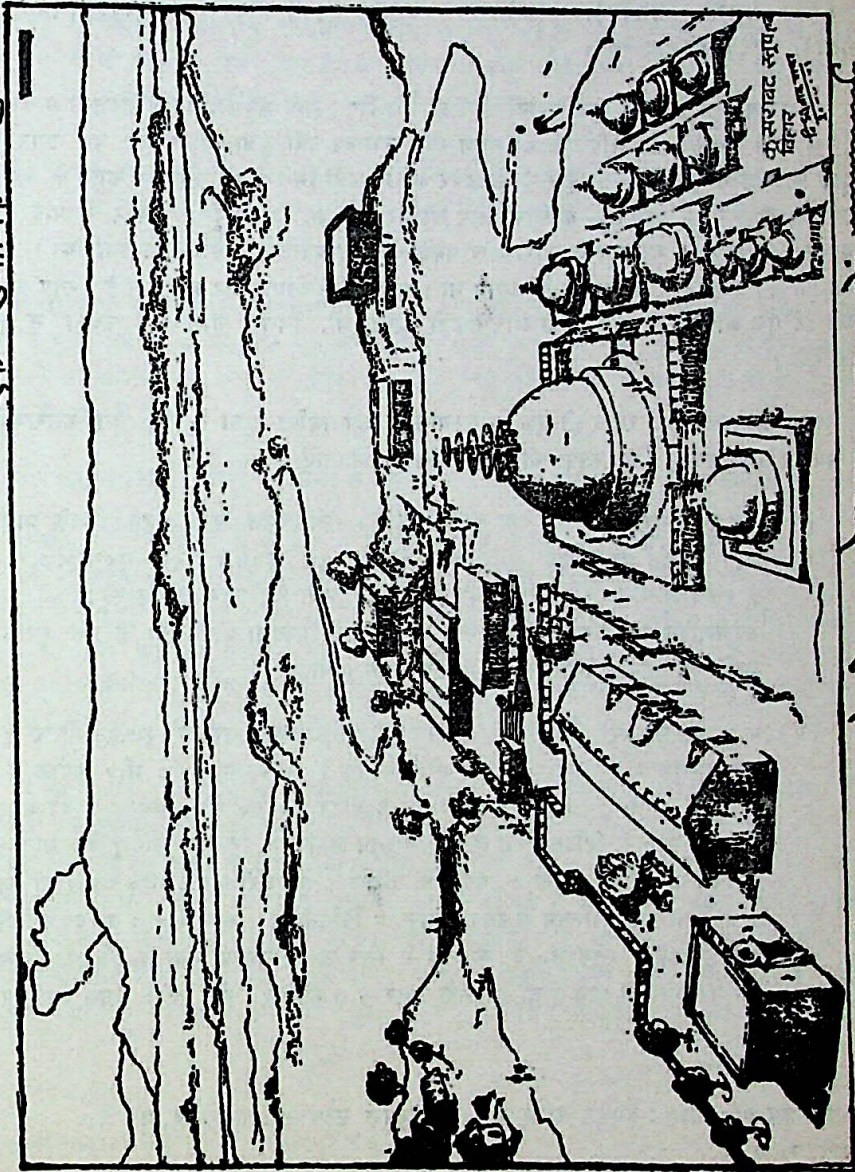
श्री. वि. श्री. वाकणकर के लेख : होलकर राज्य में महत्त्वपूर्ण उत्खनन : कसरावद से साभार -

में भिक्षुओं के नाम उत्कीर्ण किये गये थे।[1]:—(१) कूतीयेसपस (कृतियशस्य), (२) रिकप रेठी (रट्ठी रक्षप) या (ऋषभ रट्ठी), (३) धमतीस (धर्मतिष्य), संभवतः तिष्य रक्षित, (४) निगठस विहारे दीपं (निर्ग्रंथस्य विहारस्य दीपं), (५) तपे (तापस्), (६) गोपालीय (गोपालक), (७) पेरित (प्रेरित), (८) कसनाग (कृष्णनाग), (९) पूतस (पुत्रस्य), ३०) पदगारीक (पदागारिक) (११) सेरिगाद (श्री गाद), (१२) मूलदेव (मूलदेव), (१३) गम (ग्राम), (१४) सेठये (श्रेष्ठीय), (१५) पूतीसाख (प्रतिशाख्य), (१६) परिगाद केश।

कसरावद का स्थापत्य अन्य स्थानों जैसा ही है। किन्तु स्तूप का पादपीठ अधिकतया पत्थरों का एवम् इंटों का बना था। उत्खनन में यद्यपि एक भी संपूर्ण स्तूप उपलब्ध नहीं हुआ, फिर भी वह ऊपर गोलाकार अण्ड सदृश्य था, यह माना जा सकता है। उसके ऊपर के छत्र नहीं मिले हैं। संभवतः वे काष्ठ के रहें होंगे, जो कालान्तर में नष्ट हो गये।[2] बड़े स्तूप के चारों ओर चौकोर पीठ था, जिसके पूर्वोत्तर कोने में पाद प्रक्षालनार्थ एक आयताकार कुण्ड था। मूलस्तूप के चारों ओर पक्के चूने का प्रदक्षिणा पथ बनाया गया था। वह इतना मजबूत था कि सन् १९४० में वह पत्थर के समान था। अब वह पूर्णतया नष्ट हो चुका है। स्तूप के हेतु बनाई जाने वाली ईंटें एक ओर चौड़ी और दूसरी ओर सकड़ी रहती थी, जिससे गोलाकार रचना में सरलता से विठाई जा सके।[3]

सांची के पश्चात् कसरावद ही एक ऐसा स्थान है जहां पर्याप्त मात्रा में स्तूप हैं। कसरावद में ११ स्तूपों के अवशेष प्राप्त हुए है। इन स्तूपों की निम्नलिखित विशेषताएं हैं:—

(१) यह स्थल स्तूपों का एक बड़ा समूह रहा है। इस स्थल पर आहत सिक्के प्राप्त हुए हैं। यहां जो ईंटें प्रयुक्त हुई हैं, उनका आकार ५० से०मी०×२५ से०मी×७.५ से० मी० है। इन आधारों पर इन्हें मौर्यकालीन माना गया है। इनमें से कुछ स्तूपों को शिलाओं से आच्छादित किया गया था। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सांची की ही भांति यह कार्य शुंगकाल में ही सम्पन्न हुआ होगा।

(२) कसरावद का प्रथम स्तूप सबसे विशाल है। इसका व्यास लगभग १७.५ मीटर है। इसके स्तूप क्रमांक २ का व्यास ७५.६५ मी०, क्रमांक ३ का व्यास ७.२० मी० क्रमांक ४ का व्यास ७ मी० ५० से०, क्रमांक ५ का व्यास ६ मीटर ३० से० मी०, क्रमांक ६ का व्यास ३ मी० ९० से० मी० से विदित होता है। इनमें स्तूप क्रमांक ४ पर स्तूप क्र० १ के समान कंक्रीट का आवरण था। स्तूप क्रमांक ५ एवम् ६ के दक्षिण में कुछ दूरी पर ६ मी० व्यास का स्तूप क्रमांक ७ था तथा इससे पश्चिम में स्तूप क्रमांक ८ निर्मित था। स्तूप क्र० ८ का व्यास भी ६ मी० ज्ञात होता है। स्तूप क्र० ३ के पूर्व में स्तूप क्र० ९ बनाया गया था जिसका व्यास ५ मी० ७० से० मी० से ज्ञात होता है उसके उत्तर में ७ मी० ५० से० मी० व्यास का स्तूप क्र० १०

---

१. वाकणकर वी० श्री० : होल्कर राज्य में एक महत्वपूर्ण उत्खनन : कसरावद, पृ० ३,
२. वही, पृ० १०३.
३. वही, पृ० १०३.

स्थित था। स्तूप क्र० ११ स्तूप क्र० ९ के उत्तर में तथा स्तूप क्र० २ के पूर्व में पत्थर के टुकड़ों से निर्मित किया गया था। इसका व्यास ७ मी० २८ से० मी० रहा होगा।[1]

(३) इन स्तूपों के निकट सभागृह, निवास स्थल एवम् विहार भी थे।

(४) इन स्तूपों के आसपास प्राङ्मौर्यकालीन पर्याप्त अवशेष प्राप्त हुए हैं। यहां के मृण्भाण्डों के जो अवशेष उपलब्ध हुए हैं उनमें उत्तर चमकीले काले बर्तनों के साथ काले लाल पात्र लाल पुते और घुटे, काले घुटे पात्र, और सादे लाल पात्र आदि मिले हैं।

(५) कुछ मृण्भाण्डों पर जो उत्कीर्ण लेख प्राप्त हुए हैं उनसे यहां विहार के अस्तित्व होने एवं उन विहारों में निवास करने वाले भिक्षुओं के नाम ज्ञात होते हैं। विहारों के वर्णन करते समय इन पर प्रकाश डाला जा रहा है।

विहार एवम् संघाराम:— मौर्यकालीन विहारों और संघारामों का वर्णन इसलिये किया जा रहा है कि इस में कुछ कक्ष ऐसे हैं जो पूजा कक्ष माने गये हैं व इस कारण मन्दिर वास्तुकला के अन्तर्गत आ जाते हैं। दूसरे इनके स्थापत्य को देख कर उन मौर्यकालीन मंदिरों की कल्पना की जा सकती है, जो अब पूरी तरह केवल अवशेष ही रह गये हैं।

मौर्यकालीन विहारों एवम् संघारामों के अवशेष सांची तथा कसरावद से प्राप्त होते हैं।

सांची—सांची में स्तूपों के अलावा दो अवशेष ऐसे हैं जिन्हें मौर्यकालीन माना जा सकता है। इनमें एक वहां का भवन क्र० ४० तथा दूसरा भवन क्र० ५१ है। भवन क्र० ४० एक मन्दिर है तथा भवन क्र० ५१ एक संघाराम है। पुराविदों की धारणा है कि सांची की निर्मिति क्र० ४० एवम् ५१ अशोक की पत्नी श्रीदेवी की देन है। इस तर्क के पीछे बड़ी ईंटों के अस्तित्वों का प्रमाण दिया गया है। आकार प्रकार के अनुसार इन्हें मौर्यकालीन सिद्ध किया गया है। हालांकि विद्वानों का एक वर्ग यह मानता है कि केवल ईंटों के आधार पर निश्चयात्मक रूप से तिथि का निर्धारण करना उचित नहीं है।[2]

मंदिर क्रमांक ४० : सांची के दक्षिण क्षेत्र में मन्दिर क्र० ४० स्थित है। प्रारम्भिक इमारत, जो शायद लकड़ी की थी, ऊंचे चतुर्भुज चौतरे (२६ मी० १० से० मी० × १३ मी० ८० से० मी० × ३ मी० ३० से० मी०) पर प्रतिष्ठित थी। उस पर चढ़ने के लिये पश्चिम और पूर्व के पार्श्वों में सोपान मार्ग थे। यह वास्तु एक चापाकार चैत्य मण्डप था। चौतरे के अन्दर चापाकार प्रदक्षिणा पथ से युक्त मण्डप की पथरीली बुनियाद देखी गयी थी। ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में चैत्य मंडल अग्निकांड से अशेषत: नष्ट हो गया। सम्भवत: किसी ने जान-बूझकर जला दिया होगा। इस घटना का साक्षी केवल लकड़ी का कोयला ही बचा है। इसके थोड़ी देर बाद चौतरे पर एक मंडप का निर्माण हुआ होगा। इस मंडप को उठाने वाले दस दस खम्बों की पांच

१. इं०हि०क्वा०, २५, पृ० १०; बु०इ०मा०, पृ० ८२-८३.
२. बु०इं०मा०, पृ० ८१; आ०स०इं० (१९३६-३७), पृ० ८४.

पंक्तियों में विभक्त पचास खम्बों के ठूंठे अब भी खड़े हैं।[1] मंडप के निर्माण के लिए चौतरे को बढ़ाकर ४६.१० × २७.३० मीटर का क्षेत्र बना दिया गया था। इस सम्वर्धन के लिये मंदिर के चारों ओर कुछ दूरी पर एक पुश्ता दीवार तामीर करके बीच की खाली जगह को अनगढ़े तथा गढ़े हुए पत्थरों से भर दिया। इस भराई में पुरानी सीढियां दब गई और इस कमी को पूरा करने के लिये पुश्ता दीवार के उत्तरी माथे में दो नयी सीढ़ियां बनाई गयीं। बढ़ाये हुए चौतरे के तीन पार्श्वों में भिन्न-भिन्न नापों के उभार हैं। पूर्वी पार्श्व अभी अनखुदा ही पड़ा है। बड़ी बड़ी शिलाओं का बना फर्श ४० से०मी० की ऊंचाई तक उठा है।[2]

इसके विन्यास में एक गर्भगृह, मण्डप एवम् प्रदक्षिणा पथ था। दोनों लम्बे पार्श्वों में एक प्रवेश द्वार था। इस आधार पर इसे स्थापत्य की दृष्टि से मगध की मौर्यकालीन बराबर एवम् सुदामा गुहाओं के तुल्य माना गया है। यह भी कहा गया है कि इसका वास्तु विन्यास पश्चिम भारत के गुहा चैत्यों से भिन्न था।[3] उक्त तर्कों की समीक्षा करने पर यह कहा जा सकता है कि यह निर्माण उत्तर भारत की मौर्यकालीन गुफाओं और पश्चिम भारत की चैत्य गुफाओं के मध्य की अत्यन्त महत्वपूर्ण कड़ी है।

संघाराम क्रमांक ५१—सांची की पहाड़ी की पश्चिम ढलान पर स्तूप क्रमांक १ से पश्चिम द्वार के सामने चारदीवारी के साथ बनी हुई सोपान शृंखला द्वारा एक भव्य संघाराम तक पहुंचा जा सकता है। संघाराम मुख्य स्तूप की वास्तु मेघी से लगभग ७ मी० २० से०मी० नीचे की ओर स्थित हैं। सांची का यह संघाराम पुरातत्व की दृष्टि से महत्वपूर्ण उपलब्धि है। उत्तर से दक्षिण की ओर ३२.७० मी० है। इस प्रकार यह लगभग वर्गाकृति है। इस संघाराम की बाहरी दीवारें ५ मी० ३५ से०मी० मोटी हैं। संघाराम के भीतर की मोटाई ६० से०मी० है। संघाराम की दीवारें पहले बोल्डरों से निर्मित की गयीं, उस पर पत्थरों की शिलाएं अवस्थित की गई और फिर इन शिलाओं पर ईंटों के चूरे का प्लास्टर किया गया।[4]

इस संघाराम की भू स्थिति और योजना अन्य संघारामों के समान है। मध्य में खुला आंगन और इसके चारों ओर बरामदों सहित कोठरियों की पंक्तियां। पूर्वी दीवार में बने हुए मुख्य द्वार के दोनों पार्श्वों में एक बुर्ज है। ईंटों के फर्श वाला १६ मी० २० से०मी० भुजा का चौकोर आंगन बरामदे से निम्न तल पर स्थित है। यहां पहुंचने के लिये सीढ़ियों की तीन शृंखलाएं पार्श्व में व एक शृंखला पूर्व में है। २ मी० १० से०मी० चौड़ा बरामदा केवल अपनी ऊंची स्थिति के कारण ही आंगन से पृथक् दिखाई देता है। किन्तु दोनों के बीच एक विभाजक नीची दीवार भी है। इस दीवार की चोटी में समान अन्तर पर छेददार पत्थर की शिलाएं बनी हैं। छेदों में ऊपर की दीवार इमारत को उठाने के लिए खम्बे गाढ़े जाते थे। बरामदे के चारों कोनों पर कोण वाली दीवारें हैं जिनके दोनों सिरों पर कुशके बने हैं। आंगन के बारिशी पानी का निकास दक्षिण-पश्चिमी कोने में बनी हुई नाली के द्वारा होता था।[5] इस संघाराम का प्रवेश द्वार पूर्व की दिशा में था। पश्चिमी बड़ी कोठरी को छोड़कर इसमें २२ कोठरियां हैं, जिनमें कोनों की चार कोठरियां

१. मा०सां०, पृ० ६४-६५.
२. देबला मित्र : सांची, पृ० ४८-४६.
३. मा०सां०, पृ० ६६.
४. देबला मित्र : पूर्वोक्त पृ० ५१.
५. वही.

पार्श्व मार्गों के द्वारा अन्य कोठरियों से भिन्न रखी गयी हैं, इस संघाराम में संभवतः कालान्तर में आग लगा दी गई होगी।[1] इस कारण उत्खनन पर लकड़ी का बहुत सा कोयला प्राप्त हुआ है। यह इस बात को सिद्ध करता है कि इस संघाराम के स्तंभ काष्ठ निर्मित थे।

सांची के निर्माण क्रमांक ८ एवम् निर्माण क्रमांक १८ के बारे मे भी यह धारणा व्यक्त की गई। है कि ये मौर्यकालीन हैं किन्तु अधिकांश विद्वान इन्हें शुंगकालीन मानते हैं।[2]

कसरावद—कसरावद की रचना बड़ी ही कुशलता पूर्वक की गई थी। यह तीर्थस्थल दो प्रमुख भागों में विभाजित था। पश्चिम-उत्तर का भाग विहारों से युक्त था। जिसकी रचना इस ओर जानबूझ कर की गई थी। बाहर से आगन्तुक प्रथमतः इस ओर ही प्रवेश करते थे। यह माहिष्मती के ठीक उत्तर में ५ कि०मी० पर स्थित थी। अतः यात्रियों के उत्तर से आने में सुविधा थी। दूसरे यह कि पश्चिम की ओर पहाड़ी पर आने वाले नाले को रोक कर एक छोटा तालाब बनाया गया था। विहारों के निकट जल की पूर्ति भी एक आवासीय समस्या थी तथा वह इस प्रकार सुलझायी गई थी। विहारों के द्वार अधिकतया दक्षिण दिशा की ओर थे तथा उनसे स्तूप की ओर जाने में सुविधा थी। प्रत्येक विहार के पास ईंटों की नालियां व अन्दर मोरियां बनी थीं।[3]

साधारणतया पहाड़ियों के उत्तार-चढ़ाव के कारण मकानों को समतल बनाने के लिये आटले बनाने पड़ते थे। उत्तर दक्षिण की ओर ऐसे आड़े ओटलों की मुंडेर पर बड़ी लम्बी ईंटों की वेष्टिनी बनी हुई थी। विहार से नीचे उतरने के लिये सीढ़ियां थी। कसरावद के कमरे सांची, सारनाथ व नालंदा से बड़े थे। नीव पत्थर की तथा दीवारें ईंटों की रहती थी। जिन पर लाल मिट्टी का पलस्तर रहता था। ईंटों की जुड़ाई भी लाल मिट्टी से होती थी। प्राकार के क्षेत्रीय भित्ति की रचना पत्थरों की होती थी। कमरे साधारणतः आयताकार एवम् वर्गाकार रहते थे। उनके छत के दो प्राकार थे। कुछ मकानों पर चपटे खांचेदार (अंग्रेजी कवेलू के समान) कवेलू की छत बनी हुई थी। कई स्थानों पर सम्भवतः केवल घासफूस अथवा मालवा के देहाती मकानों के समान मिट्टी की छत (ओरा) रही होगी। एक पात्र पर एक ऊंचे मकान का कलात्मक चित्र उत्कीर्ण किया हुआ है। संभव है कि इस आकार की छतें वहां बनी रही हों जिसे देखकर ही उत्कीर्ण ने ऐसी आकृति बनाई हो।[4]

इस प्रकार कसरावद में स्तूपों के निकट विहारों के इन अवशेषों को स्तूपों की भांति मौर्यकालीन माना गया है। एक विहार का सभागृह २२ मी० ५० से० मी०×६ मी० का था। एक अन्य विहार २४ मीटर लम्बा था, जिसमें कई कोठरियाँ बनीं हुई थीं। इन विहारों में जो भिक्षु रहते थे इनमें से कुछ के नाम

---

१. देवला मित्र : सांची, पृ० ५२.
२. मा० सां० पृ० ५२-५३.
३. वि० श्री वाकणकर : कसरावद उत्खनन (अहिल्या स्मारिका), पृ० १०२.
४. वही, पृ० १०३.

मृण्भाण्डों पर उत्कीर्ण मिले हैं।[1]

एक ऐसे अभिलेख में "निगठस विहारे" अंकित हुआ है। इस आधार पर मनोहरलाल दलाल ने[2] इन विहारों को जैन सिद्ध किया हैं। उनके प्रमुख तर्क इस प्रकार हैं :—

(१) निगठस विहार वस्तुतः निर्ग्रन्थ विहार का ही रूपान्तर है।

(२) यहाँ जिन भिक्षुओं के उल्लेख प्राप्त हुए हैं उनके नाम बौद्ध भिक्षु जैसे नहीं लगते।

(३) संभवतः इनका निर्माण अशोक के पौत्र सम्प्रति ने करवाया था, जो जैन मत का कट्टर अनुयायी था।

(४) ये विहार जैन साधुओं के वर्षावास के लिए बनवाये गये होंगे।

दलाल के मत में यह विहार जैन विहारों के अस्तित्व का सब से प्राचीन प्रमाण है। दलाल का मत निश्चित ही विचारणीय है किन्तु फिर भी इनके तर्क को स्वीकार करने में कई बाधाएं हैं :—

(१) ये विहार बौद्ध स्तूपों के अत्यधिक निकट हैं और लगभग उनके समकालीन हैं। यदि बौद्ध स्तूपों के पास जैन भिक्षु निवास करते होंगे तो बौद्ध भिक्षु कहां रहते होंगे ? इस तथ्य का प्रतिपादन लेख नहीं कर पाया है।

(२) केवल एक लेख के आधार पर जो भली प्रकार पढ़ा भी नहीं गया है इन्हें जैन सिद्ध करना कुछ उत्साह का काम है। स्वयं दलाल का मत है कि निगठस को निगदस भी पढ़ा जा सकता है। दोनों ही स्थितियों में उसका संबंध निर्ग्रन्थ से हो ही जावेगा, कहना उचित नहीं है।

(३) जिन भिक्षुओं को उनके नाम से बौद्ध सिद्ध नहीं किया जा सकता है, उन्हें जैन मान लिया जाय, यह कैसे संभव है। एक बार यदि इन्हें जैन जैसा भी नाम मान लिया जाय तो मात्र नाम के आधार पर विहारों को जैन विहार कैसे माना जा सकता है ? एक उदाहरण पर्याप्त होगा। साँची की शुंग वेदिकाओं के निर्माण में जिन अनेक दानदाताओं का हाथ था, उनमें एक श्रमणेर की भी चर्चा आई है। क्या केवल इस आधार पर सांची की वेदिकाओं (निर्माण) को जैन सिद्ध किया जा सकता है ?

(४) ऐसे कोई भी पुरावशेष वहां उपलब्ध नहीं है, जिससे यहां जैन धर्म के अस्तित्व का निर्णायक प्रमाण प्राप्त हो सके।

---

१. रि०ए०हो० स्टे० (१९३८), पृ० १३५.
२. मा०क०स्था० अध्याय ५ (विहार शीर्षक के अन्तर्गत विवरण).

इन आधारों पर हम दलाल के मत को विचारणीय तो मान सकते हैं किन्तु तथ्यों की अधिक सटीक जानकारी के लिये और भी निश्चित प्रमाण की अपेक्षा करना व्यर्थ नहीं होगा।

स्तम्भ—अशोक द्वारा स्थापित एक स्तंभ सांची में विद्यमान है। यह मौर्यकालीन स्तम्भ महास्तूप के दक्षिणी तोरण द्वार के बाएं पार्श्व में स्थित था और अब लगभग टूट चुका है। इस स्तम्भ पर चतुर्मुखी सिंह-शीर्ष था। यह दर्शनीय शीर्ष अब सांची संग्रहालय में है और अपनी भव्यता में यह सारनाथ के शीर्ष की स्पर्धा करता है। मूल स्तम्भ १२ मी० ६० सें० मी० ऊंचा था। उस पर अशोक ने एक स्तंभ लेख उत्कीर्ण करवाया था। स्तम्भ के शीर्ष पर जो चौकी थी। उसके गोल एबेक्स पर चार हंस मिथुन और बीच-बीच में चार हनी-सकल अभिप्राय उत्कीर्ण किये गये हैं।[१]

उज्जयिनी से कुछ दूरी पर वायव्य दिशा में सोडंग नामक एक ग्राम है। यहां भी एक मौर्यकालीन स्तम्भ के अवशेष प्राप्त हुए हैं। सांची की ही भांति यह मौर्यकालीन स्तंभ चुनार पत्थर का था और मौर्यकालीन ओप से युक्त था। इस स्तम्भ के शीर्ष पर हाथी की प्रतिमा थी। आजकल यह स्तम्भ शीर्ष अपने खंडित रूप में विक्रम विश्वविद्यालय के संग्रहालय में विद्यमान है।[२]

सहयोगी स्तम्भ—मौर्यकालीन सहयोगी स्तम्भ हमें सांची के निर्माण क्र० ४० में दिखाई देते हैं। वहां लगभग पचास खम्भों के अवशेष विद्यमान हैं जिन पर कभी वहां विशाल मण्डप स्थित था। ये स्तम्भ बड़े एवम् अष्टपहलू थे।[३] उनमें पर्याप्त सादगी थी। ऐसा लगता है कि सांची के संघाराम अथवा कसरावद के विहारों में अधिकांशतः काष्ठ स्तम्भों का प्रयोग किया गया था, जो अब लगभग नष्ट हो गये हैं। उज्जैन में ऐसे मन्दिरों एवम् स्तम्भों के अवशेष प्राप्त हुए हैं, जिनके मौर्यकालीन होने की संभावना प्रकट की गई है। योगेश्वर टेकरी के पूर्व में बहादुरगंज क्षेत्र से एक सिंहनी का मुख मिला है जो चुनार सिकताश्म का है। गोमती-कुंड से भी इसी प्रकार का एक व्यालु मुख प्राप्त हुआ है।[४]

जैन निर्मितियां

मौर्यकाल में जैन मत विकसित अवस्था में था। चन्द्रगुप्त मौर्य अपने जैन गुरू भद्रबाहु के साथ दक्षिण की ओर गया तो उन्होंने कुछ दिन उज्जैन में निवास किया था।[५] अशोक ने मालवा में बौद्ध मत को अधिक प्रश्रय दिया किन्तु उनका पौत्र सम्प्रति जैन धर्म का अनुयायी था। उन्होंने कई जैन मन्दिरों एवं संघों का निर्माण करवाया, ऐसी जैन अनुश्रुतियां है।[६] ऐसी भी अनुश्रुति है कि संप्रति के जैन गुरु आर्य सुहस्तिन

---

१. मा०सा० पृ० ९०-९१.
२. मा०क०स्था०, अ० ५ (स्तंभ)
३. देवला मित्र : सांची, पृ० ४९.
४. उ०द० (१९८०), पृ० २९.
५. परिशिष्टपर्वन (जेकोबी), पृ० १५७.
६. मा०श्रू०ए०, पृ० १२०.

ने उज्जैन आकर जीवन्त स्वामी की मूर्ति की पूजा की थी और यहीं उनके द्वारा अवन्ती सुकुमाल ने जैन साधु के रूप में दीक्षा ली। मान्यता प्रकट की गई है कि अवन्ती सुकुमाल की मृत्यु पर उज्जैन में एक स्तूप का निर्माण करवाया गया था।[1] इस काल से जिन महान जैन पंडितों और साधुओं की चर्चा आई है, उनमें चन्द्ररुद्र मुद्रकगुप्त, आर्यरक्षित, आर्य आषाढ़ तथा वज्र स्वामी आदि का नाम उल्लेखनीय है।[2] इनके कार्यक्षेत्र उज्जैन दशपुर, विदिशा, तुमेम (तुम्बवन) कुंजरावत तथा यथावृत आदि थे।

संभव है मालवा में भी इन समस्त कारणों से जैन मंदिरों अथवा विहारों का निर्माण हुआ होगा। कसरावद के विहार को जैन मान लें तो कल्पना पुष्टि पाती दीख पड़ती हैं। वैसे इस काल में जैन मंदिरों के निर्माण की कल्पना अयथार्थ नहीं है। जब से प्राचीन जैन मंदिर के चिन्ह विहार में पटना के समीप लोहानीपुर में पाये गये हैं, जहां कुमराहर और बुलंदीवाग की मौर्यकालीन कला-कृतियों की परम्परा के प्रमाण मिले हैं। यहां एक जैन मन्दिर की नींव भी मिली है। यह मंदिर २ मी० ६५से० वर्गाकार था। यहां की ईंटे मौर्यकालीन सिद्ध हुई हैं। यहीं से एक मौर्यकालीन रजत सिक्का तथा दो मस्तकहीन जिन मूर्तियां भी मिली हैं जो अब पटना संग्रहालय में सुरक्षित हैं।[3]

शैवमत :

उज्जैन और शैव मत लगभग शताब्दियों से एक दूसरे के पर्याय बने रहे हैं। जैन अनुश्रुतियाँ प्रद्योत के समय महाकाल मन्दिर के अस्तित्व का संकेत देती है। लगता है कि मौर्यकाल में मालवा में जैन और वौद्ध मत का प्रचार-प्रसार होने पर भी शैव मत अपना प्रभाव सुरक्षित रख सका। इसका प्रमाण हमें सिक्कों से प्राप्त होता है। जे० एलन[4] ने उज्जैन के आहत सिक्कों को छः भागो में बांटा है, जिसमें एक वर्गीकरण त्रिमूर्ति देवता के अंकन का है। इसे कार्तिकेय या शिव माना गया है। किन्तु कनिंघम उसे स्पष्ट महाकाल का प्रतीक मानता है।[5] इसी प्रकार एन०सी० घोष का कहना है कि एलन जिन सिक्कों पर लक्ष्मी की पहचान करते हैं वह लक्ष्मी न हो कर शिव ही है।[6] एच० व्ही० त्रिवेदी भी इन सिक्कों का चार भागों में वर्गीकरण करते हैं और मालवा में मौर्य काल में शैव मत के अस्तित्व की स्पष्ट चर्चा करते हैं।[7]

वस्तुतः उज्जयिनी के समकालीन कुछ सिक्कों पर जो एक देवता की खड़ी प्रतिमा है जिसके एक हाथ में दण्ड और दूसरे हाथ में खट्वांग हैं, स्पष्ट ही शिव का प्रतीक हैं। उसे महाकाल मानने के तर्क में वजन है।

कुछ सिक्कों पर तो इस उत्कीर्ण देवता की ओर आमुख वृषभ को भी देखा जा सकता है। कुछ अन्य सिक्कों पर त्रिमुखी शिव का स्पष्ट अंकन हुआ है[8] सिक्कों द्वारा दिये गये इन प्रमाणों के आधार पर

---

१. इं०ए० ११, पृ० २४६.
२. मा०श्रू०ग्रं० पृ० १२०.
३. जैन हीरालालः भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० ३२७.
४. ए केटेलाग आफ इंडियन काइन्स इन ब्रिटिश म्यूजियम, पृ० १६८.
५. काइन्स आफ एन्शियण्ट इंडिया, पृ० ९७-९८.
६. दुबे जगन्नाथ : उज्जयिनी की प्राचीन मुद्राएं (उ०द०, १९८०), पृ० ११८.
७. वही.
८. वही, पृ० ११७.

मौर्यकालीन मालवा में शैव मत एवम् शिव मूर्ति पूजा का स्पष्ट अस्तित्व प्रतीत होता है। इससे इस बात का आधार मिलता है कि उस समय मालवा में किसी न किसी रूप में शैव देवालय अस्तित्व में होंगे। इन देवालयों में या तो शिव मूर्ति या शिव लिंग स्थापित रहे होंगे। ये देवालय ईंटों या काष्ठ निर्मित होंगे। अत: अपना अस्तित्व आज हम तक प्रमाणित करने में असफल रहे हैं। साथ ही प्रस्तर निर्मित देवालयों की कल्पना को भी सहसा निरस्त नहीं किया जा सकता। इसके आधार निम्नलिखित प्रमाण हैं :—

(१) सांदिपनि (उज्जैन में) आश्रम स्थित शिवमंदिर में जो नन्दी की प्रतिमा है, वह मौर्यकालीन प्रतीत होती है।[1]

(२) इसी प्रकार के दो खड़े नन्दी ओखलेश्वर क्षेत्र में प्राप्त हुए हैं। ओखलेश्वर क्षेत्र प्राचीन रहा है और उस के बारे में कतिपय विद्वानों की यह धारणा है कि यह स्थान अति प्राचीन, अति-मुक्तक श्मशान है।[2]

इन नन्दी-प्रतिमाओं को मौर्यकालीन मानने के बारे में निश्चित ही आपत्तियां हो सकती हैं। प्रथम तो यह है कि भारत में अन्य कहीं भी शैव धर्म से संबंधित इस समय की प्रस्तर सामग्री उपलब्ध नहीं है। द्वितीय यह है कि इन नन्दियों पर मौर्यकालीन ओप का अभाव है। तृतीय यह है कि मौर्यकाल में निर्मित प्रस्तर प्रतिमाओं में जो गति, ऊर्जा, वैभव एवम् प्राणवत्ता के दर्शन हमें मिलते हैं, उनका इन नन्दी प्रतिमाओं में अभाव है। फिर भी ये प्रतिमाएं निश्चित ही अपनी प्राचीनता का बोध करवाती हैं और इस बात का संकेत करती हैं कि मौर्यकाल में शैव मत मालव क्षेत्र की संस्कृति का एक अभिनव अंग रहा था।

मौर्यकाल के ये बहु-विधात्मक वास्तु वस्तुतः भारतीय मन्दिर वास्तु के मूलाधार माने जा सकते हैं। इस समय के ये वास्तु आर्य-अनार्य तत्वों के जहां एक ओर समवन्य थे, वहीं शुंग-सातवाहन मन्दिर वास्तु की प्रेरणा व पृष्टभूमि भी थे। कला की दृष्टि से मौर्यकाल की अपनी कतिपय विशेपताएं थीं। इन्होंने मौर्यकाल की जो मौलिकता दी, उसने इतिहास के अन्य कालों की वास्तु की अपेक्षा मौर्यकाल को एक पृथक पहिचान दी है। मालवा ने भी इस पहिचान को अपना निश्चित योग दिया है।

---

१. वाकणकर वि० श्री० : उज्जैन के अतीत पर विहंगम दृष्टि (उ०द०, १९८०) पृ० २९.

२. वहीं.

४ शुंग-सातवाहन-शक कालीन मालवा

मौर्यवंश के पतन के उपरान्त मालवा शुंगों के प्रभाव में आ गया। विदिशा इस समय मालवा का एक प्रमुख नगर बन गया। पुष्पमित्र के पुत्र अग्निमित्र के नेतृत्व में यह शुंगों की दूसरी राजधानी था। शुंगों ने १८७ ई० पू० से ८५ ई० पू० तक शासन किया।[१] शुंगों के बाद काण्व मगध के ब्राह्मण शासक बने किन्तु वे अधिक समय तक मगध के स्वामी नहीं रह पाये।

मगध को कमजोर होते देख मालव-जन ने इस क्षेत्र में तेजी से अपना अभ्युदय प्रारंभ किया। किन्तु इन्हें भी कठिनाईयों का सामना करना पड़ा। दक्षिण के आन्ध्र-सातवाहन नरेश शक्तिशाली हो मालवा होते हुए मगध तक जा पहुंचे। उन्होंने काण्वों की सत्ता समाप्त कर दी। मालवा सातवाहनों के हाथों में चला गया।[२] कुछ समय बाद आन्ध्र-सातवाहन शकों के डर के कारण पुन: अपनी सीमाओं में लौट गये।[३] मौर्यों के पतन और गुप्तों के उदय के मध्य मालवा, शकों एवम् सातवाहनों के पारस्परिक घात-प्रतिघातों का शिकार रहा।[४]

शुंगों के पतन होते ही उज्जैन में गर्दभिल्ल ने सत्ता हथिया ली। गर्दभिल्ल एक मालव शासक माना गया है। गर्दभिल्ल से शकों ने सत्ता छीन ली, किन्तु शकों के इस प्रारंभिक आक्रमण को मालवों ने झेल लिया।

जैन ग्रन्थ प्रमाणित करते हैं कि गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य ने, जिसे साहसांक एवम् विषमशील भी कहा जाता है, शकों को पराजित किया।[५] अनुश्रुतियों के अनुसार विक्रमादित्य मालवगण का एक महान नायक था, और ई०पू० ५७ में वह उज्जैन को पुन: जीतने में सफल हो गया। उसके बाद उसके चार उत्तराधिकारियों ने क्रमश: ४०, ११, १४ और १० वर्ष तक राज्य किया।[६] विक्रमादित्य भारतीय इतिहास की एक सबसे अधिक विवादस्पद समस्या है। अनुश्रुतियों एवम् अन्य कई बाद के ग्रन्थ ई०पू० पहली शताब्दी में विक्रमादित्य का अस्तित्व प्रकट करते हैं किन्तु विद्वज्जन पुष्ट ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव में इनको

---

१. ए०इ०यू७, पृ० ९०-९५.
२. आयंगर ए०एस० : एन एडवांस हिस्ट्री ऑफ इंडिया, भाग १, पृ० ११५.
३. निगम श्याम सुन्दर : इकानामिक आर्गनाइजेशन इन एन्शयण्ट इंडिया, पृष्ट ६.
४. का०हि०इ०, भाग २ अ० ४.
५. का०हि०इ० भाग २, अ० ४.
६. जैन के० सी० : जैनिज्म इन राजस्थान, पृ० १४; ए०इ०यू०, पृ० १५५.

प्रमाणिकता पर सन्देह करते हैं। इस प्रकार विक्रमादित्य एक उलझी हुई पहेली बन गया है।[१] कुछ विद्वानों ने मगध के गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय को और कुछ ने गौतमीपुत्र सातकर्णी को विक्रमादित्य माना है।[२] दशपुर के यशोधर्मन को भी विक्रमादित्य सिद्ध करने का प्रयास किया गया है।[३] कतिपय विद्वान् मानने लगें हैं कि विक्रमादित्य शकों को पराजित करने वाला मालवगण का एक अद्वितीय महान् नायक था।[४]

मालवों के उज्जयिनी से पतन के कारण जहां एक ओर सातवाहन थे, वहां दूसरी ओर शक रहे।

शकों का शासन—मौर्यवंश के पतन के उपरान्त भारत में विदेशी जातियों का सैनिक पर्यटन प्रारम्भ हुआ। पहले यवन और उसके बाद शक-पहलव आये। उनके बाद यूचियों की कुषाण शाखाओं ने कई भूभागों में अपना वर्चस्व स्थापित किया। मालवा में शकों का अधिपत्य स्थापित हुआ। ऐसी मान्यता है कि कुछ समय तक शकों ने कुषाणों की ओर से उज्जैन पर शासन किया था। उज्जैन में शकों ने तीन बार शासन किया। प्रथम बार जैन आचार्य कालक के बुलावे पर शक उज्जैन पर अधिकार करने में सफल हो गये। उन्होंने गर्दभिल्ल को मार कर सत्ता छीन ली। इन शकों को मालवगण नायक विक्रमादित्य ने पराजित कर दिया। यद्यपि शकों ने मालवा छोड़ दिया किन्तु वे अवसर की तलाश में बने रहे। जब विक्रमादित्य के उपरांत मालवजन कुछ कमजोर पड़े, तब सातवाहनों (आन्ध्रों) ने अधिकार कर लिया था।[५] किन्तु शकों के अनवरत दबाव के कारण आन्ध्र-सातवाहन दक्षिण की ओर चले गये। और पश्चिम भारत के क्षहरात शकों ने मालवा पर अधिकार कर लिया। क्षहरात परिवार का प्रथम क्षत्रप आर्त प्रतीत होता हैं। इसके बाद भूमक क्षत्रप बना। ऐसा लगता है कि भूमक कुषाणों की सत्ता को मानता था।

भूमक के उपरान्त नहपान क्षत्रप बना। उसके अधीन गुजरात, मालवा, अजमेर काठियावाड़ आदि प्रदेश थे। उसके सिक्के जुन्नार, नासिक, काले आदि स्थानों पर पाये गये हैं। उसके दामाद ऊषवदात के कुछ अभिलेख प्राप्त हुए हैं, जिनके अनुसार नहपान ने राजस्थान में मालवों की उत्तम भद्र शाखा को पराजित किया। नहपान की हार क्षहरातों के लिये एक अभिशाप लेकर आयी, क्योंकि उसके पश्चात् सुप्रसिद्ध सातवाहन शासक गौतमीपुत्र शातकर्णी ने पश्चिमी भारत को अपने अधिकार में कर लिया। नासिक अभिलेख के अनुसार उसके अधिकार में अपरान्त सौराष्ट्र, कुकुर, आकर और अवनती प्रदेश थे। उसने नहपान के सिक्कों पर अपनी छाप लगायी।[६]

गौतमीपुत्र की मृत्यु के साथ ही सातवाहन एक बार फिर कमजोर हो गये और उज्जैन पर एक नया शकवंश सत्ता में आ गया। ये विदेशी शासक शकों की कार्दमक शाखा के थे। इस वंश का प्रथम क्षत्रप

---

१. मा० ध्रू०ए०, पृ० १६५.
२. भाण्डारकर डी०आर० : वि०व्हा० पृ० ५७-६६.
३. सेलेक्ट इंस्क्रिप्शन, पृ० १८६.
४. पांडे राजबली : विक्रमादित्य ऑफ उज्जयिनी, पृ० ४१
इस विषय पर और भी विवेचन डी०आर० सरकार ने अपनी पुस्तक एन्शियण्ट मालवा एण्ड विक्रमादित्य ट्रेडिशन (पृ० १२८-१३६) में किया है।
५. निगम श्याम सुन्दर : मालव की हृदय-स्थली अवन्तिका, पृ ३१-३२.
६. ए०इ०यू०, पृ० १७८-८०.

यशोमतिक का पुत्र चष्टन था। कालान्तर में यह महाक्षत्रप बन गया। संभव है प्रारंभ में चष्टन कुषाणों के अधीन हो, तथा बाद में स्वतंत्र हो गया हो। चष्टन ने सातवाहनों को पराजित कर शकों का बहुत-सा राज्य पुनः प्राप्त कर लिया। चष्टन का पुत्र जयदामन अधिक समय तक जीवित नहीं रह सका। अतः उस का पौत्र रुद्रदामन उसके साथ क्षत्रप बना। चष्टन के मरने पर रुद्रदामन महाक्षत्रप बना। १५० ई० के रुद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख के अनुसार इस महान क्षत्रप ने आकर, अवन्ती अनूप, अपरान्त, सौराष्ट्र एवं आनर्त को अपने अधिकार में कर लिया।[१] यह सातवां नरेश वाशिष्टीपुत्र पुलुमावी को पराजित करने में सफल रहा। ऐसा लगता है पुलुमावी से रुद्रदामन ने उसका राज्य नहीं छीना, किन्तु मालवा निश्चित ही रुद्रदामन के अधिकार में था।[२]

जूनागढ़ अभिलेख में रुद्रदामन को बिना जनता से अतिरिक्त कर लिये अपने निजी कोष से धन लगा कर सुदर्शन झील पर बांध का पुर्ननिमता कहा गया है। उसे विद्वानों और विद्याओं का प्रेमी तथा अच्छा प्रशासक भी माना गया है।[३] रुद्रदामन के उपरान्त ये पश्चिमी शक पर्याप्त समय तक शासन करते रहे किन्तु उत्तराधिकार संघर्षों, पारस्परिक विग्रहों तथा आभीरों, मालवों और नागों से संघर्ष के परिणामस्वरूप ये दिन-प्रतिदिन कमजोर पड़ते गये। अन्ततः गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने इन पश्चिमी शक क्षत्रपों को समाप्त कर दिया। शकों के कमजोर पड़ने एवम् कुषाणों के तिरोहित होने से विदिशा पर नागों का अधिकार हो गया। विदिशा के नाग राजाओं में वृपनाग, शेप, भोगिन एवम् सदाचन्द के नाम प्राप्त होते हैं।[४]

गुप्तों ने शकों की ही भांति नाग राजाओं की सत्ता का भी समापन कर दिया। इसी समय उदयपुर के आस पास तीसरी शताब्दी में मालवों ने अपनी सत्ता को पुनः घनीभूत कर लिया था। वे अब पुनः अपनी शक्ति बढ़ाने की तैयारी में थे।[५]

शुंगकालीन मन्दिर वास्तुकला की विशेषताएं :

(१) वास्तुकला में शुंगकाल एक निर्णायक मोड़ ले कर आता है। यद्यपि शुंगकाल के शुंगराजा ब्राह्मण मतावलम्बी थे, किन्तु वे बौद्ध मत के प्रति सहिष्णु थे। उनके राज्यकाल और राज्य क्षेत्र में न केवल कई बौद्ध निर्मितयों का परिवर्धन एवं परिवर्तन हुआ, अपितु अनेक नवीन निर्माण कार्य भी सम्पन्न हुए। ऐसा लगता है ये निर्माण राजकीय क्षेत्र से न होकर निजी क्षेत्र से थे। अशोक की भांति शुंग राजाओं ने इनके लिये राजकोष खुला नहीं रखा। उन्होंने सैनिक अथवा ब्राह्मण धर्म से संबंधित कार्य की ओर अधिक लक्ष्य दिया। इतना होने पर भी उन्होंने निजी दानदाताओं द्वारा बौद्ध धर्म के लिये किये जाने वाले प्रयासों में कोई रोड़ा नही अटकाया। यह बात सांची की वेदिकाओं पर उत्कीर्ण लेखों से ज्ञात होती है। इनमें उन

---

१. इ०इं०, ८।६.
२. ए०इ०यू० पूर्वोक्त.
३. इ०इं०पूर्वोक्त.
४. ए०इ०यू०, पृ० १६६.
५. मा०श्रू०ए०, पृ० १८२; इ०इं० २७, पृ० २५२.

दानदाताओं की सूची दी गई है जिनके दान से विभिन्न वेदिकाएं और स्तम्भों का निर्माण सम्पन्न हुआ है।[1]

(२) मौर्यकाल में विशाल ईंटों का प्रयोग किया गया था, किन्तु शुंगकालीन ईंटें आकार में अपेक्षाकृत छोटी होने लगीं।

(३) शुंगकाल में स्तूपों के परिवर्धन-परिवर्तन करते समय सहसा शिलापट्टों का प्रयोग बढ़ गया। जहां मौर्यकालीन निर्मितियों में प्रस्तर प्रयोग कम तथा ईंट और काष्ठ का प्रयोग अधिक होता था, वहां शुंगकाल में ईंटों और काष्ठ का काम कम और प्रस्तर का प्रयोग अधिक होने लगा, प्रस्तर के प्रयोग के कारण शुंगकालीन निर्माण अपने पूर्व के निर्माणों की अपेक्षा अधिक आकर्षक और टिकाऊ हो सके। जिन मौर्यकालीन निर्मितियों का जीर्णोद्धार शुंगकाल में हुआ।, उन्हें भी इस माध्यम से स्थायित्व प्राप्त होगया। यही कारण है कि सांची के मौर्यकालीन स्तूप अपना अस्तित्व बनाये रख सके हैं। जब कि उज्जैन और कसरावद के स्तूप इतिहास के अन्तराल में लगभग लुप्त हो चुके हैं।

(४) शुंगकाल में वास्तुविद् स्तूपों से छलांग लगा कर उसके इर्दगिर्द अपने कलाबोध की छटा बिखेरने लगा। निश्चित ही शुंगपूर्व काल की काष्ठ निर्मितयां उसकी प्रेरणा रही होगी। शुंगकालीन पाषाण निर्माणों ने न केवल काष्ठ निर्मितियों की विशिष्टताओं को कायम रखा किन्तु अनेक मौलिक वास्तु तत्वों का उसमें समावेश भी किया। सांची के तोरणद्वारों, वड़ेरियों, वेदिकाओं एवम् प्रदक्षिणा पथ से यह तथ्य स्पष्ट परिलक्षित होता है। प्रस्तर के प्रयोग के कारण स्तभों पर व यथा संभव अन्यत्र भी अलंकरण एवम् अर्धफलकों का उत्कीरण हुआ। अर्ध फलकों में प्रस्तर संवंधित एकाधिक दृश्य अंकित किये गये।

शुंग सातवाहन काल के उत्कीर्ण दृश्यों का जहां एक ओर धार्मिक तथा ऐतिहासिक महत्त्व है, वहीं दूसरी ओर समकालीन स्थानीय तथा लौकिक जीवन अत्यन्त ही विशदता एवम् सहजता से अंकित हुआ है।

सांची के तोरणद्वारों को देखने पर यह बात सिद्ध हो जाती है।

(५) शुंगकालीन वास्तु-विद् ने मूर्तिकला को वास्तुकला का एक अपरिहार्य अंग बनाया। यद्यपि त्रिआयामी मूर्तिकला का उसको सम्यक ज्ञान था, किन्तु उसने स्थापत्य एवम् मूर्तिकला से सामयिक सामंजस्य की दृष्टि से द्विआयामी पाषाण उत्कीर्ण किये। इस प्रकार उसने एक ऐसी तकनीकी का प्रदर्शन किया जिसके माध्यम से दोहरे आयामवाला मूर्तिक उत्कीरण तिहरे आयाम वाले उत्कीरण का प्रतिनिधित्व करने की क्षमता रखता था। ऐसा सब कुछ चित्रकला में तो संभव था, मूर्तिकला में नहीं। किन्तु शुंगकालीन कलाकार ने पूर्व प्रचलित मूर्ति वास्तुकला एवम् चित्र कला को समन्वित कर उसे चमत्कारी रूप से स्थापत्य कला का अंग बना दिया।

(६) शुंगकाल में राजा भागभद्र के समय यूनानी राजदूत हेलियोडोर ने एक विशाल स्तंभ वैष्णव मन्दिर के सम्मुख निर्माण करवाया था।[2] यह निर्माण मालवा के ही नहीं अपितु भारत के मन्दिरों के

---

१. मा० सा०, पृ० ४९; बु० इ० मा०, पृ० १२-१३.

२. सेलेक्ट इंस्क्रिप्शन्स पृ० ७८.

इतिहास में एक निश्चित ही निर्णायक मोड़ है। पर इससे भी महत्वपूर्ण उपलब्धि विगत दो दशकों में बेसनगर से प्राप्त हुई है। हेलियोडोर के स्तंभ के सम्मुख जिस मंदिर के अवशेष प्राप्त हुए हैं वह एक उठाव वाले चबूतरे पर खड़ा था। यह सूचना दी गई है कि यह वैष्णव मन्दिर तब निर्मित हुआ जबकि उसके पूर्व वहां निर्मित एक दीर्घवृत्ताकार (Elliptical) मन्दिर खण्डहर बन चुका था।[1] इस आधार पर इस पूर्ववर्ती मन्दिर का समय ई० पू० ४ थी—३ री शताब्दी का बताया गया है।[2]

उज्जैन के गत सिंहस्थ मेले के अवसर पर इस मन्दिर का एक काल्पनिक पूर्ण प्रतिरूप (चित्र पृ० क्र० ९० पर) निर्मित किया गया था।[3] इसे देखने पर ज्ञात होता है कि मंदिर का प्रवेश द्वार एक अर्द्धवृत्ताकार पोर्च-सा था। वह विभिन्न बौद्धचैत्यों के प्रवेश द्वारों के पूर्वज जैसा लगता है। प्रवेश मण्डप छतयुक्त था एवंम् उससे कुछ अधिक दीर्घ-वृत्ताकार गर्भगृह से जुड़ा हुआ था। गर्भगृह सामने से प्रवेश मण्डप से जुड़ा था व शेष तीन ओर गोलार्द्ध लिये हुए था। छत कुछ कोणीय रेखाएं प्रस्तुत करती हुई स्तूपांड की भांति ऊपर से चपटापन लिये हुए थी। ऐसा लगता है कि स्तूप व चैत्य दोनों की ही वास्तु-विधाएं एक साथ सम्मिलित होकर मन्दिर के रूप में प्रकट हो गयी हों।

उपर्युक्त विवेचन कई दृष्टियों से ध्यान आकर्षित करता है। सबसे प्रथम तो यह है कि मन्दिर का स्वरूप व तिथि निर्धारण में कल्पना का अंश अधिक है। यदि मन्दिर का प्रवेश मण्डप चित्र की भांति मान लिया जाय तो इससे यह सिद्ध हो जाता है कि चैत्यों व गुहा-विहारों को प्रेरणा इस या इस जैसे अन्य मन्दिरों से प्राप्त हुई होगी। इस प्रकार चैत्यों या विहारों से मन्दिर उत्पत्ति का दूसरे अध्याय में कथित सिद्धान्त विपर्यय पा जाता है। पर इससे हमारे अध्ययन में कोई बाधा नहीं आती। क्योंकि पूर्व में हम यह मान्यता प्रकट कर चुके हैं कि चैत्यों व मंदिरों को प्रेरणा तत्कालीन आवास-गृहों से मिली होंगी। अतः बेसनगर में उक्त मंदिर का मिल जाना हमारी पूर्व-मान्यता को अधिक पुष्ट करता है। पर्सी ब्राउन ने वैदिक कुटीरों से लगाकर सांची, भरहुत आदि के तोरणद्वारों के अर्ध-फलकों पर आधारित प्रासादों के जो चित्र दिये हैं, उनसे इस धारणा को और भी सम्बल मिलता है।

इस प्रकार के प्रारंभिक मन्दिर जो जैसे-तैसे आज तक अपना अस्तित्व बचा पाये हैं, ईसा की पूर्व की निकट शताब्दियों के है। इनमें राजगिर की जरासंघ की बैठक व कुछ अन्य अवशेषों का स्मरण सबसे पूर्व आता है।[3] उपरांत सांची, मथुरा, नगरी एवं बैराट के मन्दिरों का क्रम आता है। पूर्व अध्याय में सांची के मौर्यकालीन अवशेषों का निर्माण क्र० ४० एवं ५१ के रूप में अध्ययन किया ही जा चुका है। मथुरा के एक अभिलेख के अनुसार वहां ई० पू० दूसरी या पहली शताब्दी में भगवान वासुदेव का एक वेदिका, तोरण व चतुःशाल युक्त महास्थान था।[4] नगरी में द्वितीय या प्रथम शताब्दी ई० पू० के एक अभिलेख में पूजा-शिला प्रकार

---

१. रि०ई०आ० (१९६५-६६) पृ० २३.
२. खरे एम०डी : डिस्कवरी आफ ए विष्णु टेम्पिल नियर द हेलियोडोर पिलर. बेसनगर, (म०प्र० ललित कला अंक १३) पृ० २१, २७.
३. सैन्ट्रल म्युजियम इन्दौर—गोल्डन जुबिली सावनेर १९८१ में प्रकाशित उक्त मन्दिर के चित्र का परिचय।
४. वासुदेवशरण अग्रवाल : मथुरा आर्ट.

की निर्मिति की चर्चा की गयी है।[1] भाण्डारकर ने नारायणवाटिका स्थित वैष्णव पुरावशेषों का सम्बन्ध इस पूजा-शिला प्राकार से जोड़ा है।[2] नगरी का यह वैष्णव निर्माण दीर्घवृत्ताकार है। इसी सिलसिले में राजगिर का दीर्घवृत्ताकार सभा भवन अथवा श्रावस्ती का एक इसी प्रकार का निर्माण भी उल्लेख योग्य है।[3] ई०पू० २री शताब्दी की खरोष्टी लेख से युक्त एक मुद्रा पटना से प्राप्त हुई है। यह मुद्रा निःसन्देह ईंटों द्वारा निर्मित बहुत लम्बे सीधे किनारों वाले शिखर मन्दिरों को चित्रित करती है। इसका चित्रण बोधगया के सुविख्यात बुद्ध-मन्दिर के सदृश्य है।[4] विदिशा में भी ई० पू० २री शताब्दी के दो वैष्णव मन्दिरों का पता चला है, जिसमें एक हेलियोडोर से सम्बन्धित रहा।[5]

इन सन्दर्भों के प्रकाश प्रथमतः वेसनगर के दीर्घवृत्ताकार मन्दिर का परीक्षण करना समीचीन है। मन्दिर की आकृति उसे निश्चित ही ई० पू० का सिद्ध करती है। यह आकृति व स्वरूप में ई०पू० द्वितीय शताब्दी के नगरी एवं विदिशा के उक्त वैष्णव मन्दिरों से पर्याप्त भिन्न है। इस कारण यह नहीं कहा जा सकता कि वेसनगर के विष्णु एवं वासुदेव मन्दिर का यह प्रेरक रहा होगा। सांची के तोरणों में जो प्रासाद उत्कीर्ण किये गये हैं, उनके प्रवेश द्वार व छतें इस मन्दिर से अवश्य मेल खाती दीखती हैं। अतः इतना निश्चित है कि इस आधार पर यह मन्दिर ई० पू० २री शताब्दी के बाद का नहीं है। हेलियोडोर के स्तंभ से संबंधित मन्दिर का तो निश्चित ही यह पूर्ववर्ती है क्योंकि उसका निर्माण इस मन्दिर के ध्वस्त हो जाने पर माना गया था।

परन्तु क्या स्तूपाकार एवं दीर्घवृत्ताकार आकृति का होने से इसे और भी प्राचीन माना जाय?

अध्याय २ में देखा जा चुका है कि मन्दिरों का प्रेरणा-स्रोत स्तूप को मानने का तर्क अधिक वजनदार नहीं है। इस कारण इस मन्दिर को स्तूप व मन्दिरों के बीच की कड़ी मानना उचित नहीं है। अतः इसे अपवाद स्वरूप ठीक वैसे ही ग्रहण करना होगा जैसे कि वेराठ, तेर व चेझरला के अर्द्ध वृत्ताकार व दीर्घवृत्ताकार मन्दिरों को ग्रहण किया गया है। जहां तक तेर व चेझरला के मन्दिरों का प्रश्न है, वे ४थी-५वीं शताब्दी ई० के होने से इस तुलना के बाहर हो जाते हैं, परन्तु वे अपने समय व स्थान की वास्तु-परम्परा के कठोर अपवाद अवश्य हैं।

वेराठ के वृत्ताकार बुद्ध मन्दिर को पर्सी ब्राउन ने दूसरी शताब्दी ई० पू० का माना है।[6] किन्तु डा० के० सी० जैन ने वहां विद्यमान अन्य पुरातत्वीय प्रामाणों एवं अवशेषों के आधार पर उसे ई०पू० ३री

---

1. प्रोग्रेस रिपोर्ट आफ दी आर्कोलाजिकल सर्वे, वेस्टर्न सर्कल, १९१६, पृ० ५१, सौन्दर राजन के व्हीः इण्डियन टेम्पल स्टाइल्स, पृ० ९.
2. जैन के० सी०; एन्शियण्ट सिटीज एण्ड टाउन्स आफ राजस्थान, पृ० ९८.
3. खरे म० द०; बाघ की गुफाएं, पृ० २५-२६; फोगेलः एक्सकेवेशन एट साहेट-माहेट, (आ० स० इ० ए० रि०, १९०७-८).
4. वही, पृ० १५.
5. आ० स० इ० (१९१३-१४), पृ० १८९; सौन्दर राजन, के० व्हीः इ० टे० स्टा०, पृ० ९.
6. इं०आ०, पृ० ८ के सामने फलक क्र० ६.
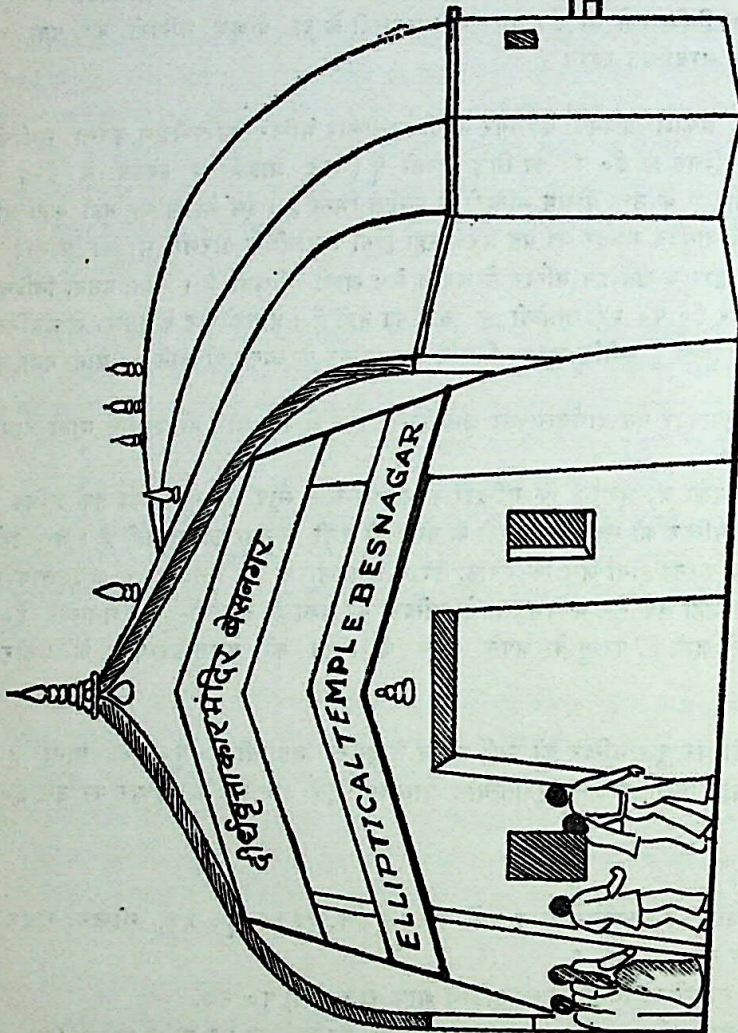
सिंहस्थ (१९८०) के अवसर पर उज्जैन में आयोजित प्रदर्शनी में दीर्घवृत्ताकार मन्दिर, बेसनगर (विदिशा) का एक काल्पनिक प्रतिरूप

([illegible]- पुरातत्व विभाग म.प्र.)

शताब्दी का माना है।[1] अतः इस वास्तु-साम्य के आधार पर बेसनगर के दीर्घवृत्ताकार मन्दिर का समय ३री शताब्दी ई० पू० ठहरता है। परन्तु इस मत को मानने में निम्नलिखित कठिनाइयां हैं:—

(१) वेराठ जैसी कोई पुरातत्वीय एवं वास्तु पृष्ठभूमि बेसनगर के इस मन्दिर हेतु उपलब्ध नहीं है। बेसनगर से ई० पू० २री शताब्दी की भारी-भरकम यक्ष-यक्षिणी प्रतिमाएं हुई हैं। यह संभव है कि ये प्रतिमाएं किसी मन्दिर में स्थापित रही हों किन्तु यक्षयक्षिणियों के किसी मन्दिर की कल्पना अभी तक की खोजों के प्रकाश में संभवनीय नहीं है।[2]

(२) सांची में जो मौर्यकालीन स्तूप व निर्माण रहे, उनका किसी प्रकार का वास्तुगत सम्बन्ध इस मन्दिर से सिद्ध नहीं होता।

(३) वेराठ का मन्दिर एक यथार्थ है जबकि बेसनगर के मन्दिर की वास्तु की अभी तक प्राप्त विवेचना बहुत कुछ कल्पना पर भी आश्रित है।

(४) बेसनगर क्षेत्र में मन्दिर वास्तु से संबंधित कोई प्रमाण २री शताब्दी ई० पू० के पूर्व के प्राप्त नहीं होते हैं।

इन आधारों पर इस मन्दिर को ई० पू० द्वितीय शताब्दी का मानना युक्तियुक्त होगा। यह सही है कि वह हेलियोडोर से संबंधित वासुदेव मन्दिर का पूर्ववर्ती है। परन्तु उसे उससे अधिक पूर्ववर्ती नहीं माना जाना चाहिए। विन्सेण्ट स्मिथ ने हेलियोडोर व भागभद्र का समय २री शताब्दी ई० पू० उत्तरार्ध का माना है।[3] अतः यदि हम वासुदेव मंदिर को ई० पू० २री शताब्दी का अन्तिम छोर मान सकते हैं, तो निश्चित ही उसके पूर्ववर्ती दीर्घवृत्ताकार मन्दिर का समय उक्त आधारों पर ई०पू० २री शताब्दी का प्रारंभिक चरण मान सकते हैं।

बौद्ध स्थापत्य :—

शुंग-सातवाहन काल में मालवा में बौद्ध धर्म मौर्यकाल की भांति अनवरत प्रगति पथ पर था। वैदिक धर्म के अनुयायी होने पर भी शुंगों ने उसमें कोई व्यवधान उपस्थित नहीं किया। परिणामस्वरूप सांची सतधारा, सोनारी, अन्धेर, भोजपुर आदि के बौद्ध निर्माण सामने आये।

कनिष्क के सामने तो उनके समय में बौद्ध धर्म की हीनयान और महायान शाखाएं तथा उनके १८ सम्प्रदाय पर्याप्त सक्रिय थे। कनिष्क के समय में मालवा के स्थविरवादियों ने चतुर्थ बौद्ध सगति में काफी

---

१. ए० सि० एण्ड टाउन्स आफ राज०, पृ० ८७.
२. जर्नल आफ म० प्र० इति०, परि० २, १९६०, पृ० १९.
३. इ० हि० इ०, पृ० २३८.

प्रभावी भाग लिया था।[1] मालवा के कश्यप मातंग, धर्मरक्ष, धर्मपाल आदि भिक्षु बौद्ध धर्म प्रचारार्थ चीन व मध्य एशिया गये थे। ई० पू० २री शताब्दी में उज्जैन के विशाल भिक्षु संघ के संघनायक स्थविर संघ-रक्षित ने अनेक भिक्षुओं के साथ अनुराधापुर की यात्रा की।[2] ईस्वी सन् के उपरान्त मालवा में बौद्ध धर्म पतनशील स्थिति में आ गया था।

शुंगकालीन बौद्ध स्थापत्य का अध्ययन निम्नलिखित आधारों पर करना उचित होगा: (अ) विद्यमान निर्मितियों का पुनर्निर्माण, (ब) नये धर्म-स्थलों का निर्माण, (स) तोरणद्वारों व वेदिकाओं का निर्माण, और (द) अन्य निर्माण।

स्तूप :—

पूर्व में देखा जा चुका है कि शुंगकाल में सांची के स्तूप क्रमांक एक के मूल रूप को आच्छादन द्वारा दुगुना कर दिया गया। मूल स्तूप के पहले पत्थर को अनगढ़ टुकड़ो से ढंक कर फिर गढ़े हुए पत्थरों से आच्छादन किया गया। जिससे स्तूप का व्यास ३७ मी० ८० से० और ऊंचाई १६ मी० २० से० हो गई। शिला आच्छादन करने में किसी प्रकार के मसाले का चुनाई में उपयोग नहीं किया गया था। इस शिला आच्छादन के ऊपर १० से० मोटी कंक्रीट की तह चढ़ाकर स्तूप को वर्तमान स्वरूप दिया गया था।[3]

सांची स्तूप क्रमांक दो की भूमिस्थ वेष्टनी, सोपान, द्वितीय प्रदक्षिणा-पथ, हर्मिका एवम् धातु मंजूषाएं तथा स्तूप क्रमांक तीन का अंडभाग, सोपान, द्वितीय प्रदक्षिणा पथ, हर्मिका एवम् धातुगर्भ-मंजूषा निर्मित किये गये थे। स्तूप क्रमांक ३ के उत्तर पूर्व में इस काल के एक छोटे स्तूप क्रमांक ४ की हर्मिका का अंश मिला है। इस काल का ही सांची का स्तूप क्रमांक ६ है।[4]

सातवाहन काल में महास्तूप में चार तथा स्तूप क्रमांक ३ में एक तोरणद्वार जोड़े गये थे, जिसका वास्तुकलागत सौन्दर्य अपूर्व है।[5]

सांची के आसपास सोनारी में आठ, सतधारा में पांच, अन्धेर में तीन तथा भोजपुर में ३७ स्तूपों के अवशेष मिले हैं जिनसे इस क्षेत्र में स्तूप वास्तुकला का क्रमिक विकास विदित होता है।[6]

सोनारी—सांची से ६ कि०मी० की दूरी पर वायव्य दिशा में स्थित एक पहाड़ी है। यहां पर जो बौद्ध अवशेष प्राप्त हुए हैं, उनमें विहार तथा स्तूप हैं। इन अवशेषों में महत्वपूर्ण सूचनाएं देने वाले कुछ अभिलेख

---

१. द्विवेदी द्वय; म० भा० का इतिहास, प्रथम खण्ड, पृ० २६५, ५१०-११.
२. भिक्षु धर्मरक्षित; उज्जैन की बौद्ध परम्पराएं, (उ० द० १९८०) पृ० ५८; बु० इं० मा०, पृ० १४.
३. मा० सां०, पृ० २९.
४. मा० क० स्था०, अ० ५ (स्तूप).
५. मा० सा०, पृ० ४५.
६. मा० क० स्था०, अ० ५ (स्तूप).

भी प्राप्त हुए हैं जिनके आधार पर इन्हें शुंगकालीन माना जा सकता है।[1] सोनारी निश्चित रूप से एक महत्व-पूर्ण बौद्ध केन्द्र रहा होगा। किसी प्रकार की बुद्ध या बोधिसत की मूर्ति उपलब्ध न होने से यह स्थान निश्चित ही हीनयान भिक्षुओं का गढ़ रहा होगा। प्राचीन बौद्ध साहित्य में कनकगिरि का उल्लेख आया है।[2] कनकगिरि के बारे में कुछ विद्वानों की धारणा है कि मालवा का यह स्थल उज्जैन के पूर्व में स्थित वह स्थल है जो वेश्या टेकरी कहलाती है। पास में बसे कानीपुरा ग्राम का प्राचीन नाम कनकगिरि हो सकता है।[3] किन्तु कनकगिरि से कानीपुरा शब्द भाषा शास्त्रीय दृष्टि से विकसित नहीं होता। अतः वेश्या टेकरी को प्राचीन कनकगिरि मानना अधिक प्रामाणिक नहीं है। यह संभव है कि कनकगिरि का नाम स्वर्णगिरि भी हो; क्योंकि कनक का अर्थ स्वर्ण भी होता है। संभव है यह स्वर्णगिरि ही आज की सोनारी पहाड़ी है।

सोनारी की पहाड़ी पर जो स्तूप समूह है उसमें एक महास्तूप सहित आठ स्तूप हैं। महास्तूप ७२ मी० के वर्गाकार आंगन में स्थित है। इस स्तूप का व्यास १४ मी० ४० से० है। आकार की दृष्टि से यह अर्धगोलाकार है। अपने मूल रूप में यह स्तूप १ मी० २० से० ऊंची एक गोलाकार वेदी पर खड़ा था जिसके आसपास एक वेदिका थी। स्तूप को पहले मिट्टी से बनाकर उस पर प्रस्तर खण्डों का आच्छादन किया गया था। वेदिका में प्रयुक्त स्तम्भ करीब ९० से० ऊँचे हैं तथा सामने प्रत्येक सूची २० से०×८.७५ से० मी० की थी। यह वेदिका उदयगिरि के सफेद चुनारी पत्थर की थी। स्तूप सोनारी के पत्थरों से निर्मित था। स्तूप महावेदिका से घिरा था। जिसके अवशेष में कुछ १ मी० ११। से० ऊँचे स्तंभ मिले हैं। इनकी बाजुएं २३.७५ × २० से०मी० की हैं। स्तम्भों को सूचियों की तीन पंक्तियों से जोड़ा गया था, इसकी प्रत्येक सूची ३७.५× २७.५×८ से०मी० की है। महावेदिका का स्तंभों के ऊपर प्रयुक्त उष्णीष सांची से भिन्न है, क्योंकि २८.७५ से०मी० ऊंचे उष्णीष का ५ से० मी० भाग बाहर की ओर आगे निकला है। स्तूप में निर्मित अस्थि प्रकोष्ठ में कुछ मंजूषाएं मिली हैं। महावेदिका पर उत्कीर्ण अभिलेखों की लिपि तथा सांची के स्तूप क्रमांक २ से वास्तुगत समानता होने से ये स्तूप शुंगकालीन प्रतीत होते हैं।[4]

सोनारी का स्तूप क्र० २ अध्ययन की दृष्टि से महत्व रखता है। इसका प्राङ्गण ४९ मी० ५० से० वर्गाकार है। इसका व्यास ८ मी० २५ से० है। इसकी वेदी १ मी० २५ से० गोलाकार है। इसमें से सांची के कुछ भिक्षुओं की अस्थियां पांच अस्थि मंजूषाओं से प्राप्त हुई। इन मंजूषाओं पर इनके नाम उत्कीर्ण किये गये थे। सोनारी के शेष स्तूप अपेक्षाकृत काफी लघु एवम् भग्न हैं और केवल इस बात का संकेत देते हैं कि सांची के बाद शुंगकाल में यह स्थल बौद्ध धर्म का एक महत्वपूर्ण स्थल रहा था।[5]

सतधारा—सतधारा का पर्वतीय स्थल सोनारी से लगभग ५ कि०मी० की दूरी पर है। यहां का स्तूप समूह

---

१. क० भि० टो०, पृ० २००-०३.
२. अग्रवाल समाज सिंहस्थ स्मारिका (१९८०), पृ० २.
३. वही.
४. क० भि० टो०, पृ० २००-०६.
५. बु० इ० मा०, पृ० ८८.

सात स्तूपों को सहेजे हुए हैं। मूल रूप से यहां का महास्तूप ३० मी० ३० से० व्यास का अर्धगोलाकार था। इसकी ऊंचाई लगभग १५ मीटर थी। स्तूप के आसपास स्तम्भयुक्त वेदिका थी। हर्मिका भी स्तम्भयुक्त वेदिका से युक्त थी। दोनों ही वेदिकाएं चौकोर एवम् अलंकृत थीं। वर्तमान में महास्तूप केवल ९ मीटर ऊंचाई तक ही अवशिष्ट है। स्तूप क्र० २, ७ मी० २० से० व्यास का है। सांची के स्तूप क्र० ३ की भांति यहां से भी सारिपुत और महामोद्गल्यायन की अस्थियां व उत्कीर्ण अभिलेख युक्त मंजूषाएं प्राप्त हुई हैं। स्तूप क्र० २ की भांति स्तूप क्र० ७ का व्यास ७ मी० २० से० है। शेष स्तूप अपेक्षाकृत छोटे एवम् भग्नावशेष के रूप में विद्यमान हैं।[1] सतधारा के निर्माणों को देखने से ज्ञात होता है कि सांची और सोनारी की भांति यह स्थल बौद्धधर्म की हीनयान शाखा का केन्द्र रहा।

अन्धेर—एलेक्जेंडर कनिंघम[2] को अन्धेर, जो विदिशा से लगभग १५ कि०मी० की दूरी पर नैऋत्य दिशा में स्थित एक ग्राम है, में तीन स्तूपों के अवशेष प्राप्त हुए थे। इन स्तूपों के अवशेष निकटवर्ती पहाड़ी पर देखे जा सकते हैं। अन्धेर का प्रमुख स्तूप १ मी० २० से० ऊंची गोलाकार वेदी पर खड़ा था। उसका व्यास १०.५ मी० था। इसकी महावेदिका २ मी० १० से० ऊंची थी। वेदिका स्तंभ १ मी० ७२ से० ऊंचे थे। अन्धेर के शेष २ स्तूप क्रमशः १ मी० १० से० और ४ मी० ५० से० व्यास के रहे। दोनों की वर्तमान ऊंचाई क्रमशः ४ मी० २१ से० एवं ३ मी० ६० से० है। इनमें मौर्यकालीन बौद्ध भिक्षुओं के अस्थि अवशेष प्राप्त हैं, यद्यपि यह स्तूप शुंगकाल में ही बनाये गये थे।[3]

भोजपुर—भोजपुर बौद्ध स्तूपों का एक विशाल गढ़ है, जहां छोटे बड़े ३७ स्तूपों के अवशेष प्राप्त हुए हैं। यह स्थल विदिशा से लगभग १० कि० मी० आग्नेय में सांची से लगभग ११ कि० मी० की दूरी पर स्थित है। इन स्तूपों को कनिंघम ने चार समूह में विभाजित किया है।[4]

प्रथम समूह—भोजपुर का स्तूप क्र० १ (ए) अर्धगोलाकार १९ मी० ८५ से० व्यास का था। यह स्तूप ३ मी० ४५ से० चौड़े और १ मी० ५०से० से ऊंचे तल पर निर्मित १ मी० २० से० ऊंचे गोलाकार आधार पर बनाया गया। इस की आधार सहित ऊंचाई ७ मी० ४० से० है। इस स्तूप को ७५ मी० ६० से० × ६४ मी० २० से० के प्राकार से कालान्तर में घेरा गया था। यहां का स्तूप क्र० २ (बी) की स्थिति सब से अच्छी है। यह स्तूप क्र० १ के दक्षिण ६० मी० की दूरी पर ७२×६३ मी० के प्राकार के मध्य स्थित था। यह स्तूप अर्द्धगोलाकार १ मी० २० से० के आधार सहित ४ मी० २१ से० से ऊंचा था। इसका व्यास ८ मी० ७० से० है। संपूर्ण स्तूप को बिना मसाले या मिट्टी में चिनाई किये पत्थर के टुकड़ों से बनाया गया था। स्तूप क्र० ३ (सी) की ऊंचाई ४ मी० २० से० तथा व्यास १२ मी० है।

स्तूप क्रमांक ४ (डी) ३९ मी० ऊंचा है। स्तूप की ऊँचाई ४ मी० ८० से० है। इसके पूर्व दिशा में एक अन्य स्तूप का आधार गोलाकार है, जिससे स्तूप का व्यास ५ मी० ४० से० विदित होता है।

---

१. क० मि० टो०, पृ० २०७-१०.
२. क० मि० टो०, पृ० २२१-२५.
३. मा० क० स्था०, अ० ५ (स्तूप)
४. क० मि० टो०, पृ० २११.

द्वितीय समूह—इस समूह में भोजपुर का स्तूप क्र० ७(ए) और ८ (बी), ८ (सी), १० (डी) ११ (ए), १२ (एफ), १३ (एच) १५ (आई) तथा स्तूप क्रमांक १६ आते हैं। स्तूप क्र० ७ (ए), का व्यास ९ मी० ७० से० है। भोजपुर के द्वितीय समूह में स्तूप क्र० ८ (बी) सबसे बड़ा स्तूप है। इसका व्यास ८ मी० ४७.५ से० एवं स्तूप का गोलाकार आधार तल से ९० से० ऊंचा था। स्तूप क्रमांक ८ (सी) का आधार गोलाकार एवम् ४५ से० ऊंचा, व्यास ८ मी० ७० से० एवम् ऊंचाई ४ मी० २० से० विदित होती है। स्तूप क्र० १० (डी) का व्यास ५ मी० ७० से०, ११ (ए) का व्यास ४ मी० ६५ से०, १२ (एफ) एवम् १३ (एच) का व्यास ५ मी १० से०, १५ (आई) का व्यास ५ मी० ५५ से० तथा १६ का व्यास ७ मी० ५ से० ज्ञात होता हैं।

भोजपुर के स्तूपों के तीसरे और चौथे समूहों में कई छोटे-छोटे अवशेष हैं जिनके अवशेष ही अब शेष रह गये हैं। भोजपुर स्तूपों में सर्वाधिक पूर्णता का आभास देने वाला स्तूप क्र० २ है। यह बिना मिट्टी की सहायता लिए पत्थरों से निर्मित है और अधिकांश रूप से सुरक्षित है। भोजपुर से स्फटिक का अण्ड हर्मिका, छत्र व दण्ड सहित विभिन्न टुकड़ों से निर्मित ११.१५ मी० ऊंचा एवम् २.७ मी० व्यास का एक सुन्दर स्तूप कनिंघम को मिला था। सम्प्रति ये अवशेष विक्टोरिया एवम् एलबर्ट म्यूजियम, साउथ केसींगटन में हैं। यह प्रथम शताब्दी ई० पू० का है। विभिन्न स्फटिक के टुकड़ों से निर्मित किया गया यह स्तूप अद्वितीय है। इसका धातु मंजूषा के रूप में उपयोग होता था।[1]

फ़िर सांची की ओर आयें। स्तूप क्रमांक ३ के पीछे की ओर स्तूप क्र० ४ है जो अब भग्न होकर पाषाण शिलाओं का ढेर रह गया है।[2] इसका समय ई० पू० २०० शताब्दी निर्धारित किया गया है। इसी प्रकार कनिंघम ने सन् १८७५ में अपने सर्वेक्षण के दौरान विदिशा की उदयगिरि पहाड़ी पर एक स्तूप का संकेत दिया। दुर्भाग्य से उसके अवशेष अब पूरी तरह लुप्त हो गये हैं।[3]

तोरणद्वार—शुंगकालीन तोरणद्वार सारे मालवा में केवल सांची में ही उपलब्ध हैं। शुंगवंश के पतन के उपरान्त विदिशा पर ई०पू० प्रथम शताब्दी में सातवाहनों का अधिकार हो गया था। उस समय इन तोरणद्वारों का निर्माण हुआ। इसका प्रमाण दक्षिणी तोरण द्वार की एक बड़ेरी पर अंकित अभिलेख है। सबसे पहले दक्षिणी द्वार बनाया गया।[4] संभवतः यह प्रवेश द्वार मौर्यकाल में ही रहा होगा। क्योंकि इसी द्वार के पास अशोक का स्तम्भ विद्यमान है।[5] स्तूप तक पहुंचने का सोपान मार्ग भी दक्षिण दिशा में है। दक्षिण द्वार के निर्माण के बाद क्रमशः उत्तरी पूर्वी और पश्चिमी तोरणद्वार बनाये गये। ये तोरणद्वार विभिन्न दानदाताओं के उदार सहयोग से निर्मित हुए जिनके नाम स्तम्भों, बड़ेरियों, वेदिकाओं एवम् प्रदक्षिणा-पथ के प्रस्तरों पर उत्कीर्ण हैं।[6]

---

१. क० मि० टो०, पृ० २११-१६; मा० क० स्था०, अ० ५ स्तूप.
२. मित्र देवला; सांची, पृ० ३७.
३. मा० उ० हि० (वि० व्हा०), पृ ३८३.
४. मित्र देवला; सांची, पृ० १२.
५. वही.
६. प्रा० भा० स्तू० गु० मं०, पृ० ६४.

जिन वास्तुकारों ने इनका निर्माण करवाया, उनका सम्बन्ध काष्ठ और हाथी दांत के बारीक कार्य से भी था। अतः इन तोरणद्वारों और उनसे संबंधित बड़ेरियों और वेदिकाओं के निर्माण में उन्होंने अपने मूल कला आधारों का खुलकर सहयोग लिया।[1] महास्तूप के आसपास के इन चार तोरण द्वारों के अतिरिक्त स्तूप क्रमांक २ के सम्मुख भी एक तोरणद्वार लगभग इसी समय निर्मित करवाया गया। इन तोरणद्वारों में दो पहल खम्भे लगे हैं जो अपने सिरों पर कुण्डलाकार किनारों वाली तीन लहरदार बड़ेरियों से परस्पर संयुक्त हैं। इन बड़ेरियों और स्तम्भों पर विभिन्न विषय उत्कीर्ण किये गये हैं।[2] तोरणों पर उत्कीर्ण अलंकरण अभिप्राय निम्नलिखित वर्गीकरण में विभक्त किये जा सकते हैं :— (अ) जातक कथाओं के दृश्य, (ब) गौतमबुद्ध की जीवन कथाएं (स) बौद्धधर्म की उत्तरकालीन कथाएं, (स) मानुषी बुद्धों के विषय में दृश्य, (द) लोकजीवन, प्राणिजगत, प्रकृति आदि से संबंधित दृश्य, एवम् (ई) अन्य अलंकरण अभिप्राय। इसका विस्तृत विवेचन निश्चित ही यहां अप्रासंगिक होगा।

विहार—कसरावद एवं सांची में हम मौर्यकालीन विहारों का निश्चित प्रमाण देख ही चुके हैं। शुंगकाल में भी इन विहारों के निर्माण की परम्परा जारी रही। यह एक बुद्धिग्राह्य बात है कि जहां स्तूप बनाये गये होंगे, वहां बौद्ध भिक्षुओं के लिये विहारों का निर्माण अवश्य हुआ होगा, चाहे उनके पुरातत्वीय अवशेष प्राप्त हों अथवा न हों। सोनारी, सतधारा, भोजपुर आदि स्थानों पर शुंगकालीन स्तूप विद्यमान हैं। भाग्यवश यह स्थान समकालीन विहारों के अवशेष भी अपने अंचल में समाये हुए हैं।

सोनारी के महास्तूप के दक्षिण-पश्चिम में एक वर्गाकार विहार के अवशेष मिले हैं। इसकी प्रत्येक भुजा १०.८० मी० की थी। यह संभवतः इस युग में निर्मित चैत्य का आधार होगा।[3] सतधारा में भी तीन उल्लेखनीय भवनों के अवशेष मिले हैं जो क्रमशः १६.५०×१४.४०, २४×१८ तथा २६.४०×१६.५० मीटर के थे। ये भवन सतधारा में निवास करने वाले भिक्षुओं के आवास हेतु प्रयुक्त होते थे।[4] भोजपुर में २८.८०×२५.२० तथा ३३.६०×२४.६० के दो विशाल विहारों के अवशेष मिले हैं, जिसमें बड़े भवन की दीवार उत्तर एवम् पूर्व की ओर ५.१० मी० एवम् अन्य दिशाओं में ८. ४० मी० ऊंची ज्ञात होती हैं।[5]

स्तम्भ—सांची में स्तूप क्रमांक ५ से थोड़ी दूर पर दक्षिण में ४.५२॥ मी० ऊंचा स्तंभ उपलब्ध है। इसकी रचना विधि और अलंकरणों से पता चलता है कि इसका निर्माण शुंगकाल में हुआ था। इस स्तंम्भ का आधार व्यास ४० से०मी० है। १.३५ मी० की ऊंचाई तक अष्टपहलू और उसके ऊपर षोडष पहलू हैं। स्तम्भ शीर्ष का निचला भाग उल्टे, कमल के समान है। यह अनुमान लगाया गया है कि इस स्तम्भ शीर्ष पर सिंह की प्रतिमा थी, जिसका पता नहीं लग पाया है।[6]

---

१. मित्र देवला; साँची, पृ० १४.
२. वही.
३. क० मि० टो०, पृ० २००.
४. वही, पृ० २०८.
५. वही, पृ० २११-१२.
६. मा० सा०, ४६.

विदिशा जिले में कई स्थानों पर शुंगकालीन स्तम्भों के अवशेष मिले हैं। विदिशा, उदयगिरि, बेसनगर आदि में शीर्षयुक्त स्तम्भों के अवशेष प्राप्त हुए हैं। इन स्तम्भों के बहुत से अवशेष इस समय ग्वालियर स्थित गूजरी महल संग्रहालय में देखे जा सकते हैं।[1] स्तूपों के सामने स्वतंत्र रूप से निर्मित इन स्तम्भों का मंदिर वास्तु की दृष्टि से भी पर्याप्त महत्व हो गया। विभिन्न मन्दिरों के निर्माण होने पर गर्भगृह के सामने प्रांगण में स्तम्भ खड़े किए गये। प्रमुख विग्रह के प्रमुख अनुचर की प्रतिमा स्तम्भ शीर्ष पर बिठाई जाने लगी। इस प्रकार ये स्तम्भ कालान्तर में मंदिर वास्तुकला के एक महत्वपूर्ण अंग के रूप में परिवर्तित हो गये। बेसनगर में हेलियोडोर द्वारा निर्मित गरुड़-स्तम्भ का जो शीर्ष-हीन भाग अब भी विद्यमान है, वह इसी तथ्य को प्रकट करता है।

शुंगकालीन स्थापत्य के शिल्पज्ञ अपनी छीनी-हथौड़ी से नये-नये निर्माण में व्यस्त हो गये। दक्षिण भारत में वे अनेक गुहाओं का निर्माण करने में संलग्न हो गये तथा उत्तर भारत में उनका ध्यान मंदिर निर्माण की ओर चला गया।

ब्राह्मण स्थापत्य

मौर्यों के पतन और शुंगों के आगमन के साथ ही मालवा में ब्राह्मण धर्म तेजी से पल्लवित हुआ। शुंगों ने भागवत धर्म को प्रोत्साहित किया। शुंगों के पतन के बाद विदिशा क्षेत्र में नागों का वर्चस्व कुछ समय तक बना रहा। नाग प्रमुखतः शैव धर्म के अनुयायी थे। पश्चिम मालवा के विदेशी क्षत्रप इस दृष्टि से तटस्थ ही बने रहे। कुल मिलाकर चित्र यह बनता है कि बौद्ध धर्म अपना प्रभावी अस्तित्व बनाये हुए था किन्तु ब्राह्मण धर्म बड़ी तेजी से विकसित हो रहा था। ब्राह्मण धर्म से संबंधित वास्तुकला के बारे में विभिन्न साधनों और स्रोतों से जो कुछ भी प्रकाश पड़ सकता है, वह इस प्रकार है:—

विदिशा का वासुदेव मंदिर—बेसनगर में खुदाई से एक विशाल मन्दिर के अवशेष मिले हैं। इससे ज्ञात होता है कि इस मन्दिर का आयाम ३० मीटर के गोलाकार क्षेत्र में था। मंदिर के नींव की दीवार २.४० मीटर थी। इस मंदिर का मुंह पूर्वदिशा की ओर था। मंदिर के पास ही पुरोहित के निवास स्थल और कोष्टागार के अवशेष प्राप्त हुए हैं।[2]

हेलियोडोर द्वार निर्मित गरुड़ स्तम्भ करीब १२५-१०० ई० पू० का है। इस स्तम्भ पर हेलियोडोर ने जो अभिलेख उत्कीर्ण करवाये, उससे ज्ञात होता है कि यह स्तम्भ शुंगराज भागभद्र के समय यूनानी राजदूत हेलियोडोर ने खड़ा करवाया था। यहां गरुड़ की प्रतिमा एक विष्णु मंदिर के सामने स्तम्भ पर आसीन थी। पुराविदों की यह धारणा है कि शुंगराज भागभद्र के शासन के १२वें वर्ष में इस विष्णु मंदिर का जो निर्माण करवाया गया था, बेसनगर के यह अवशेष उसी मंदिर से संबंधित हैं।[3] जैसा कि इस अध्याय के पूर्व में देखा जा चुका है कि इस वासुदेव मंदिर के अतिरिक्त एक और भी वैष्णव मंदिर के इसी काल के अवशेष विदिशा से प्राप्त हुए हैं।[4] निश्चित ही मालवा में वैष्णव मत के प्रसार एवम् वैष्णव मंदिर के निर्माण के ये सर्वप्रथम ऐसे

---

१. कनिंघम ए.: आर्कोलाजिकल सर्वे आफ इंडिया, भाग १०, पृ० ४१, ५५-५६.
२. वही, (१९१४-१५), पृ० ६६.
३. मा० ध्रू० ए०, पृ० २०५-६.
४. आ० स० इ० (१९१३-१४), पृ० १८९-१९०.

पुरातत्वीय प्रमाण हैं जो केवल मालवा के ही नहीं, भारत के सांस्कृतिक इतिहास में अपना विशिष्ट महत्व रखते हैं ।

बिलपांक के मंदिर में जो स्तम्भ शीर्ष का भाग लगा है, उसके शुंगकालीन होने का प्रमाण दिया गया है ।[1]★

मन्दिरों पर ध्वज फहराने की परम्परा भी संभवतः प्राचीन बौद्ध निर्माणों से ली गई होगी । इस प्रकार के कुछ ध्वजों के प्रमाण सिक्कों से प्राप्त होते हैं । इस काल की उज्जयिनी से प्राप्त मुद्राओं से प्रतीत होता है कि यहां मकरध्वज, मीनध्वज, चक्रध्वज, हस्तिध्वज, सिंहध्वज, मंदिरध्वज, हलध्वज मन्दिरों के सम्मुख खड़े किये गये थे क्योंकि उपर्युक्त ध्वज उज्जयिनी चिन्ह वाली मुद्राओं पर अंकित पाये गये हैं ।[2]

बहुत संभव है कि ये चिन्ह मालवा में प्रचलित विभिन्न धार्मिक ध्वजाओं का प्रतिनिधित्व करते हों ।

शुंग-सातावाहनोपरांत मालवा की मन्दिर वास्तुकला—

शुंगों व सातवाहनों के उपरान्त नाग और शक राजाओं की धार्मिक मान्यताओं ने समकालीन वास्तुकला को निश्चित रूप से प्रभावित किया । शुंगकालीन शासक भागवतधर्म के अनुयायी थे ।[3] सातवाहन नरेश सातकर्णी प्रथम ने विभिन्न वैदिक यज्ञ किये थे ।[4] इसी प्रकार शक-दामाद ऊषवदात ने दशपुर में ब्राह्मणों को बहुत दान दिया था ।[5] नन्दी-सोम एवम् मोखरी सेनापति बल ने यज्ञ-यूप स्थापित किया था ।[6]

---

१. सिन्हा, एस० के०; आ० प० मा०, पृ० ६५.

★ इस अनुमान के विरुद्ध निम्नलिखित तर्क दिये जा सकते हैं :—

(१) बिलपांक का मंदिर कोई जीर्णोद्धार किया हुआ मंदिर न होकर पूर्ण मंदिर है । अतः इसमें कहीं से शुंग-शीर्ष लाकर लगाने की कल्पना युक्तियुक्त नहीं है ।

(२) यह मंदिर १२वीं शताब्दी की देन है । इसके निर्माण का संबंध गुजरात के सोलंकियों से है । अतः शीर्ष को शुंगों के शीर्ष से जोड़ने के स्थान पर चालुक्य स्तंभ-शीर्ष से जोड़ना अधिक समीचीन होगा ।

(३) बिलपांक के दूर दूर तक शुंग निर्माण का कोई प्रमाण नहीं है ।
अतः किसी शुंगशीर्ष के यहां लगाये जाने की कल्पना अधिक तर्कपूर्ण नहीं है ।

इन आधारों पर बिलपांक के शीर्ष को शुंग-सातवाहन सूची में शामिल करना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता ।

२. उ० द० (१९८०), पृ० ३०.

३. द्विवेदी द्वय : म० भा० इ०, १। ५०५.

४. आ० स० इ०, (१९१४-१५) पृ० ७२-८३.

५. सेलेक्ट इंन्सक्रिप्सन्स्, पृ० १६०.

६. इ० इं० २७, पृ० २५२, २८, पृ० ४२-५२.

वेसनगर के उत्खनन में इस समय की एक यज्ञशाला भी मिली है ।[1] नागलोक यक्षों व नागदेवता के पूजक तथा शैवमत के अनुयायी थे ।[2] इनके काल की इस मत से संबंधित मूर्तियां विदिशा क्षेत्र से उपलब्ध हुई हैं ।

नाग और शककालीन मंदिर वास्तुकला का कोई भी पुरातत्वीय स्पष्ट प्रमाण मालवा क्षेत्र में अभी तक प्रस्तुत नहीं किया है । वेसनगर से प्राप्त द्वितीय अथवा तृतीय शताब्दियों की यज्ञशाला इस बात का सुझाव देती है कि ऐसे धर्मस्थल मालवा क्षेत्र में विद्यमान थे जिनका संबंध वैदिक धर्म से था । यज्ञ स्थल के निरीक्षण से ज्ञात होता है कि धर्म स्थलों का स्थान इंटों एवम् काष्ठ सामाग्री द्वारा सम्पन्न हुआ होगा ।

इतिहासकारों एवम् पुराविदों ने इस काल में मन्दिरों की विद्यमानता प्रमाणित करने की दृष्टि से कई पुष्ट प्रमाण प्रस्तुत किये हैं:—

(१) साहित्यिक साक्ष्य—

महाकवि कालिदास[3] ने पूर्व मेघ (मेघदूत) में विदिशा में नीचगिरि का उल्लेख किया है, जहां की गुफाओं में पौरजनों का मन वहलानेवाली वारांगनाओं का निवास उन्होंने वताया है । निश्चित ही कालिदास गुप्त पूर्व काल की गुफाओं का उल्लेख कर रहे होंगे । इससे यह प्रतीत होता है कि विदिशा में गुहा मन्दिरों के निर्माण के पूर्व नगर शोभनियों के लिये किसी नीचगिरि पर कुछ गुहाओं का निर्माण हो चुका था । कालिदास के इस साक्ष्य से यह निष्कर्ष लगाना युक्तियुक्त ही है कि उदयगिरि की प्रारंभिक गुफाओं के निर्माण का सिलसिला गुप्तकाल से कुछ पहले प्रारंभ हो चुका था ।

(२) पुरातत्वीय साक्ष्य (प्रमाण)—

पवाया के पास उत्खनन से जो ईंटों का मंदिर प्राप्त हुआ है उससे ज्ञात होता है कि यह मंदिर नागकालीन था । त्रिस्कंधीय ईंटों के चवूतरे पर निर्मित इस मंदिर की छत सपाट थी । इन चवूतरों में अन्तराल देकर ठीक वैसा ही प्रदक्षिणा पथ दिया गया था जैसा कि सांची के स्तूपों में दिया गया है ।[4] इसी प्रकार विदिशा का एक सातवाहन अभिलेख विष्णु के प्रासादोत्तम के सम्मुख एक गरुड़ स्तम्भ के निर्माण की चर्चा करता है ।[5]

---

१. आ० स० इ० (१९१४-१५), पृ० ७५.
२. द्विवेदी द्वय: पूर्वोक्त (म० भा० इ०), पृ० ५०६; जर्नल आफ म०प्र० इतिहास परिषद्, (१९६०) पृ० १९.
३. पूर्व मेघ, २५-२७.
४. ए० रि० आ० डि०, ग्वा० स्टे० (१९४०-४१). पृ० १७, मा० क० स्था०, अ० ६ (मन्दिर).
५. द्विवेदी द्वय: म० भा० इ०, पृ० ५०५.

(३) कलात्मक प्रमाण—

इस काल के विभिन्न आवासों एवम् पवाया के उक्त मंदिर के अध्ययन से छतों के सपाट बनाये जाने का प्रमाण मिलता है। उदयगिरि की गुफायें स्पष्ट ही सपाट छत वाली हैं, किन्तु उनमें से कुछ गुफायें शिल्प एवम् मूर्तिकला की दृष्टि से भद्दी एवम् कम विकसित हैं। अतः इन गुफाओं को नागयुगीन मानना युक्तियुक्त होगा।[१]

(४) धार्मिक प्रमाण—

नाग लोग शैव मतावलम्बी थे। विदिशा क्षेत्र में उनकी धार्मिक मान्यताओं के अनुरूप शिवलिंग, नाग और यक्ष-यक्षी की प्रतिमायें प्राप्त हुई हैं। नन्दी की मूर्तियां एवम् नागों से संबंध रखने वाले ताड़ स्तम्भ-शीर्ष भी विदिशा से प्राप्त हुए हैं जो इस बात को प्रमाणित करते हैं कि नागों द्वारा इस क्षेत्र में सतत निर्माण करवाये गये।[२]

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि नागों ने पवाया की भांति पूर्वी मालवा क्षेत्र में काष्ठ और ईंटों के सहयोग से चौकोर चबूतरों व प्रदक्षिणा पथों से युक्त ऐसे मंदिरों का निर्माण करवाया होगा जिनकी छतें सपाट एवं काष्ठ निर्मित रही होंगीं। ये मंदिर अधिकांश रूप में शैव धर्म से संबन्धित रहे होंगे। कुछ वैष्णव प्रतिमाओं की प्राप्ति से यह संभावना भी है कि उनमें से कुछ मंदिर वैष्णव मत से संबंधित रहे होंगे। युग के वास्तुकारों से इन्हीं आधारों पर जो गुहाएं निर्मित करवाई गयीं, उनका प्रारंभिक रूप नागकाल में ही सामने आ गया था। वे गुफायें जिनके बारे में उनके गुप्त पूर्व काल के होने का अनुमान है, निम्न प्रकार से वर्णित की सकती हैं :—

उदयगिरि की गुफा क्र० २, २.३७ × १.८४ मीटर की है तथा इसका द्वार चट्टान में ही काटा गया था। यह खराब स्थिति में है। संभवतः इसके आगे पोर्च था, जो नष्ट हो गया। गुफा क्र० ३, २.४० × १.८५ मीटर है। इसकी बाजू की दीवारें अव्यवस्थित काटी गई थीं। इसका प्रवेश द्वार चट्टान में सादा काटा गया है। द्वार के सामने की दीवार में स्कन्द की मूर्ति कोरी गई है। गुफा क्र० चार ४.१७।। × ३.५० मीटर की है। उसका प्रवेश द्वार सुन्दर एवम् अलंकृत बनाया गया है। इसके द्वार पर दोनों ओर द्वारपाल एवम् उनके बाद घण्टाकृति शीर्ष वाले भित्ति स्तम्भ बनाये गये हैं। गुफा के अन्दर एकमुखी शिवलिंग है जिस पर कुषाण मूर्तिकला का प्रभाव दिखाई पड़ता है। स्पष्ट है यह गुफा भी गुप्तकाल के पूर्व की है।[३]

गुफा क्र० ८ चट्टान में एक साधारण कटा हुआ ३.२७।। मीटर लम्बा क्षेत्र है, जिसकी दाहिनी ओर चौड़ाई ६० से०मी० तथा बायीं ओर १.४० मी० है। इसमें किसी मूर्ति एवम् अलंकरण के चिन्ह नहीं

---

१. मा० क० स्था०, अ० ६, (गुफायें).
२. द्विवेदी द्वय : म० भा० इ०, भाग १, पृ० ६२६-२८.
३. मा० क० स्था०, अ० ६ (गुफायें).

हैं। इसी प्रकार गुफा क्र० १४ और १५ भी क्रमशः २.१० × २.१० मीटर तथा १.२० × १.२० मीटर की साधारण वर्गाकार गुफाये हैं। इनका वास्तुकला की दृष्टि से महत्व नहीं है। गुफा क्र० १६ भी २.२११ मीटर भुजा की वर्गाकार गुफा है, जिसका भीतरी भाग सादा है। इसमें केवल एक छोटा सा चबूतरा बना है, जिस पर एक गड्ढा है, जो संभवतः शिवलिंग हेतु था। इसका द्वार भी सादा है। गुफा क्र० १८ एक २.७०×२.१० मीटर के आकार की साधारण गुफा है।[1]

जब पूर्वी मालवा के नागवंशी शासक विदेशी कुषाणों से जूझ रहे थे, तब उज्जैन के गर्दभिल्ल शासक विक्रमादित्य के रूप में अपनी अत्यन्त अल्पकालीन चमक बताकर लुप्त हो चुके थे। उनका मानमर्दन शकों के नये समूहों ने कर दिया था तथा रुद्रदामन के नेतृत्व में शक पश्चिम भारत की एक बड़ी शक्ति बन चुके थे।[2]

मन्दिर वास्तुकला की दृष्टि से इन पश्चिमी शकों का समय बिल्कुल निराश करता है। इसके दो कारण हैं। प्रथमतः इन शकों की धार्मिक प्रतिबद्धता और भारतीय मनीषा के प्रति समर्पण कभी परिपक्व नहीं हुआ। द्वितीयतः उनका दृष्टि-बिन्दु सौन्दर्योन्मुखी नहीं होकर उपयोगितावादी था। यही कारण है कि सुदर्शन झील पर बांध बनवाने में जितनी रुचि रुद्रदामन ने ली,[3] उतनी रुचि उसने मंदिर निर्माण में नहीं ली, यद्यपि सांस्कृतिक दृष्टि से उनका व्यक्तित्व कम नहीं था।

(५) परोक्ष प्रमाण—

उदयगिरि की गुफा क्र० ५ भी नागों के समय गुहा निर्माण की कुछ परोक्ष सूचना प्रदान करती है। इस वराह प्रतिमा को विद्वानों ने चन्द्रगुप्त द्वितीय का प्रतीक माना है। अपनी दंत कोटि पर यह महावराह पृथ्वी को धारण किये हुए है। उसके वामपाद के नीचे दबा हुआ है नागराज। यह स्पष्ट गुप्त सम्राटों की कृति है। नाग और पृथ्वी के अंकन का अर्थ स्पष्ट प्रतीत होता है। गुप्त सम्राटों ने पृथ्वी के जिस साम्राज्य का वरण किया था, वह उनको नागों से प्राप्त हुई थी। इस विजय का अत्यन्त भव्य और विस्तृत अंकन कभी नाग राजाओं के वंशवर्ती और अब परम भट्टारक महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त द्वितीय के पादानुध्यापक किसी सनकानिक महाराज ने नागों की वीणा गुहा के पास ही इस प्रकार किया।[4]

अतः वीणा गुहा को नागकालीन गुहा स्थापत्य माना जा सकता है।

शुंगकालीन मालवा स्थापत्य इस प्रकार नाग, शुंग एवं सातवाहन वास्तु-तत्वों का एक महत्वपूर्ण तथा अभूतपूर्व समन्वय था जिसने न केवल मौर्यकालीन वास्तु परम्पराओं को आगे बढ़ाया अपितु अनेक मौलिक एवम् क्रान्तिकारी वास्तुकला विधाओं का पुरस्सरण भी किया। इन समस्त गतिविधियों का सुखद परिणाम यह हुआ कि कला व संस्कृति की दृष्टि से स्वर्णिम गुप्त-काल को यश-प्रदाता अपार सामग्री, ज्ञान व अनुभव सहज ही प्राप्त हो गये। इस प्रकार भारतीय स्थापत्य के इतिहास में मालवा की शुंग-सातवाहन-शक वास्तुकला एक निर्णायक मोड़ सिद्ध होती है।

---

१. मा० क० स्था०, अ० ६, (गुफायें).
२. मा० थ्रू० ए०, पृ० १६०-६२.
३. इ० इं०, ८, पृ० ४२.
४. द्विवेदी-द्वय, म० भा० इ० १, पृ० ६०३-४.

५ गुप्त-औलिकर मालवा

प्रयाग प्रशस्ति के अनुसार गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त ने पूर्वी मालवा से नाग राजाओं की सत्ता समाप्त कर डाली। उसके पुत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने लगभग सन् ३८८ ई० में शकों को पूरी तरह पराजित कर दिया। समुद्रगुप्त का ऐरण पर तथा चन्द्रगुप्त का विदिशा पर निश्चित अधिकार था। चन्द्रगुप्त द्वितीय के उदयगिरि अभिलेख के अनुसार चन्द्रगुप्त स्वयं विदिशा आया था।[१] विदिशा के कुछ अन्य अभिलेख भी गुप्तों की शकों पर विजय तथा पूर्वी मालवा पर गुप्तों के अधिकार का प्रमाण देते हैं। अपनी इन विजयों को परिणामस्वरूप चन्द्रगुप्त द्वितीय ने विक्रमादित्य की उपाधि ग्रहण की थी।[२]

विद्वानों की ऐसी मान्यता है कि गुप्तों का शासन उज्जैन पर भी था और यह नगरी गुप्तों की दूसरी राजधानी थी।[३] गुप्तकालीन भाण भी उज्जैन का एक सार्वभौम नगर के रूप में वर्णन करते हुए उसके गुप्तकालीन वैभव का अतिरेक प्रस्तुत करते हैं।[४] दूसरी ओर हमारे पास न तो कोई साहित्यिक और न ही कोई पुरातत्वीय ऐसे प्रमाण उपलब्ध हैं जिनसे यह सिद्ध हो सके कि उज्जैन पर गुप्त राजाओं का अधिकार था। जब पूर्वी मालवा पर गुप्तों का अधिकार चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय हो गया था, तब पश्चिमी मालवा के महत्वपूर्ण केन्द्र दशपुर में ठीक उस समय औलिकर शासक नरवर्मन शासन करता था।[५] लगभग इसी समय उज्जैन पर भी जिष्णु आदि अन्य शासक शासन करते थे। यह प्रमाण उपलब्ध सिक्के देते हैं।[६] चन्द्रगुप्त के अग्रज रामगुप्त के बारे में विदिशा में अभिलेखीय एवम् मौद्रिक प्रमाण प्राप्त हुए हैं।[७] किन्तु यह रामगुप्त देवीचन्द्रगुप्तम में वर्णित

---

१. का० इ० इं०, ३, पृ० १८; राय चौधरी एच० सी: पोलिटिकल हिस्ट्री आफ इंडिया, पृ० ५५६.
२. मा० श्रू० ए०, पृ० २३६.
३. मुकुर्जी राधाकुमुद: चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य (वि० व्हा०), पृ० ३३७.
४. निगम श्यामसुन्दर: प्राचीन उज्जयिनी का अर्थ-वैभव, पृ० २.
५. दलाल सुशीला: मालवा के औलिकर नरेश (स्टडीज इन दी हिस्ट्री आफ मालवा व्हा० २; (१९७४-७५). पृ० ६-७.
६. मा० श्रू० ए०, पृ० २२९-३०.
७. वही, पृ २३२-२३४.

गुप्त-राज रामगुप्त ही था, इस वारे में विवाद वना ही हुआ है।

चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने पुत्र गोविन्दगुप्त को पूर्वी मालवा का प्रशासक वनाया था।[१] चन्द्रगुप्त के वाद कुमारगुप्त सत्ता पर आया। कुमारगुप्त दशपुर को अपने प्रभाव में लेने में सफल हो गया क्योंकि समकालीन दशपुर के औलिकर शासकों से कुमारगुप्त को अपने अभिलेखों में पृथ्वी का स्वामी निरुपित किया था।[२] ऐसा लगता है कि कुमारगुप्त के वाद दशपुर पुनः अपना अस्तित्व स्वतंत्र रखने लगा था। जहां तक उज्जैन का प्रश्न है, इस पर गुप्तों का अधिकार स्थापित करने संवंधी कोई प्रमाण प्राप्त नहीं हो सका है।

दशपुर के औलिकार शासक—औलिकरों का दशपुर पर ३५० ई० से ५५० ई० तक शासन रहा। औलिकर मालवों की ही एक शाखा थे। संभवतया वे स्वतंत्र शासकों के रूप में विकसित हुए थे और कुछ समय के लिये उन्होंने कुमारगुप्त की सत्ता को नाम मात्र के लिये स्वीकारा था।

औलिकर वंश का प्रथम ज्ञात शासक जयवर्मन था जिसने दशपुर क्षेत्र शकों से छीनकर अपनी सत्ता स्थापित की थी। इसका राज्यकाल ३५० ई० से ७५ ई० तक रहा।[३] जयवर्मन के वाद सिंहवर्मन औलिकर शासक वना।[४] सिंहवर्मन का उत्तराधिकारी नरवर्मन था। नरवर्मन के मन्दसौर अभिलेख (४०४ ई०) में उसे नरेन्द्र कहा गया है।[५] सन् ४१७ के विहार कोटरा अभिलेख में भी उसका उल्लेख आया है।[६] औलिकर वंश का प्रथम उल्लेखनीय शासक नरवर्मन था जो दशपुर से अपना स्वतंत्र शासन चला रहा था। जिस समय चन्द्रगुप्त द्वितीय विदिशा हस्तगत कर रहा था, तव नरवर्मन का राज्य नरसिंहगढ़ के पास विहार कोटरा तक था।

नरवर्मन के उपरान्त उसका पुत्र विश्ववर्मन सत्ता पर आया। विश्ववर्मन को ४२३ ई० के गंगधार अभिलेख में एक वीर नरेन्द्र माना गया है।[७] ४३६ ई० के मन्दसौर अभिलेख में भी उसकी तुलना शुक्र और वृहस्पति से की गई है।[८] विश्ववर्मन के उपरान्त उसका पुत्र बन्धुवर्मन एक स्वतंत्र शासक न रह सका, क्योंकि सन् ४३६ ई० के उसके मन्दसौर अभिलेख में पृथ्वी शासक के रूप में कुमारगुप्त की प्रशस्ति गायी गयी है। इसी अभिलेख में लाट देश से आए हुए रेशमी वस्त्र के निर्माता तन्तुवायों द्वारा एक सूर्य मन्दिर

---

१. इ०इं०, २७, पृ० १२-१८ से इं०, पृ० ४०७.
२. का०इं०इ०, ३, पृष्ठ ८१ से इं०, पृ० ३०४.
३. दलाल सुशीला : मालवा के औलिकर नरेश (स्टडीज इन दी हि० आफ मालवा) व्हा. २ १९७४-७५, पृ० १.
४. वही, पृ० ४.
५. इ०इं० १२, पृ० ३२०.
६. इ०इं०, पृ १३०.
७. से०इं०, पृ० ४००, का० इ०इं० ३, पृ० ४४.
८. का०इ०इं०, ३, पृ० ८१ से० इं० पृ० ३०४.

बनाने का उल्लेख प्राप्त होता है। बन्धुवर्मन के उपरान्त सन् ४७३ ई० तक दशपुर में ३ शासकों ने राज्य किया।[१] संभव है उनमें से एक पादताड़िकम्वर्णित रुद्रवर्मा हो।[२]

इसी प्रकार सन् ४६७ ई० में एक प्रभाकर नामक शासक का उल्लेख भी दशपुर में प्राप्त होता है, जिसमें गुप्तों के शत्रुओं से युद्ध किया था।[३] ये शत्रु वाकाटक या हूण हो सकते हैं। सन् ४७३ ई० में सूर्य मन्दिर जीर्णोद्धार किया गया था। इससे संबंधित अभिलेख[४] में किसी भी राजा का नाम न होने से ऐसा तर्क दिया गया है कि वाकाटक नरेश नरेन्द्र सेन ने स्कन्दगुप्त की मृत्यु के बाद उत्पन्न हुई अराजकता का लाभ लेकर मन्दसौर पर अधिकार कर लिया।[५] पृथ्वीषेण के बालाघाट ताम्रपत्रों में नरेन्द्र सेन को मालवा का विजयकर्त्ता माना गया है।[६]

प्रभाकर के उत्तराधिकारी के रूप में आदित्यवर्धन का नाम लिया जाता है। महाराज गौरी के मन्दसौर अभिलेख में आदित्यवर्धन के शत्रुओं का विजयकर्त्ता माना है। संभव है ये शत्रु वाकाटक या गुप्त या हूण हों।[७]

आदित्यवर्धन का शासन ४७५ ई० से ४९३ ई० तक माना गया है, क्योंकि महाराज गौरी का ४९१ ई० का छोटी सादड़ी अभिलेख आदित्यवर्धन का उल्लेख करता है। वराहमिहिर की वृहत्संहिता में महाराजाधिराज द्रव्यवर्धन को अवन्ती का शासक माना गया है।[८] विद्वानों की धारणा है कि द्रव्यवर्धन एक औलिकर शासक था जिसका राज्यकाल ४९५ ई० से ५१५ ई० तक रहा।[९] बुद्धप्रकाश इससे विरोधी मत प्रकट करते हुए द्रव्यवर्धन को यशोधर्मन विष्णुवर्मन के बाद का शासक मानते हैं।[१०]

औलिकर वंश का सबसे प्रतापी शासक यशोधर्मन-विष्णुवर्मन माना गया जिसने एक चकाचौंध के रूप में ५३० ई० से ५४० ई० तक शासन किया। यशोधर्मन के बारे में सोधनी में (मन्दसौर) दो स्तम्भ लेख[११] और मन्दसौर में कूप अभिलेख प्राप्त हुए हैं।[१२] इन अभिलेखों में यशोधर्मन को जैनेन्द्र, नराधिपति, राजाधिराज तथा परमेश्वर कहा गया है। यशोधर्मन को एक महान विजेता बताया गया गया है। यह कहा है कि उनके सामने

---

१. का० इ० इं०, ३, पृ० ४४.
२. पादताड़िकम (चतुर्माणी), श्लोक ६०.
३. इ० इं०, २७, पृ० १२=१८.
४. का० इ० इं०, ३, पृ० ७९.
५. मा० क० स्था०, अध्याय ७ (भूमिका)
६. इ० इं०, ९, पृ० २७६; २२, पृ० २०७-१२.
७. वही, ३०, पृ० १२७.
८. वृहत्संहिता, ८६।२.
९. मा० थ्रू० ए०, पृ० २५५.
१०. बुद्धप्रकाश : आस्पेक्ट्स आफ इण्डियन हिस्ट्री एण्ड सिविलाइजेशन, पृ० ९४-९५.
११. का० इ० इं०, ३, पृ० १४६.
१२. वही, पृ० १५२.

हूण नरपति मिहिरकुल नतमस्तक हुआ था। उसका राज्य उत्तर में हिमालय से दक्षिण में महेन्द्र पर्वत तक और पूर्व में लोहित नदी से लेकर पश्चिम मे समुद्र तक था। स्पष्ट है कि जहां यशोवर्धन ने एक ओर मालवा को हूण खतरे से मुक्त किया, वहीं दूसरी ओर उसने गुप्तों से बहुत बड़े क्षेत्र को अधिकृत करने में सफलता प्राप्त की।

प्राचीन मालवा पर विचार करने वाले इतिहासकार अभी इस विवाद में उलझे हैं कि द्रव्यवर्धन और यशोवर्धन का मुख्यालय दशपुर था अथवा उज्जैन।

गुप्तकालीन स्थापत्य की विशेषताएं :—

औलिकर गुप्तकाल कला, संस्कृति व स्थापत्य की दृष्टि से भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग माना गया है। सब प्रकार की स्थापत्य विधायें इस काल में चरम परिपाक लेती हुई दिखाई देती हैं। बौद्धों के हीनयान और महायान दोनों ही सम्प्रदाय सक्रिय रहे। इस कारण पूर्ववर्ती बौद्ध निर्माणों की परम्परा यथावत् जारी रही। विदिशा क्षेत्र में स्तूपों का निर्माण जारी रहा। दक्षिण भारतीय चैत्यों और गुहा मन्दिरों ने इस काल में मालवा में भी प्रवेश कर लिया। परिणामस्वरूप बाघ, धमनार, आदि स्थानों पर गुहा मन्दिर एवम् विहार बनवाये गये। गुहा मन्दिर निर्माण का इसी समय एक स्वतंत्र प्रयोग भी मालवा में हो रहा था। उदयगिरि में जिन ब्राह्मण एवम् जैन गुहा मन्दिरों का निर्माण हुआ, वे पूर्ववर्ती बौद्ध गुहाओं और चैत्यों से प्रेरणा न लेकर नाग निर्माणों को गंभीरतापूर्वक आगे बढ़ा रही थीं। इस मौलिक प्रयोग का परिणाम यह हुआ कि कई प्रारंभिक गुप्त मन्दिर इन्हीं की शैली का अनुसरण करते चले गये।

इस काल में ब्राह्मण धर्म का बहुत तेजी से विकास हुआ। ब्राह्मण, बौद्ध और जैन तीनों ही धर्मों ने गुप्तों की सहिष्णु छत्रछाया में जो प्रचार-प्रसार किया, वह अनेक मन्दिरों के रूप में प्रस्फुटित हो उठा। परिणामस्वरूप सांची, विदिशा, उदयगिरि, ऐरण, मन्दसौर, गंगधार आदि स्थानों पर अनेक मन्दिरों का निर्माण हुआ। जहां तक साहित्यक सन्दर्भों का प्रश्न है, वे यह प्रमाण देते हुए दिखाई देते हैं कि शिखरयुक्त मन्दिर की परम्परा गुप्त पूर्व काल से ही विद्यमान थी। किन्तु पुरातत्वीय प्रमाण स्पष्ट इतना ही सिद्ध करते हैं कि गुप्तों के प्रारंभिक मन्दिर वर्गाकार गर्भगृह व सपाट छत वाले एवम् शिखरविहीन होते थे। कालान्तर में वे क्रमशः शिखरयुक्त होने लगे। गुप्तकालीन मन्दिरों में प्रस्तरों के साथ साथ ईंटों का भी प्रयोग होने लगा था। उनके सर्वेक्षण से सामान्य रूप से निम्नलिखित बातें प्रकाश में आयी हैं[१]:—

(१) गुप्त मन्दिरों की स्थापना ऊंचे चबूतरे पर हुई थी।

(२) मन्दिर तक पहुंचने के लिये सीढ़ियां बनी हैं।

(३) प्रारंभिक मन्दिर की छतें समतल (चिपटी) हैं, जिन्होंने कालान्तर में विकसित होकर शिखर का रूप धारण कर लिया।

(४) मन्दिरों की बाहरी दीवारें सादी हैं।

---

१. प्रा० भा० गु० स्तूप मंदिर, पृ० २०७-०८.

(५) गर्भगृह में एक द्वार रहता है। उसी गृह में प्रतिमा स्थापित रहती है।

(६) द्वार स्तंभ अलंकृत हैं। इस स्तंभ में पूर्ण कलश आकृति दीख पड़ती है। उसी कलश से पुष्प बाहर निकले दृष्टिगोचर होते हैं। उन स्तम्भों पर बेलबूटे भी उत्कीर्ण हैं। पूर्ण कलश तो वैभव का प्रतीक है। घट में जल से विश्व की उत्पत्ति हुई।

(७) द्वार के दोनों पार्श्वों में द्वारपाल के स्थान पर गंगा यमुना की मूर्तियां उत्कीर्ण की गई थीं। गंगा मकरवाहिनी तथा यमुना की मूर्ति कर्मवाहिनी के प्रतीक स्वरूप दिखलायी जाती थीं।

(८) गर्भगृह के चारों तरफ प्रदक्षिणापथ रहता है, जो छत्त से ढका है।

(९) मन्दिर के वर्गाकार स्तंभों के शीर्ष पर चार सिंह मूर्तियाँ पीठ से पीठ लगे बनी हैं। इन पर छत का भार रहता है।

(१०) गुप्तकालीन मन्दिरों के गर्भगृह में प्रतिष्ठित प्रतिमा के पूजन के निमित्त आकार प्रवास निर्मित थे। उस स्थान पर उपासक जनता के सभा-स्थल का सर्वथा अभाव था।

(११) गुप्त मंदिरों के दो वर्गीकरण एक पूर्व गुप्तकालीन मन्दिर (३५०-५५० ई०) तथा दूसरा उत्तर गुप्तकालीन (५५०-६०० ई०) मंदिर जिसमें शिखर का प्रादुर्भाव हुआ।

जो बात गुप्तकालीन मन्दिरों के लिये कही गयी है वह समकालीन मालवा के औलिकर मन्दिरों पर भी लागू होती है।

पूर्व गुप्तकालीन मन्दिरों में तिगवा, भूमरा, सांची, आदि के मन्दिर देखे जाते हैं। इन सब समतल छत वाले मन्दिरों का परिपाक नाचनाकुठार के पार्वतनी मन्दिर में दिखाई देता है, जहां शिखर उठाने का प्रथम बार प्रयास किया गया। उत्तरगुप्तयुगीन मन्दिर शिखर-युक्त होने लगे। भीतरगांव, देवगढ़, सिरपुर आदि स्थानों पर ये मन्दिर आज भी देखे जा सकते हैं।[1]

मालवा को दोनों प्रकार के गुप्तकालीन मन्दिरों के अस्तित्व का सौभाग्य प्राप्त है। मालवा की गुप्तकालीन मन्दिर वास्तुकला की पूर्व परम्परा में बेसनगर के शुंगकालीन विष्णु मन्दिर निश्चित ही आते हैं; किन्तु ऐसा लगता है कि गुप्तों ने अपनी स्वर्ग की ही मंदिर कला का निर्माण किया है। यही कारण है कि उन्होंने मालवा में प्रथमतः मन्दिर न बनाते हुए उदयगिरि में गुहा मंदिरों का निर्माण किया। जो भी मन्दिर मालवा में गुप्तकाल से संबंधित रहे हैं, वे शैली एवम् वास्तु की दृष्टि से उदयगिरि के इन गुहा मन्दिरों के निकट रहे हैं। बौद्ध निर्माण कला से भी निश्चित ही प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रेरणा ली गयी होगी किन्तु उसका सांस्कृतिक प्रभाव कम ही स्वीकारा गया है।

---

१. ब्राउन पर्सी : इं० आ०, पृ ५८; प्रा० भा० गु० स्तू० मं०, पृ० २०७-०८.

गुप्तकालीन बौद्ध स्थापत्य :—

गुप्तकाल में महायान मत भरपूर प्रसार पा रहा था। बुद्ध और बोधिसत्व की मूर्तियां पूजा उपासना के विषय बन गयी थीं। अतः सहज है कि इनके निमित्त गुहाओं, मन्दिरों और मठों का निर्माण किया गया हो। मालवा में इस समय यद्यपि बौद्ध मत पतन की ओर था, किन्तु उस काल का बौद्ध-बुद्धिवादी बड़ा सक्रिय था। यही कारण है कि मालवा से धर्मक्षेत्र, गुरुभद्र, उपशून्य और परमार्थ जैसे अनेक महायानी भिक्षु धर्म प्रचार के लिये चीन और मध्य एशिया गये थे।[१] इसी प्रकार कुछ चीनी यात्रियों का धार्मिक अध्ययन हेतु इस क्षेत्र में आने का प्रसंग भी मालूम पड़ता है।[२] इसी काल में सांची में चन्द्रगुप्त के सेनापति आम्रकार्दव, शूरकुल के एक वंशज, हरिस्वामिनी नामक उपासिका एवम् रुद्रसिंह नामक दानी द्वारा बौद्ध विहारों एवम् निर्माणों के निमित्त प्रदत्त दान के स्मृति-स्वरूप अभिलेख उत्कीर्ण करवाये गये।[३] हीनयान मत अपना अस्तित्व बनाये हुए था। मन्दसौर के सन् ४६७-६८ ई० के अभिलेख से ज्ञात होता है कि हीनयान की लोकत्तरवादिन शाखा के लिये लोकत्तर विहार का निर्माण करवाया गया था।[४]

स्तूप :— सांची के स्तूप क्रमांक २८ और २९ इस समय से संबंधित हैं। इन दोनों स्तूपों का आधार वर्गाकार है जबकि अण्ड गोलाकार है। ये कंगूरों और सोपान से युक्त हैं। ये दोनों ही स्तूप आकार में छोटे हैं।[५] यह समानता होते हुए भी इनके आन्तरिक बनावट में भिन्नता है। सोपान के पश्चिम में जो स्तूप हैं वे समतल रूप से प्रस्तर निर्मित हैं जबकि पूर्व का स्तूप बड़े आकर की ईंटों से निर्मित है। स्तूप क्रमांक ५ इन स्तूपों के निर्माण के काफी बाद छठी शताब्दी ई० में बनाया गया था। यह छोटे-छोटे अनगढ़ पत्थरों और मिट्टी से निर्मित है। इसका प्रदक्षिणा-पथ आधार पर ही बना था।[६] सांची के स्तूप क्र० ७, १२, १३, १४, १५ और १६ सभी स्तूप क्रमांक ५ की भांति लघु हैं। इनके आधार वर्गाकार हैं। ये मिट्टी और पत्थरों से भरे गये हैं। इनका अण्ड गोलाकार है। इस नाते ये स्तूप क्रमांक ५ की ही भांति छठी शताब्दी ई० में निर्मित माने गये हैं।[७]

गुप्तकाल में कई स्तूप चट्टानों को काटकर गुहा मन्दिरों में निर्मित किये गये। मालवा क्षेत्र में बाघ एवम् धमनार में इस प्रकार के स्तूप देखे जा सकते हैं। इनका अध्ययन बौद्ध गुहा मंदिरों के साथ किया जा रहा है।

बाघ :—महाराज सुबन्धु के एक दान पत्र से ज्ञात होता है कि बाघ का प्राचीन नाम कलयन विहार था।[८] यहां की बौद्ध गुफायें कब निर्मित हुईं, इस विषय पर विद्वानों में मतभेद है। वी० वी० मिराशी ने इन

---

१. बुद्धिज्म इन मालवा; पृ० १६-१७.
२. वही.
३. मा० सां०, पृ० ३८७-९०.
४. इ० इं०, २७, पृ० १२-१८.
५. मा० सां०, पृ० ४७-४८.
६. वही.
७. वही, पृ० ४६.
८. गर्दे मो० ब०: महाराज सुबन्धु का एक ताम्रपत्र-शासन (वि० स्मृ० ग्र०), पृ० ६५०.

गुफाओं को ४थी शताब्दी का माना है।[1] फरग्यूसन और वर्गेस इन्हें एक स्थान पर ४थी और दूसरे स्थान पर ५वीं शताब्दी का मानते हैं।[2] विन्सेण्ट स्मिथ एक भिन्न मत प्रकट करते हुए इनका समय ६ठीं और ७वीं शताब्दी का बताते हैं।[3] ग्वालियर राज्य के पुराविद् श्री गर्दे का भी यही मत है।[4] महेश्वरदयाल खरे ने पुरातत्वीय प्रमाणों के आधार पर इन्हें ४थी शताब्दी ई० का माना है।[5] स्थिति चाहे जो भी हो, यह निश्चित ही है कि इन गुफाओं का संबंध गुप्तकाल से रहा है। यहां मूल रूप से कई गुफायें निर्मित की गई थीं, किन्तु इनका ध्वंस इतनी तेजी से हो रहा है कि जहां सन् १९३७ में नौ गुफायें अपना अस्तित्व बोध दे रही थीं[5] वहां आज केवल दो-चार गुफायें ही अपनी सुरक्षा की भीख मांगती हुई हिचकियां लेती दिखाई दे रही हैं।

बाघ की गुफाएं कोई एक प्रकार की नहीं हैं। गुफा क्र० २ और ४ जहां चैत्य युक्त विहार थे, वहां गुहा क्रमांक ३ विशद रूप से विहार था। गुफा क्र० ५ न चैत्य है और न विहार। लगता है यह गुहा कोई सभागृह रहा होगा।[7]

शैली की दृष्टि से बाघ की गुफाएं उदयगिरि और अजंता की गुफाओं के मध्य रखी जा सकती हैं, किन्तु उदयगिरि की गुफाओं से ये कई दृष्टि से भिन्न हैं : प्रथम अंतर यह है कि जहां उदयगिरि की गुफाएं वैदिक तथा जैन मत से संबंधित हैं, वहीं दूसरी ओर ये गुफाएं बौद्धमत से संबन्धित हैं। यह बात दूसरी है कि ये बौद्ध गुफाएं हीनयान और महायान दोनों ही मतों से संबंध रखती हैं। दूसरी बात यह है कि बाघ की गुफाएं पर्याप्त चित्रकला युक्त एवम् विस्तीर्ण रही हैं, जबकि उदयगिरि की गुफाएं लघु, मूर्तिकला प्रधान व चित्रहीन रही हैं। इस दृष्टि से बाघ की गुफाएं अजन्ता की गुहाओं के निकट हैं। तीसरा अन्तर यह है कि जहां उदयगिरि की गुफाएं गुप्तकालीन आवासगृहों एवम् मंदिरों से साम्य रखती थीं वहां बाघ के वास्तुकार ने अजन्ता, कार्ले अथवा नासिक की गुहाओं को अपना आदर्श बनाया, किन्तु बाघ का वास्तुविद् इसमें इन दक्षिण भारतीय गुहाओं जैसी भव्यता एवम् अलंकरण न भर पाया। बाघ की गुफाएं सादी और अजटिल हैं। उनके सम्मुख स्तम्भयुक्त बृहत कक्ष तथा दोनों ओर छोटी छोटी कोठरियां निर्मित की गई थीं। भीतर की कोठरियों में नासिक की भांति बुद्ध मूर्तियां न होकर चैत्य बनाये गये थे। जहां तक सादगी व सरलता का प्रश्न है, निश्चित ही ये गुफाएं उदयगिरि की गुफाओं के निकट हैं। बाघ की गुफाएं वास्तु की दृष्टि से अजन्ता से पर्याप्त पीछे नहीं हैं, अपितु चित्रकला की दृष्टि से भी वे बौनी लगती हैं। किन्तु एक अन्य दृष्टि से वे उदयगिरि और अजन्ता दोनों से पर्याप्त पीछे हैं। वह यह है कि बाघ की गुफाओं के स्थान का गलत चुनाव। बाघ के पत्थर समकालीन अन्य गुहाओं की भांति टिकाऊ सिद्ध नहीं हो सके।

---

१. स्टडीज इन इण्डोलाजी, पृ० २६५.
२. केव टेम्पल्स आफ इण्डिया, पृ० १८६-३६६.
३. ए हिस्ट्री आफ फाइन आर्ट्स इन इंडिया एण्ड सीलोन, पृ० २९५.
४. दी बाघ केव्ज, पृ० २२.
५. बाघ की गुफाएं, पृ० ३४.
५. बु० इ० मा०, पृ०९२.
६. खरे म० द० : बाघ की गुफाएं, पृ० ३५-४८.
७. मा० क० स्था०, अ० ७ (गुफाएं).

स्थापत्य कला की दृष्टि से बाघ गुफाओं का जो कुछ वर्णन किया जा सकता है वह इस प्रकार है :—

पहली गुफा गृह-गुफा कहलाती है। यह गुफा लगभग नष्ट हो चुकी है और जैसे तैसे चार स्तम्भों पर ६.९०×४.२० मीटर का एक कक्ष लगभग गिरी हुई स्थिति में है। वैसे इसका मुख्य कक्ष ७.२०×६.६० मीटर था जिसके आगे ८.२५×०.९७ । मीटर का पार्च था। इसके स्तम्भ २ मीटर ऊंचे एवम् ९७.५ से०मी० के भुजाकार थे। कक्ष का प्रवेशद्वार १.७२ मीटर का वर्गाकार था। गुफा के स्तम्भ छत आदि पूर्ण रूप से भग्न हो जाने से इससे अधिक इसका स्थापत्य मूल्यांकन संभव नहीं है।[1]

बाघ की गुफा क्रमांक २ स्थानीय जनता में पाडवों की गुफा कहलाती है। बाघ की गुफाओं में यह गृहा सर्वाधिक सुरक्षित स्थिति में है। यह भव्य तथा प्रभावोत्मक है। इसमें विशाल सभामण्डप है, जिसके तीन ओर कोठरियां हैं। सामने स्तम्भों पर टिका एक विशाल पोर्च था। मूल रूप में यह गुफा ४५ मीटर रही होगी। पोर्च नष्ट हो चूका है। केवल इसके ६ स्तम्भों के षड-पहलू स्तम्भ पाद शेप हैं। पोर्च के दाहिने और बायें बनी दो कोठरियों सहित इस विहार में २० कोठरियां हैं। जिनकी सामान्य गहराई २.७० मीटर है। सभा-मण्डप १६.२०×१५ मीटर का है जिसके २० स्तम्भ महाकाव्य एवम् विभिन्न अभिप्रायों से अलंकृत हैं। इस गुफा की विशेपता है इसका चतुर्भुजाकार गर्भगृह जो ६×६ मीटर की अन्तराल द्वारा सभामण्डप से जुड़ा है। इसकी दीवारों पर बौद्ध प्रतिमाएं कोरी गई हैं जिनमें गर्भगृह के दीवारों के दोनों ओर एक-एक तथा अन्तराल की दाहिनी एवम् बायीं भित्तयों पर तीन-तीन आकृतियों का समूह है। ये सभी मूर्तियां खड़ी हैं। गर्भगृह के मध्य में ४.८० मीटर ऊंचा एक स्तूप बना है। छत तक ऊंचे स्तूप के उत्तर में एवम् दक्षिण की ओर गर्भगृह की दीवारों में मूर्तियां हेतु गवाक्ष बने हैं। पोर्च से सभामण्डप में जाने हेतु तीन द्वार हैं, जिनके मध्य दो खिड़कियां बनायी गई हैं।[2]

बाघ की गुफा क्रमांक ३ हाथीखाना के नाम से भी प्रसिद्ध है, जिसकी परिष्कृत बनावट एवम् नक्काशी प्रशंसनीय है। इस गुहा में दो भव्य कमरे हैं। वाह्य कमरा आठ अष्ठपहलू स्तम्भों से युक्त है। अग्र भाग में आंगन तथा दाहिने एवम् बायें कोठरियां बनी हैं। दूसरे कमरे में कोठरियां नहीं हैं। बाह्य कमरे से इसमें जाने हेतु तीन द्वार बने हैं। दूसरे कमरे में आठ वर्गाकार स्तम्भ हैं। वाह्य कमरे की अपेक्षा इसका उत्खनन अपरिष्कृत हुआ है।[3]

बाघ की गुफा क्र० ४ का प्रचलित नाम रंगमहल है, क्योंकि इसमें चित्रकला के विभिन्न एवम् अनूठे उदाहरण हैं। इस गुफा सहित क्रमांक ५ तक एक विशाल ६६ मीटर लम्बा एवम् ४.२० मीटर चौड़ा पोर्च था, जिसका १३.५० मीटर लम्बा भाग ही शेप है। इनमें ४.२० मीटर ऊंचे २२ स्तम्भ थे, जो गिर चुके हैं। परन्तु दोनों बाजुओं पर बने भित्ति स्तम्भ अक्षत हैं।[4] बाघ की गुफाओं में रंगमहल सबसे बड़ी गुफा है। इसका

---

१. मा० क० स्था०, अ० ७, (गुफाएं).
२. गर्दे : दी बाघ केव्हज, पृ० ७-३०.
३. वही, पृ० ७-१२, मार्ग, २५ (१९७२), पृ० २४-३५; वि० स्मृ० ग्रं०, पृ० ६१७-१८; बु० इ० म,०, पृ० ९३-९५.
४. वही.

(१०) बाघ के विविध स्तम्भ
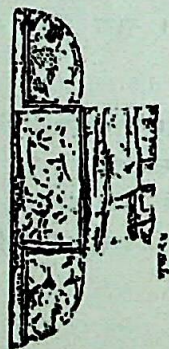
(खरे कृत बाघ की गुफाओं से साभार)
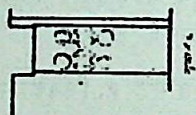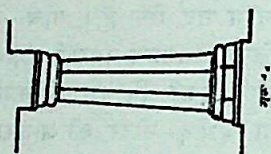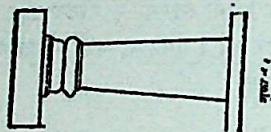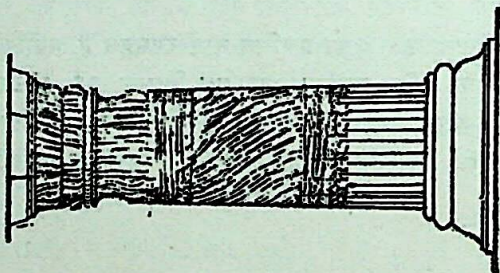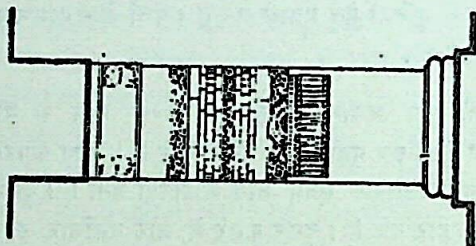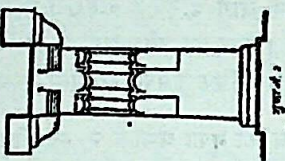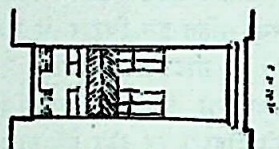
सभामण्डप २९.४०×२९.४० मीटर का वर्गाकार है। इसमें ३८ स्तम्भ हैं। तीन ओर कोठरियां बनी हैं इसमें तीन अत्यधिक अलंकृत पोर्च हैं, जिसका प्रक्षेपण कोठरियों के सामने बरांडे के मध्य के अन्दर को होता है। इनके छहों स्तम्भ गोलाकार हैं। आधार एवम् शीर्ष विभिन्न अभिप्रायों की पट्टियों से सुरक्षित हैं। सभामण्डप के मुख्य प्रवेश द्वार पर अत्यन्त सुन्दर उकेरी हैं। द्वार की ऊँचाई ४.५० मीटर एवम् चौड़ाई २.४० मीटर है। अन्य द्वार छोटे और कम अलंकृत हैं।[1]

वाघ की गुफा क्रमांक ५ के वास्तु विन्यास से, यह गुफा व्याख्यान मण्डप या सभागृह प्रतीत होती है। इसके सभामण्डप की लम्बाई २९.४० मीटर एवम् चौड़ाई १४.२० मीटर है, जिसमें दो पंक्तियों में सादे एवम् प्रभावोत्मक स्तम्भ काटे गये हैं। ये स्तम्भ आठ की दो पंक्तियों में जिनका अनुस्थापन लम्बाई में है तथा प्रत्येक स्तम्भ एक दूसरे से १.८० मीटर एवम् भित्तियों से ३.६० मीटर की दूरी पर होने से सभामण्डप गुफा के ठीक मध्य में दिखाई देता है। स्तम्भों की प्रत्येक पंक्ति समान कुर्सी पर आधारित है। गुफा में स्तूप, मूर्ति, अलंकरण आदि का अभाव है, परन्तु लेपित सतह से अनुमान लगाया जाता है कि इसकी भित्तियों पर भी रंगमहल के समान चित्रकारी रही होगी। इसमें चार खिड़कियां तथा एक द्वार है जिन पर नक्काशी नहीं है। सभवतः ये भी चित्रों से अलंकृत थे।[2]

वाघ की गुफा क्रमांक ६ में १३.३५ मीटर की चार अष्ट पहलू स्तम्भों से युक्त सभामण्डप हैं। मण्डप के पीछे दो कोष्ट हैं, जो वायें दाहिने ओर क्रमशः ३.७॥×३.७॥, ४.२०×३.२२॥, ३.९० ×३.००, ३.२२ ॥×३.४०, ३.४० × ३.३५ मीटर आकार के हैं। इन कोष्ठों के प्रवेश द्वार ९०×९० से० मी० से ९०×१.५० मीटर तक हैं। इस गुफा में एक प्रवेश द्वार तथा दो खिड़कियां हैं। संभवतः इनके आगे एक विशाल पोर्च रहा होगा। इस गुफा में भी चित्र थे जो अब नष्ट हो चुके हैं। गुफा क्र० ५ एवम् ६ को सम्बद्ध करने वाले ५. २५×३.९७ ॥ मीटर के कक्ष में कोरे गये भित्ति स्तम्भों पर बने पूर्णकुम्भ एवम् पणावलि की नक्काशी दर्शनीय है।[3]

वाघ की गुफा क्र० ७ का सभामण्डप २५९५॥×२५.९५ का वर्गाकार है। उसमें २० स्तम्भ थे। मण्डप के सामने ६ अष्टपहलू स्तम्भों पर बना २६.६५×३.२५ मीटर का एक विशाल पोर्च तथा बाकी तीनों ओर १८ कोठरियां बनी थीं। पृष्ठ भाग के मध्य में एक पूजागृह था। गुफा में प्रविष्ट होने के लिए तीन द्वार हैं। जिनमें मुख्य द्वार के दोनों ओर दो खिड़कियां हैं। मुख्य द्वार की चौड़ाई २.१० मीटर तथा अन्य दो द्वार १. १२॥ एवम् १.४७॥ मीटर चौड़े हैं। पूजागृह के अग्र भाग में दो स्तम्भ हैं। आसपास चार कोठरियां हैं। मण्डप की दाहिनी और बायीं ओर सात-सात कोठरियां बनी हैं।[4]

गुफा क्रमांक ८ और ९ का मलवा हटाने के बाद ही इसका वास्तु विन्यास ज्ञात हो सकता है। वाघ गुफाओं की चट्टान में पानी का अन्तःस्रवण होने के कारण गुफाओं की भीतरी छत में नमी की मात्रा बढ़ने से इनके विघटन की गति तीव्र हो गयी। निरन्तर जल टपकने से मूर्तियां, चित्र, स्तम्भ, अलंकरण अदि विक्षत हो गये हैं।

---

१. २. ३. ४. दी बाघ केव्ज, पृ० ७-१२; बु०इ०मा०, पृ० ९३-९५.
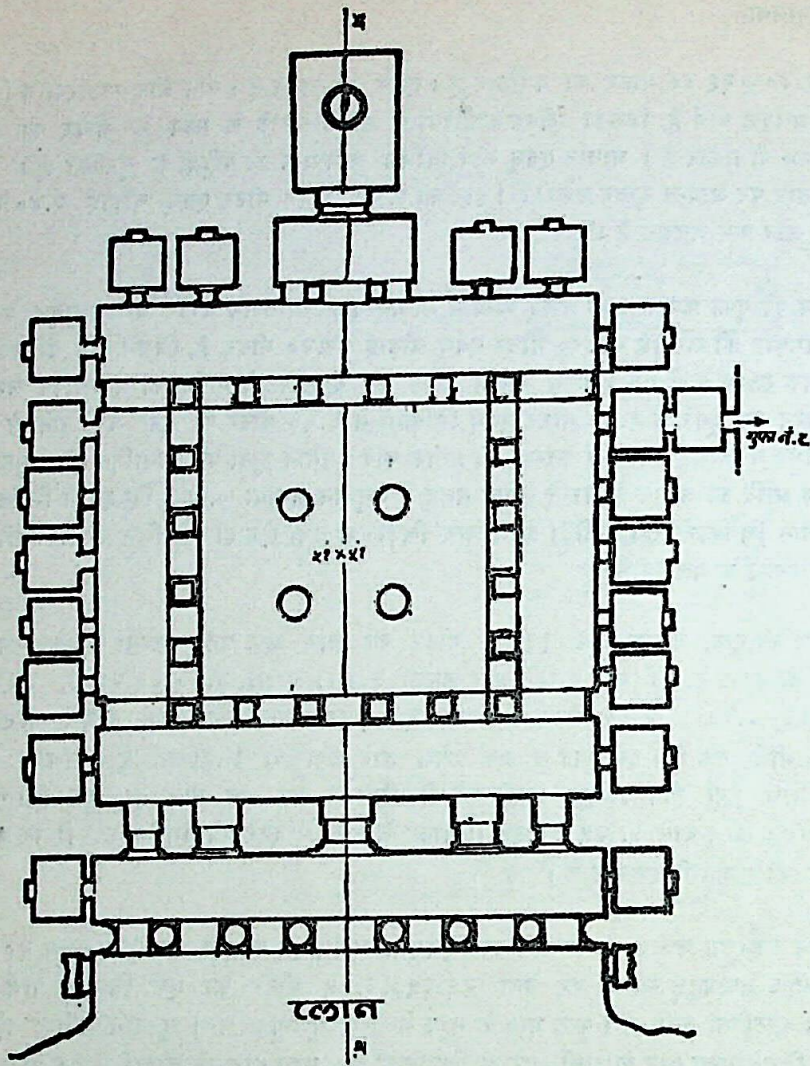
(११) बाघ गुफा नं. ७
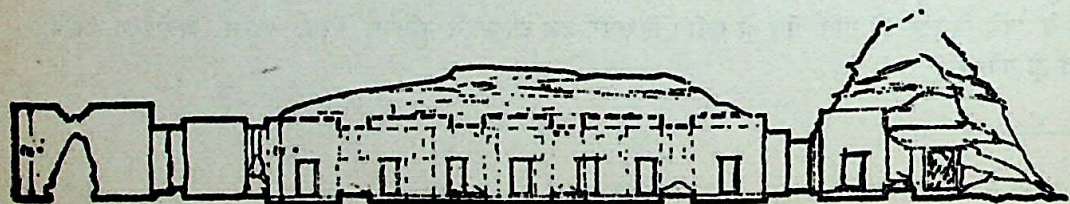
संक्शन अ. ब. आकृति ४.

(खरे कृत बाघ की गुफाओं से साभार)

घमनार :—

यहां लगभग ७० गुफाएं हैं, जिनमें अध्ययन की दृष्टि से १४ गुहाएं उल्लेखनीय हैं। घमनार का प्राचीन नाम संभवतः धर्मनाथ रहा होगा, किन्तु आजकल यह स्थान धर्मराजेश्वर के रूप में लोकप्रिय है। सरजान मार्शल इन गुहाओं का समय ८वीं शताब्दी बताते हैं,[1] जबकि उनके पूर्ववर्ती एलेक्जेन्डर कनिघम इन गुफाओं का निर्माण काल ५वीं से ७वीं शताब्दी के मध्य रखते हैं।[2] निम्नलिखित कारणों से हम मनोहरलाल दलाल[3] से सहमति रखते हुए इनका समय छठीं शताब्दी रखना चाहते हैं:—

(१) मन्दसौर जिले में खोलवी एवम् खेजड़िया भोप नामक स्थान पर जो गुफाएं हैं, उनका समय आठवीं और नवीं शताब्दी के बाद नहीं ले जाया जा सकता है। घमनार की गुफाएं कला और शिल्प की दृष्टि से इनसे काफी उन्नत होने से लगभग दो शताब्दी पूर्व की माननी होंगी।

(२) इन गुफाओं से ३ कि०मी० की दूरी पर स्थित चन्दवासा नामक ग्राम है। यहां उत्खनन से एक सील प्राप्त हुई है, जिस पर चन्दगिरि महाविहार अंकित है।[4] इससे ज्ञात होता है कि यह बौद्ध-भिक्षुओं का गढ़ और बौद्ध धर्म प्रचार का एक विशाल परिसर था। इतना घनीभूत बौद्ध धर्म मालवा में छठीं शताब्दी में ही संभव है। चन्दवासा की मृणमुद्रा की लिपि देखने पर वह छठीं शताब्दी की सिद्ध होती है।

(३) इन गुहाओं में जो स्तूप चैत्य आदि धार्मिक प्रतीक हैं, वे बाघ के धर्म अवशेषों का आभास देते हैं। इस कारण इन गुफाओं को बाघ की गुहाओं से एकाध शताब्दी से अधिक बाद में रखा नहीं जा सकता।

(४) घमनार की कुछ गुफाएं निश्चित ही उक्त सारे कथन का अपवाद मानी जा सकती हैं और सरलता से आठवीं शताब्दी की सिद्ध की जा सकती हैं क्योंकि वे स्पष्ट ही उनके उक्त उल्लिखित बौद्ध गुफाओं से पर्याप्त बाद में बनने का संकेत देती हैं।

निष्कर्ष में यह कहा जा सकता है कि घमनार की प्रमुख बौद्ध गुफाएं छठीं शताब्दी में बनना प्रारम्भ हो गयी होंगी। गुहा निर्माण का सिलसिला ८वीं शताब्दी तक अनवरत जारी रहा होगा। इसकी समाप्ति पर ही खेजड़िया, भोप, खोलवी और पोलाडोंगर के गुहा निर्माण हाथ में लिये गये होंगे।

घमनार के टिकाऊपन की कहानी भी बाघ से भिन्न नहीं है। यहां भी पत्थर कच्चा है अतः यह समकालीन कलाबोध को सुरक्षित नहीं रख सका। बाघ में प्रकृति की समयसिद्ध मार के साथ साथ गुहाओं को

---

१. आ० स० इ० (१९०५-०६), पृ० ११५.
२. क० आ० स० इ०, २, पृ० २७०-७६.
३. मा० क० स्था०. अ० ७ (घमनार).
४. इं० आ० रि० (१९६०-६१), पृ ६०.

बाघनी की बाढ़ के थपेड़े भी सहने पड़े हैं जबकि घमनार की गुहाएं बाढ़ की दृष्टि से सुरक्षित रह गयी हैं किन्तु अपने अस्तित्व को तेजी से विलुप्त करने की दिशा में विवश हैं। घमनार की गुफाओं में प्रमुख १४ गुफाएं हैं। इनमें भीमबाजार एवं बड़ी कचहरी की गुफाएं कला की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। कनिंघम ने इन पर विशेष टिप्पणी दी है।[1] भीमबाजार घमनार की सबसे बड़ी गुफा है जबकि बड़ी कहचरी एक बड़ा चैत्य कक्ष है। स्थापत्य की दृष्टि से घमनार की गुफाओं का जो कुछ विश्लेषण हो सकता है, वह इस प्रकार है :—

गुफा क्र० १ का पोर्च ६ मीटर लम्बा था। इससे लगे हुए दो कमरे चट्टानों से काटे गये थे, जिनका आकार २.४० × २.१० मीटर था। गुफा लगभग भग्न हो चुकी है।

गुफा क्र० २ स्थापत्य की दृष्टि से गुफा क्र० १ के समान ही है। इसका पोर्च ५.२५×३.०० मीटर का है। इससे संलग्न ३ कमरे हैं। दो कमरों का आकार २. ७०×२.२५ मीटर है।

गुफा क्र० ३ एक चैत्य कक्ष है। इसके मध्य में १.६५ मीटर व्यास का एक छोटा-सा स्तूप बना है। यह कक्ष ३.६० मीटर वर्गाकार है। चैत्य के आसपास जो भी भाग है वह प्रदक्षिणा पथ के रूप में प्रयुक्त होता था।

गुफा क्र० ४ एक चैत्य विहार है। चैत्य कक्ष की लम्बाई ६ मीटर व चौड़ाई ३.१५ मीटर थी। कक्ष का पिछला हिस्सा गोलाकार था। इस गोलाकार हिस्से के सामने एक छोटा-सा स्तूप बना हुआ है। गुफा अब एक भग्नावशेष है।

गुफा क्र० ६ बड़ी कचहरी नाम की गुफा है। यह गुफा एक बड़ा चैत्य कक्ष है। यह वर्गाकार है। इसके सामने रेलिंगों से घिरा हुआ एक स्तम्भ युक्त पोर्च है। मूल सभाकक्ष ६×६ मीटर का है जिसमें ४ स्तम्भ छत को आश्रय दिये हुए हैं। इसी के सामने स्तम्भयुक्त पोर्च हैं। इस पोर्च के दो स्तम्भ वर्गाकार हैं। अन्य भित्ति स्तम्भ भी हैं। पोर्च से सभागृह को जोड़ने वाला एक प्रवेश द्वार है, जिसके आसपास हवा के लिये दो खिड़कियां हैं। सभागृह से लगे हुए तीन वर्गाकार कमरे हैं, जिनकी लम्बाई २.१० मीटर है।

बड़ी कचहरी की गुफा का स्तूप आश्चर्यजनक रूप से दीर्घाकार है। यह ऊँचाई में ६.७५ मीटर है। उसके आधार पर लम्बाई ऊँचाई की अपेक्षा काफी कम है। गुफा क्रमांक ७ वस्तुतः २.४०×२.१० मीटर का एक छोटा कक्ष है। यह वास्तुकला की दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं है। गुफा क्रमांक ८ स्थानीय अनुश्रुति के अनुसार छोटी कचहरी कहलाती है। इसका वास्तु बड़ी कचहरी की भांति है। चैत्यगृह ७.०५×४.५० मीटर का है। इसके मध्य में २.८५ मीटर के वर्गाकार आधार पर ४.६५ मी० ऊंचा स्तूप बना हुआ है। इस चैत्य गुहा का पोर्च भी वर्गाकार स्वतंत्र स्तम्भों तथा भित्ति स्तम्भों से युक्त है। संबंधित दो कोठरियां अपूर्ण होने से प्रस्तुत अध्ययन में अधिक सहयोगी नहीं है।

गुफा क्रमांक ९ चैत्य युक्त विहार है। इस सादे निर्माण से संयुक्त चार कोठरियां हैं जिनमें तीन

---

१. क०आ०स० इ०, पूर्वोक्त.

कोठरियां २.४०×१.८० मीटर की हैं। चौथी कोठरी ३.३० मीटर लम्बी है। मुख्य चैत्य कक्ष में स्तूप काटा जाने को था। दुर्भाग्य से वह पूर्ण नहीं बन सका। गुफा क्रमांक १० विविध नामों से पुकारी जाती है। अनुश्रुतियों के आधार पर जेम्स टाड ने उसे राजलोक नाम दिया है जबकि कनिंघम के अनुसार यह रानी का मकान है। इस गुफा का सभागृह ७.५०×६.९० मीटर है। इसकी छत चार वर्गाकार स्तम्भों तथा दो भित्ति स्तम्भों के सहारे टिकी है। सभागृह के सामने एक पोर्च है। वास्तु की दृष्टि से यह गुफा बड़ी कचहरी से अभिन्न है।

गुफा क्रमांक ११ भीमबाजार नामक प्रसिद्ध गुफा है। भीम नाम से ही स्पष्ट है कि यह सबसे बड़ी गुफा है। यह एक सचैत्य विहार है। गुफा के चारों ओर खुला गलियारा है जिनमें तीन ओर गलियारों के पीछे भिक्षुओं के विहार के लिए कोठरियां निर्मित की गई थीं। इन कोठरियों में दो कोठरियां चैत्य के रूप में हैं। भीम बाजार की विशाल गुफा ३४.५०×२४.०० मीटर की थी। इसकी छत गुम्बद के आकार की थी। इस समय उस गुफा के केवल २७ मीटर के भाग सुरक्षित हैं। गुफा में १०.५०×४.०५ मीटर का विशाल चैत्यगृह है। इसके तीन ओर गलियारा है। यह गलियारा १.२० मीटर चौड़ा है। परन्तु पश्चिम और उत्तर में इसकी चौड़ाई १.८० मीटर से २.१० मीटर तक है। इस गुफा के स्तम्भ २.४० से २.७० मीटर तक ऊंचे वर्गाकार हैं। इनमें अधिकांश अपूर्ण हैं। प्रवेश द्वार के आसपास १.५० मीटर व्यास के दो छोटे छोटे स्तूप काट कर बनाये गये हैं।

विहार से संबंधित कोठरियां २.२५ मीटर की वर्गाकार हैं, किन्तु उत्तर की कोठरी ५.१०×३.९० मीटर की है। शायद यह प्रमुख भिक्षु का आवास होगा। गुफा के पूर्वी भाग में ४.६५×३.१५×३.०७ मीटर का चैत्य गृह है जिसमें बुद्ध की मूर्तियां भी उत्कीर्ण की गयी थीं।

गुफा क्रमांक १२ वास्तु की दृष्टि से सामान्य है और हाथी बघी के नाम से पुकारी जाती है। यह नाम इसलिये पड़ा होगा कि इसका प्रवेश द्वार ४.६५ मीटर ऊंचा और विशाल है। यह गुफा भी एक चैत्य है, जिसका आकार ८.१०×७.५० मीटर है। मध्य में ५.१० मीटर ऊंचा स्तूप है। गुफा की सपाट छत भित्ति स्तम्भों पर टिकी है।

कला की दृष्टि से छोटा बाजार नामक गुफा क्रमांक १३ विशेष उल्लेखनीय है। वस्तुतः यह गुफा कई छोटी गुफाओं का समूह है। इस गुफा का एक भाग भग्न हो चुका है। इसके कमरे ४.५० मीटर वर्गाकार हैं जिनकी छत वर्गाकार स्तंभों एवं भित्ति स्तम्भों पर टिकी है। पोर्च को पार करने पर ४.५० मीटर लम्बा आंगन है। इसी आंगन में ४.६५ मीटर ऊंचा स्तूप निर्मित किया गया था। इस गुफा में और भी स्तूप हैं। दूसरा स्तूप बायीं ओर स्थित कमरे में उत्कीर्ण है। मुख्य स्तूप से दाहिनी ओर तीन कोठरियां हैं। इनमें मध्य की कोठरी भी एक स्तूप है। गुफा की उत्तर की ओर ३×३ मीटर का एक देवालय है, जिसमें ३.४० मीटर ऊंची पद्मासन पर विराजमान बुद्ध मुर्ति कोरी गई है। वैसे मूर्तिकला की दृष्टि से धमनार की यह गुफा सर्वाधिक उल्लेखनीय रही है। मुख्य चौखट द्वार के पास दस मूर्तियां कोरी गयी थीं। देवालय के पीछे भी मूर्तियां काट कर बनाई गई थीं। अब ये मूर्तियां पत्थर के घिस या टूट जाने, या रिस जाने से लगभग विकृत और पहचानहीन हो गई हैं। फिर भी बुद्ध के जीवन से संबंधित कुछ दृश्य अपना स्पष्ट आभास हमें दे जाते हैं। एक बुद्ध मूर्ति धर्मचक्र मुद्रा में, दूसरी ध्यान मुद्रा में तथा अन्य एक विशाल शयन मूर्ति पदनिर्वान के दृश्य को साकार करती है।

गुफा क्रमांक १४ का पोर्च अति साधारण है। इस पोर्च से जुड़े हुए दो कमरे हैं।[1]

घमनार की गुफाएं निश्चित ही वास्तुकला की दृष्टि से बाघ की गुफाओं से भी पीछे हैं। अजन्ता की गुफाओं से उसकी तुलना करना तो दर-किनार रहा, एलोरा की १२ वीं और १३वीं शताब्दी की कला की दृष्टि से बुरी तरह स्खलित जैन गुफाओं से भी पीछे हैं। फिर भी इतना तो कहा जा सकता है कि यदि वे बाघ की गुफाओं से पीछे हैं, तो पोलाडोंगर, खेजड़ियाभोप और खोलवी की गुफाओं से श्रेष्ठ अवश्य हैं।

घमनार की गुफाएं विभिन्न बौद्ध मान्यताओं का मिश्रण प्रस्तुत करती हैं। ये गुफाएं जहां एक ओर चैत्य हैं, तो दूसरी ओर विहार भी हैं। कुछ गुफाओं से मूर्ति पूजा का भी संकेत मिलता है। अतः यह निर्णय लेने में सरलता होती है कि गुप्त और उत्तर-गुप्तकाल में जबकि पश्चिमी मालवा और औलिकर द्वारा प्रभावी रूप से शासित था, यहां हीनयान और महायान सम्प्रदाय साथ साथ अपना अस्तित्व बोध कराते रहे। किन्तु जनसहयोग के अभाव में वे सांची या बाघ का वैभव यहां नहीं दे पाये। अतः वास्तु एवम् मूर्तिकला की दृष्टि से ये गुफाएं सादी सपाट तथा स्तम्भ अलंकरण हीन रहीं।

इतना होने पर भी यहां के बौद्धों ने अपनी विशालता को नहीं छोड़ा। उदयगिरि की तुलना में ये गुफाएं काफी विशाल हैं। घमनार की गुफाओं की सबसे बड़ी विशेषता उनके सामने के पोर्च हैं। पोर्च यथा-संभव पार्श्वों में भी बनाये गये। दूसरी विशेषता यह है कि विहारों और चैत्यगृहों का युक्तियुक्त सामंजस्य इन गुफाओं में संभव हुआ है।

तीसरी विशेषता यह है कि प्रदक्षिणा पथ चैत्य के आसपास आधार पर दिया गया है। चौथी विशेषता यह है कि चैत्य की ऊँचाई उसकी लम्बाई एवम् चौड़ाई से अधिक है। पांचवी विशेषता यह है कि गुहा भित्तियों को कहीं कहीं अलंकृत किया गया है।

इन सब विशेषताओं का प्रभाव समकालीन अन्य धार्मिक वास्तु पर पड़ा होगा। औलिकरों द्वारा निर्मित मंदिरों में निश्चित ही इनसे प्रेरणा ली गयी होगी क्योंकि मन्दसौर जिले में तथा आसपास अनेक परमारकालीन मन्दिरों पर भी इन गुफाओं की छाया स्पष्ट है। अर्धमण्डप ने पोर्च का रूप ग्रहण कर लिया था। आधार से ही वास्तु के निर्माण में मन्दिरों की भूमिज शैली का विकास किया। मंदिरों के आसपास आवासगृह बनाने की कल्पना भी इन्हीं गुफाओं से मिली होगी। विशाल सभागृह की कल्पना को साकार किया होगा। ऊंचे चैत्यों ने शिखरों की परिकल्पना को निश्चित ही प्रोत्साहन दिया होगा। प्रवेश द्वार की भव्यता एवम् सजावट ने अन्तराल को भव्य बनाने की प्रेरणा दी होगी। आसपास पोर्च बनाने की पद्धति ने मंदिरों को त्रिस्कन्धीय अर्धमण्डप बनाने के लिए प्रेरित किया होगा।

इस प्रकार घमनार की गुफाओं ने कालान्तर में मालवा के मन्दिर शिल्प को जहां एक ओर परोक्ष प्रेरणा दी, वहीं उसने मन्दिर निर्माण प्रतिक्रिया को तेजी से उकसाया। इसी प्रकार उन्होंने गुहा निर्माण प्रक्रिया

---

१. मा०क०स्था०, अ० ७ (घमनार); बु०इ० मा०, पृ० ६३-६५.

को कलाबोध और सौंदर्यबोध से हीन बनाकर उनकी उद्देश्यहीनता को भी प्रकट किया। स्वयं धमनार में कई गुफाएं, चैत्य एवम् कक्ष तथा स्तम्भ अधूरे निर्मित हैं। पोलाडोंगर, खेजड़ियाभोप और खोलवी में यह प्रक्रिया और भी तेजी से बढ़ी। १०वीं-११वीं शताब्दी तक आते-आते भारत के कई अन्य भागों की भांति मालवा से भी गुहा निर्माण की परिसमाप्ति हो गयी।

बौद्ध-विहार :—गुप्तकाल में बौद्ध विहार के निर्माण की प्रक्रिया पूर्व की ही भांति जारी रही। सांची के पूर्वी क्षेत्र में संघाराम क्रमांक ४५ एक गुप्तकालीन मन्दिर के सहयोगी के रूप में अपने भग्नावशेष अभी भी प्रकट किये हुए हैं। मंदिर के उत्तरी और दक्षिणी पार्श्वों में तीन तीन कोठरियां थीं जिनके सामने स्तम्भों पर आश्रित बरामदे थे। लगता है ये किसी विहार के अवशेष होंगे।[1] निर्माण क्रमांक ४६ और ४७ संघाराम हैं। ये पूर्व-विद्यमान संघारामों के ध्वंसों पर बने हैं। इनका सबसे नीचे का फर्श गुप्तकालीन है। वर्तमान में जो संघाराम दिखाई देते हैं उनका निर्माण काफी बाद में किया गया।[2] सांची के दक्षिण क्षेत्र में स्थित ३६, ३७, और ३८वीं शताब्दी के आसपास की कृतियां हैं।[3] आकार में ये अन्य संघारामों के समान हैं। बीच में चौपहला आंगन, चारों ओर खम्बों वाले बरामदों से युक्त कोठरियां, आंगन में प्रवेश करने के लिए पार्श्वों की मध्यवर्ती कोठरी में से द्वार का निर्माण तथा द्वार के दोनों पार्श्वों में एक एक बुर्ज ठोस थे इनके वास्तु विन्यास हैं। निर्माण क्र० ३८ और ३९ भी संघाराम हैं। इनकी सीढ़ियों के अवशेषों से पता लगता है कि इन वास्तुओं में ऊपर मंजिले भी थीं। संघाराम क्रमांक ३८ मन्दिर क्रमांक ४० की पूर्वी दीवार के लगभग ३० मीटर पूर्व में चारदीवारी के दक्षिण पूर्वी कोने पर स्थित था। किसी प्राचीन वास्तु के ध्वंस पर बने हुए इस संघाराम के उत्तरी पार्श्व पर बीच वाली कोठरी में एक उत्तरकालीन ईंटों की दीवार का आरोप है।

संघाराम क्रमांक ३७, संघाराम क्रमांक ३८ के २७ मीटर पश्चिम में स्थित है। तीनों संघारामों में यह सबसे बाद का है। दूसरे दो की अपेक्षा इसका विन्यास अधिक उत्कृष्ट है। इसकी बाहरी दीवारें कुशकों वाली हैं। द्वार के पास बुर्जों के मध्य में पत्थर की एक बड़ी चौपहल शिला है। मध्यवर्ती चौतरे के कोनों में चार पत्थर के चौपहल ब्लाक हैं। इनके खंभों में चूलें ठोकने के लिए छेद बने हैं। इस संघाराम की एक अपनी विलक्षणता यह है कि इसके बाहरी कोनों पर चौपहल चौतरे बने हैं। संघाराम ३६, संघाराम ३७ के ३९ मीटर उत्तर में स्थित है। संघाराम क्रमांक ३६ अन्य संघारामों की अपेक्षा वास्तुकला की दृष्टि से अधिक प्राचीन है। इनके कोनों पर की कोठरियों में प्रवेश दूसरे दो संघारामों की तरह साथ की कोठरियों में से न होकर बाहर की ओर खुले रास्ते से हैं। दक्षिण-पश्चिमी कोने पर मार्ग के नीचे एक जमी दांस्त नाली पाई गयी थी। मध्यवर्ती चौपहल चौतरे पर चूने से मिश्रित ईंटों के कंकड़ की ३ इंच मोटी तह है।

विहार-कोटरा नामक ग्राम का नाम यहां के प्राचीन बौद्ध विहार के कारण पड़ा होगा। औलिकर प्रशासक नरवर्मन के अभिलेख द्वारा ४१७ ई० में यहां एक भिक्षु संघ के अस्तित्व की पुष्टि होती

---

१. मित्र देवला : सांची, पृ० ४४-४५.

२. वही, पृ० ८६

३. मा० सां०, पृ० ६९-७०, वही, पृ० ५०-५१.

है।[1] इसी प्रकार प्रभाकर के अभिलेख से दशपुर के निकट उसके सेनापति दत्त भट्ट द्वारा ४६७ ई० में लोकतर विहार में स्तूप, कूप, प्याऊ एवम् कुंज बनाने का उल्लेख है।[2] अब तक इस विहार के अवशेष नहीं मिल पाये हैं।

चीनी यात्री ह्वेन्त्सांग (६२९-६४५) जब उज्जैन पहुंचा था, तो उसने वहां ५० बौद्ध द्वार विहार देखे थे। दो-चार को छोड़कर ये प्रायः उजड़ गये थे। लगभग ३०० भिक्षु उज्जैन में उस समय रहते थे। राजा ब्राह्मण था। नगर से थोड़ी दूर पर एक स्तूप था। ह्वेन्त्सांग द्वारा देखे गये ये विहार जीर्ण अवस्था में थे, अतः स्पष्ट है कि उनका निर्माण कार्य पूर्व में हुआ होगा। इससे यह निष्कर्ष निकालना समीचीन है कि इन विहारों का निर्माण गुप्त-औलिकर काल में ही सम्पन्न हुआ होगा।

मन्दिर :—

महायान मत के तेजी से उदय के साथ ही बौद्ध धर्म में स्तूपों का आग्रह छूटने लगा और अपने आराध्य की प्रतिमा के लिए मन्दिरों की तीव्र आवश्यकता अनुभव की गयी। हीनयानी भी इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहे। उन्होंने विभिन्न गुहा-मन्दिरों और विहारों में चैत्यों की स्थापना करके अपने नये परिवेश से प्रभावित होने वाली धार्मिक आस्था का परिचय दिया। महायानी तो अपने बुद्ध और बोधिसत्व की प्रतिमाओं की पूजा करने को आकुल-व्याकुल थे। परिणामस्वरूप तेजी से मन्दिरों का निर्माण प्रारम्भ हो गया। निश्चित ही प्रारम्भिक मंदिरों का निर्माण गुहा मन्दिरों से वास्तु प्रेरणा पाता रहा। यह ठीक उसी प्रकार हुआ जैसा कि गुहा-मन्दिरों के निर्माताओं ने काष्ठ केन्द्रित शिल्प से प्रेरणा पायी थी।

इस दृष्टि से सांची का मन्दिर क्रमांक १७ विशेष उल्लेखनीय है जो अपनी सादगी और सपाट छत के कारण उदयगिरि की गुफा क्रमांक १ से सीधी प्रेरणा लेता हुआ दिखाई देता है। सांची का मन्दिर क्रमांक १७ मन्दिर क्रमांक १८ के उत्तर-पुर्वी कोने के पास एक छोटी पीठिका पर स्थित है। इस मन्दिर में गुप्त स्थापत्य के रचना सौष्ठव, समता, अनुपात, अलंकरण आदि वैशिष्ट्य पाये जाते हैं। मंदिर के केवल दो ही अंग हैं। एक है चिपटे छत वाला आयताकार गर्भगृह जो ३.८२।। मीटर लम्बा तथा ३।७२।। मीटर चौड़ा है। इस गर्भगृह के सामने एक अर्धमण्डप है जो चार खम्भों पर आश्रित है। ये स्तम्भ ३.९० मीटर ऊंचे हैं। अर्धमण्डप के खम्भे और दो स्तम्भ निम्नलिखित निर्देशों से बने हैं :—

(१) दण्डी जो मूल में चौपहल, मध्य में आठ पहल और ऊपर सोलह पहल हो जाती है।

(२) घण्टाकार कमल।

---

१. इ०इं०, ३६, पृ० १३०-३१.
२. वही, २७, पृ० १२-१८.
३. भिक्षु धर्मरक्षितः उज्जैन की बौद्ध परम्पराएं (उ०द०, १९८०), पृ० ५८-५९.

(३) कमल अलंकरणवाला गिरवा और चौकोर फलक जिस पर सिंह शीर्ष स्थित है। सिंह के शरीर आठ परन्तु सिर चार ही हैं।

(४) द्वार स्तूपों पर फूल-पत्ती अभिप्राय खड़ी पट्टियों में बने हैं। साथ ही घण्टाकार शीर्षकों और दण्डियों वाले दो अर्द्ध स्तम्भ भी हैं।

(५) मन्दिर में कोई मूर्ति नहीं है किन्तु काफी पूर्व में मेसी ने इस मंदिर में दो सिंहों पर आश्रित, कमलासन पर विराजमान और मध्ययुगीन लिपि में बौद्ध मंत्र से अंकित बुद्ध मूर्ति का अधोभाग देखा था।

सांची का मंदिर क्रमांक ९ भी इसी युग का है। इस मंदिर की केवल पीठिका ही मन्दिर १८ के उत्तर-पश्चिमी कोने के पास अव शेष है। यह पीठिका प्रस्तर निर्मित है। गर्भगृह के बाहर पोर्च बना था। वह भग्न हो चुका है। दो छोटे और दो बड़े भित्ति स्तम्भ अवश्य दिखाई देते हैं। बड़े भित्ति स्तम्भ २.०५ मीटर तथा छोटे १.३७।। मीटर ऊंचे हैं। ये स्तम्भ सादे किन्तु प्रभावपूर्ण हैं। इनके शीर्ष अलंकृत हैं।

स्तूप क्रमांक पांच के पूर्व में उससे बिलकुल निकट मंदिर क्रमांक ३१ है। यह खम्भों पर आश्रित चपटे छत वाला चतुर्भुज आकार का देवालय था। ऊंचे चबूतरे पर स्थित होने के कारण इस पर पहुंचने के लिये दक्षिण की ओर सीढ़ियों की श्रृंखला थी। मन्दिर के अन्दर जटिल अलंकरण करने वाले गोल प्रभामण्डल से शोभित दोहरी पंखुड़ियों वाले कमल पर आसीन बुद्ध की मूर्ति प्रतिष्ठित है। आरंभ में यह मन्दिर छठीं अथवा सातवीं शताब्दी में बना था। परन्तु दसवीं अथवा ग्यारहवीं शताब्दी में इसका व्यापक निर्माण हुआ।[1]

बौद्ध स्तम्भ :—

सांची में निर्माण क्रमांक २६, ३४ एवम् ३५ बौद्ध धर्म से सम्बंधित स्तम्भ हैं। ये स्तम्भ गुप्तकाल से संबंधित माने जाते हैं। स्तम्भ क्रमांक २६ नागोरी पत्थर का बना था। करीब ६.७५ मीटर ऊंचा था। यह स्तम्भ अशोक के स्तम्भ की एक घटिया नकल है। स्तम्भ निर्माण क्रमांक २५ के थोड़ी दूरी पर खड़ा है। यह टूटा हुआ है और इसके टुकड़े इस समय चौतरे के पास विद्यमान हैं। नीचे के भाग में चौपहल अधिष्ठान और गोल डंडी है। दूसरे भागों में शीर्ष है जिसमें घण्टाकार कमल केवल (समुद्री तार) अभिप्राय से मंडित ग्रीवा, अनुपात विहीन भद्दे पक्षियों और कमलों से उत्कीर्ण वृत्ताकार फलक, जुड़वां पीठों वाले चार सिंह एवं मुकुटाकार धर्मचक्र समाविष्ट हैं। अपने मूल स्थान पर स्थित स्तम्भ के ठूंठे पर उत्कीर्ण खंडित लेखों में रुद्र (सिंह) नामक किसी व्यक्ति के द्वारा वज्रपाणि स्तम्भ, तोरण द्वार के दो स्तम्भों, संघाराम के मंडप और एक तोरणद्वार के दान का उल्लेख है।

---

१. मा० सां०, पृ० ५६-५८; मित्र देवला : सांची, पृ० ४२-४३.

२. वही.

३. वही.

स्तम्भ क्रमांक ३५ भग्नावस्था में है जिसका ३.७० मीटर का टुकड़ा मिला है। स्तम्भ से ऊपर का १.१५ मीटर का भाग गोलाकार एवम् चिकना है, जबकि उसके नीचे का भाग वर्गाकार एवम् भद्दा है। स्तम्भ का ऊपरी गोलाकार भाग का व्यास नीचे ७७.५ से०मी० तथा शीर्ष ६७.५ से०मी० है। उस पर वज्रपाणि बोधिसत्व की मूर्ति बैठी थी। इसका घंटाकृतियुक्त स्तम्भ शीर्ष पर वर्गाकार चौकी है। इसमें प्रयुक्त पत्थर नागौरी है, जो सांची के गुप्तकालीन शिल्प की विशेषता है। स्तम्भ क्रमांक ३४ के टुकड़े हो चुके हैं। प्राप्त दो टुकड़ों में एक स्तम्भ के कुछ भाग घण्टाकृति सहित हैं तथा दूसरा सिंह युक्त चौकी का है।[1]

जैन : गुप्तकाल में मालवा में जैन मत प्रभावी रूप से अपना अस्तित्व बनाये हुए था, किन्तु उसका व्यापक प्रसार नहीं था। चौथी या पांचवी शताब्दी की तीर्थंकरों की तीन प्रस्तर प्रतिमाएं विदिशा क्षेत्र से प्राप्त हुई हैं। उनके पाद लेख से ज्ञात होता है कि उनका निर्माण महाराजधिराज रामगुप्त ने करवाया था। संभवतः ब्राह्मण धर्म के मानने वाले रामगुप्त ने जैन साधु चैलुश्रमण के उपदेशों के कारण ऐसा किया हो।[2]

वास्तुकला की दृष्टि से जैन धर्म के अस्तित्व का सबसे प्रबल प्रमाण उदयगिरि की गुफा क्रमांक २० है। इस गुहा से संबंधित जो अभिलेख माना गया है, उससे ज्ञात होता है कि इसमें सन् ४२५-२५ ई० ईस्वी में साधु गोश्रमण के शिष्य शंकर ने तीर्थंकर पारसनाथ की प्रतिमा की स्थापना करवायी थी।[3] विदिशा के साथ साथ उज्जयिनी भी जैन धर्म का एक प्रमुख केन्द्र रहा होगा क्योंकि महान जैन आचार्य सिद्धसेन दिवाकर का कार्यकाल यही समय माना जाता है।[4]

उदयगिरि की जैन गुफाएं :—

उदयगिरि की दो गुफाओं को जैन मत से संबंधित माना गया है।[5] ऐसी संभावना प्रकट की गई है कि यहां की गुफा क्र० १ (जिसका वर्णन आगे किया जावेगा) जैन मत से संबंधित थी। किन्तु यह केवल कतिपय उन जैन विद्वानों की ही धारणा है जो यहां की खण्डित प्रतिमा को किसी जैन तीर्थंकर की प्रतिमा मानते हैं। उदयगिरि की गुहा क्रमांक २० निश्चित ही एक जैन गुहा है। यह कुमारगुप्त के शासनकाल में निर्मित हुई थी। लेकिन गुहा अभिलेख में कुमारगुप्त का उल्लेख नहीं है। गुफा क्रमांक २० पूर्व से पश्चिम १५ मीटर लम्बी तथा ८.४० मीटर चौड़ी है। इस गुफा को अनगढ़ पथरों की दीवारों द्वारा पांच कमरों में विभक्त किया गया है : इनमें तीन कमरे १४.२०×३.३० मीटर हैं तथा दो उनसे कुछ बड़े हैं। दक्षिण के कमरे के पास गुफा का एक विस्तृत भाग और खोदकर पत्थर के ओर अनगढ़ ढोकों की दीवारों द्वारा तीन कमरे और जोड़े गये हैं, जिनका वास्तुशिल्प की दृष्टि से अधिक महत्व नहीं है। गुफा के प्रवेश द्वार के दोनों ओर दो-दो मूर्तियां कोरी गई हैं। गुफा के अन्दर पार्श्वनाथ की प्रतिमा उत्कीर्ण की गई थी। इसका आभास अभी

---

१. बु०इ०मा०, पृष्ठ ९१-९२; मा०सा०, पृ० ४९-५२.
२. वही.
३. जर्नल आफ दी ओरियण्टल इंस्टीच्यूट, बड़ौदा, १८, पृ० २४७.
४. का०इं०इं०, ३, क्र० ६१.
५. मा०थ्रू०ए०पृ, २७९-८०.
६. पाटिल डी० आर०: दी मान्यूमेण्ट्स आफ दी उदयगिरि हिल (वि०द्दा०). पृ० ३८५-८६.

भी स्पष्ट दिखाई देने वाले सर्पफण से होता है।[1]

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि जैन स्थापत्य की दृष्टि से पूरे गुप्त-औलिकर काल में उदयगिरि की इस गुफा को छोड़कर और कोई महत्वपूर्ण उपलब्धि मालवा में दृष्टव्य नहीं है। जहां तक वास्तुकला का प्रश्न है, उदयगिरि की अन्य ब्राह्मण गुफाओं की तुलना में यह बहुत पीछे है।

ब्राह्मण धर्म :—

ब्राह्मण धर्म का अध्ययन प्रमुख रूप से शैव एवम् वैष्णव धर्म के आधार पर करना समीचीन है।

शैवमत : मालवा में इन दिनों ब्राह्मण धर्म का तेजी से विकास हो रहा था। एक ओर तो गुप्त राजा भारत के एक बड़े क्षेत्र में ब्राह्मण धर्म की दुंदुभी बजा रहे थे, वही दूसरी ओर मालवा के औलिकर नरेश भी इस दिशा में पीछे नहीं थे। इतना होने पर भी दोनों ही वंश अन्य धर्मों के प्रति उदार नहीं थे। वे अन्य धर्मों के निर्माण कार्य में व्यवधान उपस्थित नहीं कर रहे थे।

कालिदास के वर्णन से ज्ञात होता है कि मालवा में शैवमत पर्याप्त शक्तिशाली था। महाकाल का मंदिर अपने पूर्ण वैभव पर था।[2] उज्जैन और मन्दसौर के बीच चंडेश्वर का दर्शनीय मन्दिर था।[3] कई पुराणों में, जिसमें प्रमुख रूप से स्कन्दपुराण है, उज्जैन का जो वर्णन किया है उनसे ज्ञात होता है कि उज्जैन शैवमत का एक प्रमुख केन्द्र था। वहां शिव मूर्तियां, अनेक शिवलिंग एवम् शैवधर्म से संबंधित देवालय थे।[4]

मन्दसौर में भी औलिकरों की छत्रछाया में शैवधर्म भरपूर प्रचार प्रसार पा रहा था। औलिकरों के समय की दो शैव प्रतिमाएं, जो अन्यत्र दुर्लभ हैं, मन्दसौर से प्राप्त हुई हैं। एक है अष्टमुखी शिव की एक पर्याप्त आकर्षक प्रतिमा तथा दूसरी है एक विशाल शिवलिंग जिस पर कई सौ छोटे छोटे शिवलिंग उत्कीर्ण हैं।[5] इसी प्रकार विदिशा, तुमेन एवं बड़ोह से जो शिव मूर्तियां प्राप्त हुई हैं, वे गुप्त औलिकर काल में शैव धर्म के प्रभाव पर काफी प्रकाश डालती हैं।[6]

---

१. पाटिल डी०आर० : दी मान्यूमेण्ट्स आफ दी उदयगिरि हिल (वि० व्हा०), पृ० ३९६.
२. पूर्व मेघ, ३३-३४.
३. उक्त.
४. विशेषतः स्कन्दपुराण का अवंती-खंड (५।२७) दृष्टव्य है जिसमें अनेक शिवलिंगों, जिनमें ८४ ईश्वर, अष्ट भैरव, एकादश रुद्र, पट्-गुह्यलिंग तथा अनेक सिद्ध एवं योग लिंगों का उल्लेख है। इसी प्रकार क्षेत्राधिपति ज्योतिर्लिंग महाकालेश्वर एवं चार द्वाराधिपति ईश्वरों का भी उल्लेख है।
५. द्विवेदी द्वय: म० मा० इ०. पृ ६३०, वि० स्मृ० ग्र०, पृ० ६९८ (इस प्रतिमा को पशुपतिनाथ कहा गया है) यह लिंग प्रतिमा अभी ही मिली है, जो पशुपतिनाथ मंदिर—प्रांगण मे स्थित है।
६. वि० स्मृ० ग्र०, ६९९.

उदयगिरि की शैव गुफाएं : उदयगिरि की गुफा क्रमांक ६ का निर्माण गुप्त संवत् ८२ (४०१ ई०) में महाराज सनकानीक द्वारा करवाया गया था। यह तथ्य इस गुफा के अभिलेख से ज्ञात होता है।[1]

यह गुफा ४.२०×३.७५ मीटर का कमरा है, परन्तु उसका बरामदा विशाल है। इसका प्रवेश द्वार अत्यन्त अलंकृत है। प्रवेश द्वार का पुष्पलता का अलंकरण है। द्वार के पास के दोनों ओर भित्ति स्तम्भ खोदे गये हैं जिनके घण्टाकृति शीर्षक पर वृक्ष एवम् आसपास बैठे सिंह उत्कीर्ण हैं। द्वार के दोनों ओर मकर पर आरूढ़ गंगा हैं। गुफा के बाहर द्वार के बाएं दो मूर्तियां द्वारपाल एवम् विष्णु की तथा दाहिनी ओर तीन मूर्तियां द्वारपाल, विष्णु एवम् महिषमर्दिनी की कोरी गई हैं। बरामदे की दक्षिण दीवार पर गणेश की मूर्ति उत्कीर्ण है। गुफा का भीतरी भाग सादा है। बीच में चट्टान में कटा छेदयुक्त छोटा चबूतरा है जिसमें शिवलिंग रहा होगा। इस गुफा के दाहिने अष्टशक्तियों की मूर्तियों से युक्त २.५५ मीटर लम्बी एवम् ९० से०मी० गहरी एक खुली गुफा है। वास्तुकला की दृष्टि से उसका महत्त्व नहीं है।[2]

गुफा क्रमांक ७ को वर्गाकार आधार वाले अर्ध गोलाकार स्तूप के समान काटा गया है। इसमें प्रवेश द्वार के बाद ४.१५×३.५२॥ मीटर का खुदा भाग है। दूसरी पिछली दीवार के अभिलेख से इसका चन्द्र गुप्त द्वितीय के महासंधि-विग्रहिक शम्बवीरसेन द्वारा बनाए जाने का उल्लेख है। इसका द्वार चट्टानों में भद्दा कटा है। उस पर कोई अलंकरण नहीं है परन्तु उसके दोनों ओर गुफा क्रमांक ६ के समान द्वारपाल कोरे गये हैं। गुफा का आन्तरिक भाग सादा है परन्तु छत पर १.३५ मीटर व्यास का कमल का विशाल पुष्प उकेरा गया है। गुफा के मध्य स्थित चट्टान में कटे चबूतरे से भी यह शिव से संबंधित गुफा विदित होती हैं।[3]

गुफा क्रमांक १७ एक ३.२५×३.०० मी० का गर्भगृह है। इसके मध्य में एक चट्टान में कटा हुआ छोटा चबूतरा, है जिस पर शिवलिंग स्थापित है। इस गुफा के प्रवेश द्वार का चौखट अत्यन्त अलंकृत था। अब इसके अलंकरण मौसम के कारण खराब हो गये हैं। फिर भी दोनों ओर चौखट को सहारा देती हुई गुफा क्रमांक ६ के समान नदी-देवियां हैं। गुफा के द्वार के दोनों ओर द्वारपाल की विक्षत मूर्तियां तथा द्वार के दाहिने दीवार में कटे ताक में गणेश एवं बाए महिषमर्दिनी की मूर्तियां हैं। गुफा के प्रवेश द्वार पर बनी नन्दी कीं मूर्ति भग्नावस्था में है।[4]

गुहा क्रमांक १९ को अमृत गुहा कहा जाता है, क्योंकि इसमें अमृत मंथन का दृश्य उत्कीर्ण है। यह गुफा ६.६० मीटर लम्बी एवं ५.८० मीटर चौड़ी है। गुफा की छत ०.४७॥ से०मी के ४ वर्गाकार २.४० मीटर ऊंचे स्तम्भों पर टिकी है। स्तंभ शीर्ष एवं गुहा का प्रवेश द्वार अलंकृत हैं। गुफा क्र० १९ के सामने एक बरामदा था। यह तीन ओर से खुला आकार में १०×८.१० मी० का, एवम् स्तंभों पर आश्रित था। कालान्तर में इसके टूट जाने से वहां एक नया कक्ष बना दिया गया था। इस

---

१. का० इ० ई० पृ० २१-२५.
२. वि० व्हा०, पृ० ३८९-९०.
३. वही, पृ० ३९०-९१.
४. वही, पृ० ३९२-९३.

बरामदेनुमा गुफा में एकमुखी शिवलिंग था। यह अब यद्यपि अन्यत्र जीर्ण-शीर्ण स्थिति में है किन्तु अभी भी इसकी पूजा होती है।[1]

वैष्णव स्थापत्यः—

मालवा के गुप्त औलिकर काल में वैष्णव मत बहुत तेजी से पनपा। वैसे गुप्त काल के काफी पूर्व ही शुंग-सातवाहन-शक काल में वैष्णव धर्म प्रगति के आयाम गिन रहा था। यह तथ्य बेसनगर के हेलियोडोर के स्तम्भ-लेख से एवम् अभी हाल में ही अंवला से प्राप्त एक अन्य स्तम्भ लेख[2] से ज्ञात होता है। विभिन्न साहित्यिक एवम् पुरातत्वीय प्रमाणों से ज्ञात होता है कि गुप्त-औलिकर काल में दशपुर, गंगधार, उज्जैन विदिशा, ऐरण आदि स्थान वैष्णव मत के गढ़ बने हुए थे। आज भी इनमें से कई स्थानों पर बिखरी पुरातत्वीय सामग्री अपनी गाथा स्वयं कहती है।[3]

गुप्तकालीन वैष्णव गुहा मन्दिर :—

उदयगिरि की गुफ़ा क्रमांक १, २.१०×१.८० मीटर का छोटा कमरा है। इसको तीन ओर से चट्टान काटकर बनाया गया है। इसका मुख्य भाग एवम् एक बाजू पाषाण खण्डों से निर्मित है। इसकी छत प्राकृतिक चट्टान में सपाट काटी गई है जो सम्पूर्ण मन्दिर को ढके हुए है। इस गुफा के सामने चार स्तंभों पर २.१०×२.१० मीटर का पोर्च है, जिसमे तीन प्रवेश स्थल हैं। मध्य का प्रवेश भाग ९० से० मी० चौड़ा है। परन्तु बाजू के दो स्तम्भों के बीच ३० से० मी० का सकड़ा हिस्सा छूटा है। सामने के स्तम्भ सादे अलंकरण युक्त हैं। इनका निचला हिस्सा वर्गाकार है। इसके ऊपर का भाग अष्ट-पहलू तथा सबसे ऊपर का षोडष पहलू है। इस गुफा का प्रवेश द्वार सादा है। उसके दोनों ओर भित्ति स्तम्भ हैं, जिन पर सामने के स्तम्भों के समान ही सादा अलंकरण है। गुफा का आन्तरिक भाग भी सादा है, केवल सामने की दीवार पर एक मूर्ति उकेरी गई है, जिसे पहचानना कठिन है।[4]

इस अपहचान का लाभ लेते हुए कतिपय जैन विद्वानों द्वारा यह धारणा प्रकट की गई है कि यह एक जैन गुफा है। किन्तु निम्न आधारों पर इस धारणा को असिद्ध किया जा सकता है :—

(१) मूर्ति के अतिरिक्त इस गुफा में जैन धर्म से संबंधित अन्य कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

(२) गुफा की मूर्ति इतनी विखंडित है कि उसके आधार पर उसे जैन सिद्ध करना कठिन है।

(३) समकालीन जैन मूर्तियों के पाद-पीठ में आवश्यक रूप से अभिलेख होता है। यह तथ्य गुहा. क्रमांक २० एवम् विदिशा क्षेत्र मे रामगुप्त के समय की तीन मूर्तियों से प्रमाणित

---

१. वि० व्हा०, पृ० ३९४-९५; मा० क० स्था० अ० ७, (गुफाऐं).
२. मा० ग्रू० ए०, पृ० २०६.
३. वि० स्मृ० ग्रन्थ, पृ० ६९४-६९८.
४. वि० व्हा०, पृ० ३८५-८६.

होता है। मूर्ति के पाद-पीठ में अभिलेख के अभाव में इस गुफा को जैन नहीं कहा जा सकता।

(४) यह गुफा उदयगिरि की निश्चत ही सबसे प्रारंभिक गुफाओं में से एक मानी गई है। उदयगिरि की निश्चित ही सबसे प्रारंभिक गुफाएं वैष्णव मत से संबंधित हैं। इस आधार पर इस गुफा को वैष्णव गुफा मानना उचित होगा। यदि इसे वैष्णव न भी माना जाय, तो भी यह जैन गुफा तो निश्चित ही नहीं है।

गुफा क्रमांक ५ उदयगिरि की एक साधारण गुफा है और स्थापत्य की दृष्टि से अधिक महत्व नहीं रखती। यह गुफा ६.६० मीटर लम्बी तथा ३.८० मीटर चौड़ी है। स्थापत्य की दृष्टि से अधिक वैभवशाली न होने पर भी यह गुफा भारतीय कला के इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है।[१] इसका कारण यह है कि यहां एक चट्टान पर एक विशाल वराह अवतार का दृश्य उत्कीर्ण है। इस दृश्य ने सारे स्थापत्य की कमी को न केवल दूर किया है किन्तु एक चट्टान पर ही दिव्य लोकों से लगाकर पाताल तक के दृश्य इतने मनोहारी रूप में अंकित किये हैं कि वे सारीस्थापत्य सृष्टि का एक अंग बन जाते हैं। वराह की प्रतिमा एक विशाल भाव-बोध लिये एक महामल्ल सी प्रतिमा है जो निश्चित ही सारे परिवेश को भव्य बना देती है। इस तरह इस गुफा को भारत के कला जगत ने अत्यधिक प्रतिष्ठा दी है।

वराह की इस विशाल प्रतिमा से हमें प्रथम बार एक वैष्णव गुफा के दर्शन भारत में होते हैं। वराह विष्णु का अवतार माना गया है। समुद्र से निकलने का दृश्य बड़ा प्रभावी है। वराह की डाढ़ों में स्त्री रूप धारण किये हुए पृथ्वी दिखाई देती है, जिसका अर्थ यह हुआ कि दैत्य हिरण्याक्ष को वराह भगवान ने समाप्त कर दिया है। वे शुभत्व और साधुत्व की रक्षा के लिए अवतीर्ण हो गये हैं। हर लोक के प्राणी भय और श्रद्धा से प्रणत होते दिखाई देते हैं। इसी गुफा में वराह के उत्कीर्ण के साथ साथ गंगा और यमुना के अवतरण के दृश्य भी हैं। प्रच्छन्न रूप से वराह की कल्पना भागवतमतावलम्बी गुप्त साम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय को महत्ता प्रदान करने के लिए की गई प्रतीत होती है, जिसने विदेशी शक आक्रांताओं से भारतीय भूमि को मुक्त करने का बीड़ा उठाया था। शेषनाग का दर्प दमन करते हुए जो अंकन हुआ है, वह इन संभावनाओं को भी व्यक्त करता है कि गुप्त सम्राट ने विदिशा क्षेत्र का बहुत सा भाग नाग राजाओं से भी छीना होगा।[२]

गुहा क्रमांक ६ एक साधारण गुफा है। इस गुफा का वर्णन शैव स्थापत्य के साथ किया जा चुका है। इस गुफा के प्रवेश द्वार के आसपास की दो विष्णु मूर्तियां वासुदेव स्थानक मूर्ति के रूप में खड़ी मुद्रा में हैं। प्रवेश द्वार के दाहिने ओर की मूर्ति से बायीं ओर की मूर्ति कुछ छोटी है। इसके हाथ में गदा है। चक्र निकट ही किसी आधार पर उत्कीर्ण है। बायीं ओर की प्रतिमा अपेक्षाकृत बड़ी है और उसके दोनों ओर अनुचर उत्कीर्ण हैं। पहिचान के लिए केवल चक्र ही अवशेष रह गया है। दोनों ही प्रतिमाएं चतुर्हस्त हैं। इसी गुफा में महिषासुरमर्दिनी का एक आकर्षक उत्कीरण भी है। गणेश की एक प्रतिमा भी उत्कीर्ण है। अतः यह गुफा शैव और वैष्णव धर्मों के गुप्तकालीन सामंजस्य का एक उल्लेखनीय प्रतीक बन गई है। उदयगिरि की अन्य किसी गुफा में दोनों मतों के बीच इतना सौहार्द्यपूर्ण सांमजस्य दिखाई नहीं देता है। गुफा के भीतर

---

१. वि० ब्हा, पृ० ३८९.

२. वि० स्मृ ग्र०, पृ ६६६, म० भा० इ०, पृ० ६०३ से ६०४.

गणेश एवम् महिपासुरमर्दिनी का उत्कीरण तथा प्रवेश द्वार के आस-पास विष्णु का उत्कीरण वैष्णव धर्म पर थोड़ी बहुत शैव श्रेष्ठता का प्रमाण भी देता है।[1]

गुहा क्रमांक ७ एक छोटी-सी कोठरीनुमां जीर्ण गुफा है। स्थापत्य की दृष्टि से अधिक महत्व नहीं रखती। वर्गाकार आधार वाली इस गुफा में प्रवेश द्वार के बाद ४.१५×३.५७।। मीटर का एक खुला भाग है। पिछली दीवार के अभिलेख से ज्ञात होता है कि इसे चन्द्रगुप्त द्वितीय के महासंधि-विग्रहिक शाम्ब वीरसेन ने बनवाया था। गुफा का प्रवेश द्वार अलंकरणहीन और भद्दा है। गुफा क्रमांक ६ की भांति इसके आसपास भी द्वारपाल कोरे गये थे। इस आधार पर इसे भी कुछ विद्वानों ने गुफा क्रमांक ६ की भांति शैव-वैष्णव सामंजस्य का प्रतीक बताया है। अधिक संभावना शैव धर्म के पक्ष में होने से इसका वर्णन शैव गुफाओं के अन्तर्गत ही किया गया है।[2]

गुफा क्रमांक ९ एक छोटी सी आयताकार कोठरीनुमा गुफा है। इसकी पिछली दीवार पर एक विष्णु की मूर्ति अंकित होने से इसे एक वैष्णव गुफा माना जा सकता है। वैष्णव प्रतिमा का सिर टूट चुका है। गुफा क्र० ६ की भांति यह विष्णु प्रतिमा भी चतुर्हस्त है। इस गुफा की लम्बाई १.१० मीटर और चौड़ाई १ मीटर है।[3]

गुफा क्रमांक १० की लम्बाई ८५ से०मी० और चौड़ाई ८० से० मी० है। यह छोटी कोठरीनुमा गुफा बड़े भद्दे ढंग से काटकर बनाई गई है। इसमें भी गुफा कमांक ९ की भांति एक विष्णु प्रतिमा उत्कीर्ण की गई थी।[4]

गुफा क्रमांक ११ भी एक छोटी आयताकार गुफा है। इसकी लम्बाई १ मीटर और चौड़ाई ९७.५ से०मी० है। इसमें भी एक विष्णु मूर्ति है।[5]

गुफा क्रमांक १२ भी एक छोटी-सी गुफा है, जो खुली हुई है। इसके भीतर एक ताक में एक देवता की प्रतिमा उत्कीर्ण की गई है; वह यद्यपि अपहिचान का विषय है किन्तु उसके आसपास द्वारपाल होने तथा निकटस्थ अन्य गुफाओं के सदृश्य होने के कारण इसे भी वैष्णव गुफा माना जा सकता है।[6]*

---

१. वि० व्हा० पृ० ३८९-३९१, ४०९-४१२.
२. वही, पृ० ३९१-९२, ४१३.
३. वही, पृ० ३९२, ४१३.
४. वही, पृ० ३९२, ४१३.
५. वही, पृ० ३९३, ४१३.
६. वही, पृ० ३९३, ४१३.

* उदयगिरि से संबंधित उल्लिखित विवरण हेतु साक्ष के लिये निम्नलिखित सामग्री विशेषतः दृष्टव्य है :—

डी० आर० पाटिलः दी मान्युमेण्ट्स आफ उदयगिरि हिल (विक्रम व्हाल्यूम), पृ० ३८९-३९४.

कनिंघम ए : मेमोयर्स आफ दी आर्केलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, क्र० १६२, मा० क० स्था०, अध्याय ७. (शीर्षक—गुफाएं)

गुफा क्रमांक १३ एक दीर्घ, गलियारानुमा गुफा है तथा छत विहीन है। स्थापत्य की दृष्टि से वह निश्चित ही अधिक महत्व की नहीं है, किन्तु गुफा क्रमांक ५ की भांति कला की दृष्टि से महत्व की है। इस गुफा में ३.६० मी० लम्बी शेषाशायी विष्णु की एक प्रतिमा उत्कीर्ण है। विष्णु शेषशैया पर अपने एक हाथ का तकिया बनाकर सोये हैं। पास में गरुड़ की प्रतिमा है। आठ अन्य प्रतिमाएं भी पास में हैं, जिन्हें पहिचानना अब कठिन-सा है। कुछ अनुचरों की प्रतिमाएं भी उत्कीर्ण हैं। संभव है कि यहां उत्कीर्ण प्रतिमाओं में ब्रह्मा, लक्ष्मी तथा अन्य दिव्य एवम् लौकिक शक्तियां रही होंगी। सारा अंकन इतना जीर्ण-शीर्ण हो गया है कि निर्णायक रूप से कुछ भी कहना संभव नही है। शेषशायी विष्णु की प्रतिमा मूर्तिकला की दृष्टि से एक श्रेष्ट गुप्तकालीन कृति है जो अब समय की कराल बाहों में समेटी जा चुकी है। फिर भी इसने गुहा क्रमांक १३ को अत्यधिक महत्ता प्रदान की है।[1]

उदयगिरि की अन्य गुफाएं :— उदयगिरि की कुछ ऐसी गुफाएं हैं जिनके बारे में यह कहना संभव नहीं है कि वे किस मत से संबंधित हैं अथवा रही थीं। इनका स्थापत्य कला की दृष्टि से निश्चित ही महत्वपूर्ण है। गुफा क्र० २ २.३७॥ मीटर लम्बी व १.८४। मीटर चौड़ी है। यह बिलकुल भूमि के सतह पर भी लगी हुई है।[2] परमार काल में मालवा में भूहिज मंदिरों के बनाये जाने की परम्परा थी। संभव है, यह गुफा इस शैली का पूर्व रूप रही हो। इस गुफा का प्रवेश एक भद्दे कटाव के द्वारा बनाया गया है। समय और मौसम के थपेड़ों ने गुफा को अध्ययन की दृष्टि से महत्वहीन बना दिया है। इस कारण यह कहना बड़ा कठिन है कि इस गुफा का संबंध किस मत से था। फिर भी अन्य गुफाओं से तुलना करने पर इसे एक ब्राह्मण गुफा मानना उचित होगा। इसी प्रकार की स्थिति गुहा क्रमांक ३ की है। यह २.४० मीटर लम्बी और १.८५ मीटर चौड़ी कोठरीनुमा गुफा पूर्ण रूप से निर्मित नहीं हो पायी। इस गुफा के सामने एक पोर्च रहा होगा। गुफा सादी और भद्दी है। धार्मिक एवम् कलात्मक दृष्टि से इसे गुफा क्रमांक २ के तुल्य माना जा सकता है।[3] गुफा क्रमांक ८ आकार में ३.२५ मीटर लम्बी और ०.७० से०मी० दाहिनी ओर से और १.४० मीटर बाईं ओर से चौड़ी है। इस गुफा में ऐसा कोई अभिलेख या प्रतिमा नहीं है जिससे इसकी सांस्कृतिक पहिचान की जा सके।[4] आसपास की सारी गुफाएं वैष्णव मत से संबंधित होने से इसका संबंध भी उसी मत से होने की संभावना को निरस्त नहीं किया जा सकता। गुहा क्रमांक १४, २.१०×२.१० मीटर की तथा गुहा क्रमांक १५, १.२०×१.२० मीटर की वर्गाकार कोठरियां हैं। दोनों ही गुफाएं अनाकर्षक एवम् सादी हैं और उन्हें भी क्रमांक ८ जैसा ही माना जा सकता है।[5]

यही स्थिति गुफा क्रमांक १६ की भी है जो २.०२॥ मी० लम्बी एक वर्गाकार गुफा है। गुहा के बीचोबीच एक छेद होने से इसमें शिवलिंग की स्थापना को निरस्त नहीं किया जा सकता। गुफा का प्रवेश द्वार स्तम्भयुक्त कटाव है, किन्तु वह नितांत अलंकरणहीन है।[6] गुहा क्रमांक १८ एक आयताकार गुफा है।

---

१. वि० व्हा, पृ० ३९३, ४१४-५१५.
२. वही, पृ० ३८६.
३. वही, पृ० ३८६-८७.
४. वही, पृ० ३९२.
५. वही, पृ ३९३.
६. वही.

इसकी लम्बाई २.७० मीटर और चौड़ाई २.१० मीटर है। मूलरूप से यह एक ओर से खुली हुई थी, किन्तु कालान्तर में दो विभिन्न शिलाखन्डों से इसे ढंक कर ०.३० से०मी चौड़ा एक रास्ता रख दिया गया।[१]

गुप्तकालीन ब्राह्मण मन्दिर :—

अनेक पुरातत्वीय, कलात्मक एवम् साहित्यक साक्ष (प्रमाण) मालवा के अनेक स्थलों पर गुप्तकाल में ब्राह्मण धर्मों से संबंधित मन्दिरों की विद्यमानता के द्योतक हैं।

(१) पुरातत्वीय प्रमाण : ऐरण में ज्ञात गुप्तकालीन विष्णु एवम् वराह के मन्दिरों की वास्तु योजना चतुष्कोण रही होगी, ऐसा प्राप्त अवशेषों से प्रकट होता है। मन्दिर के बाहर स्तम्भों पर पोर्च टिका हुआ था। मन्दिर की छत संभवतः सपाट थी। चारों स्तम्भों के बीच में दो स्तम्भ पास के स्तम्भों से बड़े हैं। इन मन्दिरों की दीवारें सादीं थीं, परन्तु स्तम्भों एवम् प्रवेश द्वार के चौखटे पर सुन्दर अलंकरण कोरे गये थे। सांची के मन्दिर के स्तम्भों के शीर्ष की घंटाकृति का अंकन सादा था। अलबत्ता ऐरणा के मन्दिरों के घण्टाकृतिमय स्तम्भ शीर्ष सुन्दर अलंकरणों से युक्त हैं।[२] स्तम्भ शीर्षों के एबैक्स की सतह के मोड़ प्रभावोत्पादक हैं। इस प्रकार के एबैक्स सांची में नहीं हैं, बल्कि तिगवां के गुप्तकालीन मन्दिर के स्तम्भों में दृष्टव्य हैं।[३]

उदयगिरि पर एक गुप्तकालीन मन्दिर के अवशेष ज्ञात हुए थे। इस मंदिर के शिखर के अंश नहीं मिले हैं, अतएव यह सपाट छतवाला मन्दिर रहा होगा। इसके समक्ष सिंह शीर्षक युक्त स्तम्भ खड़ा था।[४] इस उत्तर गुप्तकालीन अवशेषों का सर्वेक्षण सबसे पहले १९१३ में श्री भाण्डारकर ने किया था। यह मन्दिर पूर्व-मुखी था। उत्तर और दक्षिण दिशाओं में ३ लघु मन्दिर रहे होंगे। मन्दिर ३५.४० मीटर लम्बे व २१ मीटर चौड़े चबूतरे पर खड़ा था। इस मन्दिर के अवशेष कालान्तर में उदयगिरि में ही हुए अन्य निर्माणों में प्रयुक्त कर लिये गये।[५]

मन्दसौर में उत्खनन से ईंटों से निर्मित औलिकर कालीन एक विशाल मंदिर के अवशेष मिले हैं। उत्खनन से प्राप्त तोरणद्वार के भग्न अंश, सहस्त्र लिंग आदि से यह मन्दिर प्रकट होता है।[६] नीमच से २४ कि०मी उत्तर में मौरवन (मयूरवन) नामक स्थान पर भी इस युग के मन्दिरों के अवशेष मिले हैं।[७] विदिशा जिले में पठारी में भी गुप्तकालीन मंदिर के भग्नावशेष हैं।[८]

---

१. वि० व्हा०, पृ० ३९३-९४.
२. क०आ०स०इं०, ९, पृ० ८२-८९.
३. कृष्णदेव : टैम्पल्स आफ नार्थ इंडिया, पृ० ९.
४. आ०स०इ० (वेस्टर्न सर्कल), मार्च १९१५, पृ० ६५.
५. वि० व्हा०, पृ० ४२०-२१.
६. आ०स०इ० (१९२२-२३), पृ० १८५, मा० ग्रू० ए०, पृ० २८५.
७. मा०ग्रू०ए०. पृ० २८५.
८. क० आ०सा०इ० : ७, पृ० ६४.

सन् ४२३ ई० के अभिलेख से औलिकर शासक विश्ववर्मन के अमात्य मयूराक्षक द्वारा एक विष्णु एवम् एक मातृकाओं के मन्दिर झालावाड़ जिले में गंगधार स्थान पर बनवाने का उल्लेख है।[1] सन् ४९१ ई० में दशपुर के शासक आदित्यवर्मन के अधीनस्थ महाराज गौरी द्वारा छोटी सादड़ी में देवी मन्दिर (भंवरमाता अथवा भ्रमरमाता) निर्मित करवाने का विवरण अभिलेख में है।[2]

दशपुर में औलिकर महाराज बन्धुवर्मन के राज्यकाल में विशाल सूर्य मंदिर सन् ४३६ ई० में निर्मित करने का उल्लेख है।[3] इसे सन् ४७३ ई० में पुनः सुधरवाया गया था।[4] अभिलेखों से ज्ञात इन मन्दिरों में केवल छोटी सादड़ी के मन्दिर के अवशेष मिल सके हैं।[5]

(२) **साहित्यिक सन्दर्भ :** कुछ ऐसे सन्दर्भ हैं जो प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में मालवा में गुप्तकालीन मन्दिर स्थापत्य का साक्ष देते हैं। गुप्तकालीन मन्दिरों के संबंध में गुप्तकालीन भाण पद्मप्राभृतम् एवम् पादताड़िकम् ने उज्जैन में कतिपय धार्मिक आयतनों की चर्चा की है।[6] कुछ ऐसे ही सन्दर्भ मृच्छकटिकम् में भी आये हैं।[7] इसी प्रकार कालिदास ने भी मालवा क्षेत्र में महाकाल निकेतन एवम् चंडीश्वर के धर्म-क्षेत्र की चर्चा की है।[8] इसके अतिरिक्त पुराणों में विभिन्न देवी-देवतओं एवम् उनके प्रसादों की चर्चा आयी है।[9] बहुत से पुराण गुप्तकाल से संबंधित हैं। अतः यह निष्कर्ष सहज ही है कि गुप्त युग में अनेक प्रकार के देवायतनों का निर्माण हो रहा था।

मालवा के औलिकरों ने बड़ी तन्मयता और उत्साह से इस काम को आगे बढ़ाया। बिहार कोटरा, गंगाधार और दशपुर में उनके जो अभिलेख प्राप्त होते हैं, वे स्पष्ट ही इस बात का सार्थक प्रमाण देते हैं।

(३) **कलात्मक प्रमाण :** यह एक विवादहीन तथ्य है कि प्रतिमा ने चाहे किसी धर्म अथवा उनके आराध्यों से संबंधित की गई थी। ऐसी स्थिति में जहां जहां भी विभिन्न गुप्तकालीन मूर्तियां उपलब्ध हैं वहां वहां इस कल्पना को साकारत्व मिलता है कि वहां देवालयों का निर्माण किया गया होगा।[10]

---

१. का० इ० ई०, ई, पृ० ४४.
२. वही, पृ० ८१.
३. इ० ई० ३०, पृ० १२०.
४. वही, ३ पृ० ४४.
५. मा० क० स्था०, अ० ७ (मन्दिर).
६. चतुर्भाणी, पृ० ८२.
७. उज्जयिनी इन मृच्छकटिकम् (वी० सी० ला० व्हा० १), पृ० ४०६.
८. पूर्व मेघ, ३३-३४.
९. मत्स्य, नृसिंह एवं शिवपुराणों में इस विषयक प्रासंगिक चर्चा आयी है किन्तु स्कन्दपुराण का अवन्ति-खण्ड इस पर सविस्तार एवं क्रमबद्ध चर्चा करता है।
१०. मूर्तिकला से संबंधित इन प्रमाणों एवं विवरण को निम्नलिखित ग्रन्थों से सार रूप में ग्रहण किया गया है:—
(१) मा० श्रू० ए०, पृ० २८७-९२
(२) मा० क० स्था०, अध्याय ७ (मूर्तिकला)
(३) वि० स्मृ० ग्र०, पृ० ६६७-७०८
(४) म० भा० इ०, पृ० ६२२-६३४

गुप्तकाल में ब्राह्मण धर्म अत्यधिक विकासशील था। इस दृष्टि से विष्णु, शिव एवम् अन्य देवी देवताओं के मंदिर निर्माण की कल्पना निरस्त नहीं की जा सकती है। ऐरण, वेसनगर व उदयगिरि में विष्णु और उनके वराह, नृसिंह तथा वामन अवतारों से संबंधित मूर्तियां मिली हैं। वे प्रकट करती हैं कि वैष्णव मन्दिरों का निर्माण गुप्तकाल में एक लोकप्रिय वास्तु-विषय था।

गुप्तकाल की शैव प्रतिमाएं तीन रूपों में दिखाई देती हैं :— प्रथमतः शिवलिंग के रूप में, द्वितीयतः शिवलिंग पर उत्कीर्ण शिव प्रतिमाओं के रूप में, तृतीय शिवमूर्ति के रूप में। प्रथम प्रकार की प्रतिमाएं विदिशा एवम् उदयगिरि सहित कई स्थानों पर प्राप्त हुई हैं। द्वितीय प्रकार की मूर्तियां उदयगिरि एवम् दशपुर से प्राप्त हुई हैं। तृतीय प्रकार की मूर्तियों में दशपुर पुनः अग्रणी है। साथ ही तुमेन, एवम् बड़ोह से प्राप्त शिव की खण्डित मूर्तियां उसकी सहयोगिनी हैं। दशपुर इस काल में प्रत्येक क्षेत्र में विदिशा से स्पर्धा करता दिखाई देता है। कुमारगुप्त के शासनकाल में दशपुर में औलिकरों की छत्रछाया में एक विशाल सूर्य मंदिर का निर्माण करवाया गया था। कायथा के उत्खनन से भी एक गुप्तकालीन खंडित सूर्य प्रतिमा उपलब्ध हुई है। यह आजकल विक्रम कीर्ति मंदिर उज्जैन के संग्रहालय में है।

उदयगिरि गुहा क्रमांक ३ एवम् ६ में कार्तिकेय की प्रतिमाएं उत्कीर्ण हैं। स्कन्द की स्वतंत्र प्रतिमाएं पवाया, तुमेन आदि स्थानों से भी प्राप्त हुई हैं। उदयगिरि की गुहा क्रमांक ६ और १७ में उत्कीर्ण गणेश के अलावा सांची में एक स्वतंत्र गणेश प्रतिमा प्राप्त हुई है। शक्ति पूजा भी इस युग में महत्ता पा रही थी। अभिलेखों से ज्ञात होता है कि गंगाधार तथा छोटी सादड़ी में देवियों के मन्दिर बनवाये गये थे।

वेसनगर में गुप्त पूर्व काल की जो महिषासुरमर्दिनी की यक्षिणी जैसे विशाल प्रतिमा मिली है, उसकी परम्परा गुप्तकाल में भी जारी रही। इसका प्रमाण उदयगिरि की गुहा क्रमांक ६ और १७ में उत्कीर्ण मूर्तियां देती हैं। पठारी, पवाया, बड़ोह, उदयगिरि, वेसनगर, विदिशा एवम् दशपुर के गुप्तकालीन अवशेषों ने यह बात प्रमाणित की है कि महिषासुरमर्दिनी मालवा में दुर्गा, पार्वती, सप्तमातृका, गंगा तथा यमुना एवम् डाकनियों की मूर्तियां पूजी जाती थीं।

निश्चित ही इन मूर्तियों की स्थापना स्वतन्त्र प्रकार से बनाये गये देवालयों में ठीक उसी प्रकार हुई होगी, जिस प्रकार कि विभिन्न बौद्ध मूर्तियां एवम् प्रारंभिक ब्राह्मण मूर्तियां क्रमशः चैत्यों एवम् गुहा मन्दिरों में स्थापित की गई थीं। यह बिखरी हुई सामग्री एवम् मूर्तियों के प्राप्ति स्थानों पर बहुत सी पुरा-सामग्री हमें गुप्तकालीन वास्तुकला के वैभव को प्रदर्शित करती सी दिखाई देती है। दुर्भाग्य से मालवा क्षेत्र में एक भी ऐसा पूर्ण गुप्तकालीन मन्दिर अब शेष नहीं बच पाया है जिसके आधार पर मालवा के गुप्त मंदिरों की निर्माण शैली पर सटीक प्रकाश डाला जा सके। फिर भी मालवा के ये खंडित मंदिर गुप्तकालीन मंदिर वास्तुकला में झांकने का काफी मसाला देते हैं।

सांची के मन्दिर क्रमांक ६,१७,३१ एवम् ४५ तथा उदयगिरि की पहाड़ी पर जीर्ण-शीर्ण रूप में स्थित मंदिर से मालवा के गुप्तकालीन मंदिर वास्तुकला का जो आभास हमें मिलता है उससे बहुत कुछ यह बात प्रमाणित होती है कि मालवा के ये मंदिर निकटवर्ती भूमरा, नाचना-कुठार व देवगढ़ के मन्दिरों से भिन्न नहीं हुए होंगे।

बौद्धेतर स्तम्भ :—गुप्तकालीन स्तम्भ समकालीन मन्दिरों के ही एक भाग रहे हैं। इस दृष्टि से वे शुंग-सातवाहन-शक परम्परा को आगे बढ़ा रहे थे। इस काल के स्तम्भ मन्दसौर, ऐरण, पठारी पवाया आदि स्थानों पर प्राप्त हुए हैं। मन्दसौर के निकट सोंधनी में औलिकर-नरेश यशोवर्धन-विष्णुवर्मन द्वारा स्थापित दो स्तम्भों के खण्ड मिले हैं। इन स्तम्भों का व्यास १.०५ मीटर एवम् ऊंचाई १२ मीटर से अधिक रही। इन स्तम्भों के विषय व उद्देश्य धार्मिक नहीं हैं किन्तु औलिकरों के समय की स्तम्भ निर्माण कला का वे उल्लेखनीय प्रमाण हैं।

ऐरण, पठारी एवं पवाया के स्तंभ-शीर्ष पर पीठ से पीठ सटाये दो पुरुष मूर्तिया बनायी गई हैं। इस युग की यह स्तंभ-विशेषता मन्दसौर में भी दिखाई देती है। एक स्तम्भ के आधार के पास उत्खनन से दो मानव मस्तक एक दूसरे से प्रतिकूल दशा में देखते हुए तथा परस्पर जुड़े हुए मिले हैं। इससे प्रतीत होता है कि इन स्तम्भों पर एक दूसरे से पीठ सटाये प्रतिकूल दशा में मुख किये हुए बैठी या खड़ी मानव मूर्तियां थीं। स्तम्भशीर्ष की त्रिमुखी सिंह की चौकी विशिष्ट है।[1]

पठारी के स्तम्भ के भी दो पाषाण खण्ड हैं। पहला आधार सहित स्तम्भ तथा दूसरा बिम्ब पर खड़ी मानव मूर्ति युक्त स्तम्भ शीर्ष. जो एक वर्गाकार चौकी पर निर्मित है। इस स्तम्भ की सम्पूर्ण उँचाई १४.१० मीटर एवम् शीर्ष रहित स्तम्भ की उँचाई १२.६० मीटर है जो एक ही पाषाण खण्ड का बने होने से विकसित पाषाण शिल्प का उदाहरण है। स्तम्भ शीर्ष और स्तम्भ शीर्ष पर खड़ी मानव मूर्तियां एक दूसरे से पीठ सटाये विपरीत दिशा में देखते हुए खड़े हैं। जिनकी दो भुजाएं हैं।[2] इसकी तुलना पवाया के स्तम्भ से की जा सकती है। यहां इसी प्रकार स्तम्भ शीर्ष मिला है। चौकी पर पीठ से पीठ सटाए खड़ी दो-भुजी मानव मूर्तियों के पीछे प्रभामण्डल है। इनमें से एक के दोनों हाथ कमर पर हैं, परन्तु दूसरे का एक हाथ मुद्रा में होने से वह किसी देवता की मूर्ति प्रतीत होता है।[3]

ऐरण से प्राप्त स्तम्भ नीचे वर्गाकार तथा ऊपर अष्ट पहलू है।[4] वर्गाकार भाग ३ मीटर उँचाई तक है। इसका अधिकांश हिस्सा भूमि में गढ़ा है। वर्गाकार भाग की एक भुजा ८२ से०मी० है। स्तम्भ शीर्ष की चौकी पर चारों कोनों पर सिंह कोरे गये हैं। शीर्ष पर पीठ से पीठ सटाए विपरीत दिशा में देखती हुई दो मानव मूर्तियां खड़ी हैं। इनका मुख पूर्व एवम् पश्चिम दिशा में है। इस स्तम्भ पर गुप्त सम्राट बुधगुप्त के सामंत महाराज मातृविष्णु का सन् ४८४-८५ ई० का अभिलेख है।[5] बुद्धगुप्तकालीन उपर्युक्त स्तभ के ठीक सामने एक विष्णु मन्दिर के भग्नावशेष पाये जाते हैं। उन भग्नावशेषों से यह ज्ञात होता है कि इस विष्णु मन्दिर में गर्भ गृह के सामने स्तंभों पर आधारित एक लघु मण्डप रहा होगा। मन्दिर की बची हुई दीवारों

---

१. गद्रे एम०बी : आर्कोलोजी इन ग्वालियर, पृ० २४.
२. क०आ०स० इं०, ७, पृ० ८८.
३. मा० का स्था०, ७, (स्तम्भ).
४. क०आ०स०इं०, ७, पृ० ८८.
५. का०इं०ई०, पृ ८८, १५९.

को देखने से ऐसा ज्ञात होता है कि गुप्तोत्तर काल में इस मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया गया था। मन्दिर की बाहरी दीवारों पर विष्णु के विभिन्न अवतारों का अंकन है। मन्दिर में गर्भगृह के अंदर लगभग तीन मीटर ऊँची एक विष्णु प्रतिमा प्रतिष्ठित है। इसे ब्रह्मा विष्णु कहा जा सकता है। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि मन्दिर के सामने की स्तंभ के अभिलेख के प्रारंभ में चर्तुभुजी विष्णु (गरुड़ केतु) की स्तुति की गई है।[१]

ऐरण के निकटवर्ती ग्राम पहले सुपुर से नरसिंह की एक विशाल प्रतिमा प्राप्त हुई है। ऐरण से भी निरीवराहु की एक अन्य विशालकाय प्रतिमा प्राप्त हुई है। ये दोनों प्रतिमाऐं सागर वि. वि. के हरिसिंह और पुरातत्व संग्राहलय में सुरक्षित हैं। जिन स्थानों से ये प्रतिमाएँ मिली हैं वहाँ पर भी इनके मन्दिरों के स्थानों की सम्भावनाओं से इन्कार नहीं किया जा सकता है।

उदयगिरि से एक स्तम्भ का शीर्ष मिला है। इसका निचला भाग घण्टाकार है तथा उस पर रज्जु का अलंकरण है। इस पर राशियों के अंकन से युक्त गोल चौकी पर पीठ से पीठ सटाये चार सिंह बैठे हैं। सिंह के बीच गढ्ढे से प्रकट होता है कि इस पर कोई मूर्ति या चक्र रहा होगा। वेसनगर से भी एक स्तम्भ की वर्गाकार चौकी मिली है। चौकी के चारों ओर के पार्श्वों में एक वृक्ष का अलंकरण है। चौकी पर का शेष भाग एवम् स्तम्भ नहीं मिला है।[२]

निष्कर्ष : भागवत-धर्मी गुप्तों ने बौद्ध प्रेरणाओं की ग्रहणीयता अस्वीकार कर दी। यही कारण है कि ब्राह्मण मतों से संबंध्रित उदयगिरि की गुफाओं का आयाम छोटा और सादा है। इस प्रकार उदयगिरि की गुफाएं बौद्ध धर्म के विरुद्ध ब्राह्मण धर्म के विद्रोह का प्रारंभिक सिलसिला है। इन गुफाओं के माध्यम से गुप्तों ने प्रस्तरों का आश्रय छोड़ ईटों के द्वारा निर्मिति के प्रति ललक दिखाई है। गुहा क्रमांक १ इसका प्रमाण है। इसके आधार पर उदयगिरि की पहाड़ी पर ३५.४० मीटर लम्बे और २१ मीटर चौड़े विशाल चबूतरे पर जिस मंदिर का निर्माण करवाया गया था उसके खण्डहर अभी भी विद्यमान हैं। दोनों की सपाट छत, अलंकरणहीन स्तम्भ व एक जैसे प्रवेश द्वार मिल-जुलकर यही कहानी कहते हैं।

सांची के प्रारंभिक गुप्तकालीन मंदिरों के सूक्ष्म परीक्षण से भी यही बात स्पष्ट होती है। यही कहानी आसपास फैले हुए तिगवा, भूमरा, नाचना, आदि के मंदिरों से भी बात होती है जैसा कि पूर्व में लिखा जा चुका है।

सपाट छत से शिखर की ओर बढ़ते हुए गुप्तकालीन मन्दिर वास्तुकला को भी मालवा ने देखा है। इस तरह भीतरगांव, देवगढ़, सिरपुर, मुकुन्द दर्रा, कोटा आदि शिखरयुक्त मंदिरों की परम्परा में सांची में निर्मित उत्तर गुप्तकालीन मंदिर रखा जा सकता है।

---

१. जयति विभुश्चतु भुज श्चतुरगव-विपुल-सलिल-पर्य्यङ्क : जगत : स्थित्युत्पति-न्य (यादि) हेतुरगंरन-केतु.

२. वि०स्मृ०ग्र०, पृ० ७०७-०८.

निष्कर्ष यह है कि मालवा वह भूमि रही है, जहां गुप्तों ने पूर्व प्रचलित मंदिर निर्माण परम्परा को अस्वीकार किया था और बौद्ध गुहा परम्परा को बहुत कम स्वीकारते हुए भी गुहा मन्दिरों का निर्माण करवाया था। इन गुहा मन्दिरों के माध्यम से उन्होंने मंदिर निर्माण की जिस नवीन शैली का पुरस्सरण किया. संभवतः इसका प्रथम प्रयास मालवा में हुआ। उपरांत आसपास के क्षेत्रों से होता हुआ सम्पूर्ण भारत में फैल गया।

गुप्तोत्तर-कालीन मालवा ६

गुप्त-औलिकर काल के उपरान्त मालवा का इतिहास बहुत कुछ उन साधनों पर निर्भर है जो साहित्यिक और अभिलेखीय स्रोतों द्वारा हम तक पहुंचते हैं। ये प्रमाण मालवा के तत्कालीन इतिहास की कोई सुनिश्चित छवि हमारे सामने उपस्थित नहीं करते। इस कारण इस काल के मालवा के इतिहास के बहुत से पहलू या तो उपेक्षित रह गये हैं या विवाद का विषय बने हुए हैं। गुप्त-औलिकर काल के उपरान्त सारे भारत का तेजी से राजनैतिक विकेन्द्रीकरण हो रहा था। उस प्रभाव से मालवा का बचे रह पाना कठिन था।

औलिकरों के पतन के बाद तो मालवा पर अन्य शक्तियों का प्रभाव स्थापित हो जाना एक राजनैतिक बाध्यता थी। परिणामस्वरूप छठीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पूर्वी मालवा संभवतः उत्तर गुप्त शासक महासेन गुप्त तथा पश्चिम मालवा कलचुरि शासक शंकरगण के हाथ में चला गया था।[1] उत्तरगुप्तों और कलचुरियों के बीच में इस प्रकार राजनैतिक प्रतिद्वंद्विता प्रारम्भ हो गयी। ऐसा लगता है कि महासेन गुप्त के समय में ही उज्जयिनी-सहित पश्चिम मालवा पर शंकरगण कलचुरि का अधिकार हो चुका था।[2]

महासेन गुप्त की मृत्यु के उपरान्त शेष पूर्वी मालवा भी कलचुरियों ने उत्तरगुप्तों से छीन लिया। इस कारण महासेन के दोनों पुत्र कुमारगुप्त और माधवगुप्त मालवा पर शासन करने के अवसर से वंचित रहे। निराश होकर दोनों राजकुमारों को थानेश्वर के पुष्यभूति नरेश प्रभाकरवर्धन के आश्रय में जाना पड़ा। प्राभकरवर्धन ने इन दोनों कुमारों को अपने पुत्र राज्यवर्धन एवम् हर्षवर्धन के साथ संयुक्त कर दिया। पर इससे कोई लाभ नहीं हुआ, क्योंकि पश्चिम मालवा के केन्द्र दशपुर में महासेन-गुप्त के ही एक संबंधी देवगुप्त ने अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी। परिणामस्वरूप थानेश्वर का प्रथम कर्तव्य देवगुप्त को पराजित करना हो गया। देवगुप्त ने अपनी स्थिति को दृढ़ करने की दृष्टि से गौड़ नरेश शशांक से हाथ मिला लिया।[3] देवगुप्त के अभ्युदय का एक कारण यह भी था कि कलचुरियों की स्थिति भी निरापद नहीं रह पायी थी। ७वीं शताब्दी लगते ही धान्य कटक के चालुक्यों ने शंकरगण के पुत्र बुद्धराज को पराजित कर पूर्वी मालवा में अपना प्रभाव स्थापित कर लिया।[4] वैवाहिक संबंधों को लेकर उत्तर भारत में इस समय एक त्रिकोण

---

१. बुद्धप्रकाश : आस्पेक्ट्स आफ इंडियन हिस्ट्री एंड सिविलाइजेशन, पृ० १००.
२. अभोना ताम्रपत्र (इ०इं०) ६, पृ० २९६, इ० ई ६, पृ० २९४.
३. मा०श्रू ए०, पृ० २६४-६५.
४. महाकूट स्तंभ-लेख, इंडियन एन्टीक्वेरी, १९, पृ ७.

बन गया था। थानेश्वर, कन्नौज के मौखरी और उत्तरगुप्त वंश एक खेमे थे, जिसका नेता प्रभाकरवर्धन था। मौखरी नरेश गृहवर्धन से प्रभाकरवर्धन की पुत्री राजश्री का विवाह हुआ था।[१]

प्रभाकरवर्धन के उपरान्त उत्तर भारत की राजनीति ने एक हिंसक मोड़ ले लिया। मालव नरेश देवगुप्त ने गौड़ देश के शासक शशांक से निकट संबंध स्थापित कर लिया। उसके उपरांत देवगुप्त ने छल से आक्रमण करके मौखरी शासक गृहवर्मन को मार डाला। राज्यश्री कैद कर ली गई और बाद में वहां से निकलकर विन्ध्य की पर्वत श्रेणियों में चली गयी। राज्यवर्धन ने सन् ६०५ ई० के लगभग देवगुप्त पर आक्रमण करके मालवा से उसकी सत्ता नष्ट कर दी। अब शशांक की बदला लेने की बारी थी। इस गौड़ शासक ने छल के साथ राज्यवर्धन को समाप्त कर दिया।[२]

शासन सूत्र संभालते ही हर्ष ने अपनी बहिन राज्यश्री का उद्धार किया। हर्ष को थानेश्वर के साथ साथ कन्नौज का शासक भी बनाया गया। हर्ष पर्याप्त प्रयास करने पर भी शशांक को कुचल नहीं सका। इतना अवश्य हुआ कि कामरूप नरेश भास्करवर्मन से मित्रता स्थापित कर उसने गौड़ की शक्ति पर पर्याप्त अंकुश लगा दिया था।[३] मालवा में देवगुप्त के कुचले जाने के परिणामस्वरूप कलचुरियों की बन आयी, किन्तु शीघ्र ही गुजरात के मैतृकों ने पश्चिमी मालवा को कलचुरियों से मुक्त कर दिया; क्योंकि ह्वेनसांग के वर्णन से ज्ञात होता है कि मो-ला-पो (मालवा) पर मैतृक शासक शिलादित्य का अधिकार था।[४] इस तरह हमें लगता है कि देवगुप्त को पराजित करने के उपरान्त भी हर्ष मालवा को अपने अधिकार में नहीं रख सका। जब पुलकेशिन द्वितीय ने हर्ष को पराजित किया तो हर्ष की इस क्षेत्र में महत्वाकांक्षा अत्यन्त क्षीण हो गयी। हर्ष की मृत्यु के बाद कुछ समय तक मालवा का इतिहास ठीक से ज्ञात नहीं होता। लगता है कहीं कहीं कुछ छोटे छोटे राजवंश उभर आये थे।

८वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में मालवा में कुछ स्थानीय शक्तियों ने भी अपना प्रभावी अस्तित्व प्रकट किया था। इनका संक्षिप्त उल्लेख अन्यथा न होगा।

झालरा पाटन के ८वीं शताब्दी के अन्तिम दशक के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि वहां दुर्गगण नामक एक मौर्य-वंशी शासक सत्तासीन था।[५] एक अन्य अभिलेख शंकरगण का उल्लेख आया है। संभव है ये शासक सन् ७३८ ई० के कणस्वा अभिलेख से भी संबंधित रहे।[७] ऐसा लगता है कि झालरापाटन के ये मौर्य चित्तौड़ की मुख्य मौर्य शाखा के सामन्त रहे होंगे।[८]

---

१. अग्रवाल आर० सी० : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० ४७४.
२. वही.
३. क्लासिकल एज, पृ० ११०-१४, मुकर्जी रा० कु० : हर्ष (सम्बंधित अंश).
४. वाटर्स : आन युआन च्वांग, २, पृ० २४२.
५. इंडियन एन्टिक्वेरी, ५, पृ० १८२.
६. एन्यूअल रिपोर्ट आफ राजपूताना म्यूजियम, अजमेर (१९१२-१३), पृ० २.
७. इंडियन एन्टिक्वेरी, १९, पृ० ५५.
८. जैन के० सी० : एंशियण्ट सिटीज एंड टाउन्स आफ राजस्थान, पृ० १३१.

सांची के सातवीं शताब्दी के अभिलेख में महामालव नामक क्षेत्र के शासक वप्पकदेव एवं उसके पुत्र महाराज सर्व की चर्चा आई है।[1] इन शासकों के वंश का पता नहीं चल सका है। कुछ इतिहासकारों की मान्यता है कि सांची का यह अभिलेख संभवतः झालरापाटन के अभिलेख में वर्णित सेनापति वोप्पक होगा।[2] किन्तु इस मान्यता को स्वीकार करना कठिन है। झालरापाटन के सामन्तों का सेनापति इतना सशक्त नहीं हो सकता कि चालुक्यों व मालवा के कनचुरियों को चुनौती देकर सांची पर अधिकार कर सके। लगता है अराजक स्थिति का लाभ लेकर पूर्वी मालवा के किसी सामन्त ने कुछ समय के रूप में "महामालव" की कल्पना संजो ली होगी।

आठवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के महुआ से प्राप्त अभिलेख से वत्सराज नामक एक अज्ञात-कुल शासक व उसके कतिपय पूर्वजों का उल्लेख आया है।[3] यह संभावना प्रकट की गई है कि इनका कुछ अवन्ती से संबंध रहा होगा।[4] यह वह समय था जब दक्षिण की राष्ट्रकूट शक्ति अपने प्रसार के प्रथम चरण में मालवा में घुस पैठ करने में समर्थ हो गयी थी। इन्दरगढ़ अभिलेख (७१०-११ ई०) में नणप्प की चर्चा की गयी है।[5] बहुत संभव है कि यह शासक मुलताई[6] एवम् संगलोदा[7] ताम्रपत्रों में वर्णित नण्णराज नामक राष्ट्रकूट मौर्यों के अधीन सामन्त हों।[8]

कोटा से १४५ कि० मी० दक्षिण-पश्चिम में स्थित शेरगढ़ का प्राचीन नाम कोपवर्धन था। सन् ७९० ई० के एक अभिलेख में यहां देवदत्त नामक एक शासक का उल्लेख प्राप्त होता है।[9] इसके पूर्वजों के नाम बिन्दुनाग, पद्मनाग, सर्वनाग आदि दिये गये हैं। इससे यह निर्णय लेना सहज है कि देवदत्त नाम कुल का था। वह गुर्जर-प्रतिहारों के आधीन सामन्त था।

आठवीं शताब्दी के मध्य में उत्तर भारत में राष्ट्रकूटों, गुर्जर प्रतिहारों एवम् पाल शासकों की त्रिकोणात्मक राजनीति एवम् सैन्य प्रतिद्वन्द्विता प्रारम्भ हो गयी। कुछ इतिहासकारों का मत है कि इस समय उज्जैन में नागभट्ट व वत्सराज नामक प्रतिहार शासकों के अधिकार का पता लगता है[10] किन्तु कैलाशचन्द्र जैन ने इस मत का युक्तियुक्त खण्डन किया है।[11]

---

१. मा० सा० १, पृ० ३९४-९५.
२. मा० थ्रू० ए०, पृ० ३१९-२०.
३. इ० इं०, ३६, पृ० ११.
४. मा० थ्रू० ए०, पृ० ३२४.
५. इ० इं० ३२, पृ० ११२.
६. इंडियन ऐंटिक्वेरी, १९ (सम्बन्धित पृष्ठ).
७. उक्त, २९, पृ० १०९.
८. उक्त, १४, पृ० ४५; जैन के० सी० : ए० सि० एण्ड टा० आफ राज०, पृ० २३७-३८.
९ व १०. एज० आफ इं० कन्नौज, पृ० २०-२२.
११. मा० थ्रू० ए०, पृ० ३२२-२४.

इसी समय अरब आक्रमणकारी उज्जैन तक बढ़ आये थे। प्रतिहारों ने चालुक्यों के सहयोग से अरबों को पीछे ढकेल दिया था।[1]

सन् ७५० ई० के आसपास राष्ट्रकूट नरेश दन्तिदुर्ग ने उज्जयिनी पर अधिकार कर लिया। यह अभिलेखीय प्रमाण उपलब्ध हैं कि दन्तिदुर्ग ने उज्जैन में हिरण्यगर्भ दान सम्पन्न करवाया था[2]। इस समारोह का द्वार-रक्षक (प्रतिहार) गुर्जरेश होने से गुर्जरों का नामकरण प्रतिहार भी हुआ। इसी के साथ ही मालवा राष्ट्रकूटों और प्रतिहारों की आधीनता के मध्य झूलता चला गया। राष्ट्रकूटों और प्रतिहारों के इस द्वन्द्व के बीच परमारों को अवसर प्राप्त हुआ। जब १०वीं शताब्दी में उत्तर भारत में प्रतिहार और दक्षिण भारत में राष्ट्रकूट शक्ति कमजोर पड़ गयी, तो मालवा पूर्ण रूप से परमारों के आधीन हो गया।

मालवा की गुप्तोत्तर मन्दिर-वास्तुकला की विशेषताएं

मालवा की गुप्तोत्तर मन्दिर वास्तुकला एकाधिक पूर्व-परम्पराओं से प्रभावित रही। संक्षेप में उनका उल्लेख अन्यथा न होगा :—

१. **बौद्ध स्तूप व चैत्य परम्परा :** पूर्वी मालवा मौर्यकाल से ही बौद्ध धर्म कला एवं स्थापत्य का केन्द्र रहा था। गुप्त-काल तक यह सिलसिला जारी रहा। यद्यपि बौद्ध धर्म तेजी से अवनत हो रहा था फिर भी साँची, भोजपुर एवं ग्यानपुर अभी भी बौद्ध धर्म के केन्द्र थे। गुप्तोत्तर काल में भी इन स्थानों पर बौद्ध निर्माणों का सिलसिला जारी रहा।

पश्चिमोत्तर मालवा में भी तेजी से विलुप्त होने वाला बौद्ध धर्म अपनी अन्तिम स्थापत्य चमक बता रहा था। बाघ और धमनार के चैत्यों एवं गुहा-मन्दिरों की परम्परा अभी भी जारी थी। आस्था व अर्थ के अभाव में इनके कला व सौन्दर्यबोध पर प्रश्न चिन्ह लगने लगा था। धमनार, पोलाडोंगर, खोलवी एवं खेजड़िया भोप की गुहाएं इसका प्रमाण देती हैं।

२. **गुहा मन्दिर परम्परा :** उदयगिरि की गुफाओं के उपरान्त गुप्तकाल में ईंटों द्वारा मन्दिर-निर्माण का तेज सिलसिला जारी हो गया। अतः पूर्वी मालवा की गुहा-मन्दिर की ब्राह्मण परम्परा की इतिश्री हो गयी। किन्तु पश्चिमी मालवा में बौद्धों पर ब्राह्मण धर्म की सांस्कृतिक विजय के परिणामस्वरूप एलोरा के कैलाश मन्दिर की ही शैली में धमनार का धर्मनाथ मन्दिर निर्मित किया गया। इस प्रकार दक्षिण भारतीय बौद्ध गुहा-शैली के रूप में एलोरा की ही भांति मालवा में भी एक ब्राह्मण गुहा-मन्दिर प्रकाश में आया। संभवतः यह गुहा-मन्दिर सम्पूर्ण भारत की इस रूप में अन्तिम ब्राह्मण-निर्मित्ति है।

३. **गुर्जर-प्रतिहार प्रभाव :** गुप्तों के उपरांत गुर्जर प्रतिहारों का मालवा पर राजनैतिक व सांस्कृतिक प्रभाव पर्याप्त-रूपेण पड़ा। गुप्तकालीन मन्दिरों के निम्न प्रमुख तत्व कालान्तर की उत्तर-भारतीय मन्दिर निर्माण कला में प्रविष्ठ हो गये।[3]

---

१. एज० आफ इम्पीरियल कन्नौज, पृ० २१-२२.

२. इ० ई० १८, पृ० ३५२.

३. सौन्दर राजन के, व्ही : इंडियन टेम्पल स्टाइल्स, पृ ५४०.

(अ) विशाल चबूतरों पर मन्दिर निर्माण,

(ब) उपायतनों की निर्मिति,

(स) शिखर में चैत्य प्रभाव का अंगीकरण,
अतः शिखर के अधो-भाग पर चारों ओर नासिकाओं का निर्माण

(द) मुख्य शिखर पर आमलक की स्थिति, एवं

(इ) विमान का वर्गाकार स्वरूप ।

प्रतिहारों ने भी इसे अंगीकार कर लिया जैसा कि मंडोर के आठवीं शताब्दी के ब्रह्मा मन्दिर एवम् सौराष्ट्र के गोप मन्दिर से स्पष्ट होता है । प्रतिहारों की ही भाँति चन्देलों, कलचुरियों, कच्छपघाटों एवं कुछ संशोधनों के साथ परमारों ने भी इसी परम्परा को आगे बढ़ाया ।[1]

४. चालुक्य-राष्ट्रकूट प्रभाव : चालुक्यराज मंगलेश द्वारा कलचुरि नरेश बुद्धराज को पराजित कर देने से पूर्वी मालवा का बहुत सा क्षेत्र चालुक्य प्रभाव में आ गया । दक्षिण के इस प्रभाव को राष्ट्रकूटों ने मालवा पर बनाये रखा । सहज में मालवा की सांस्कृतिक एवं कलात्मक विधाओं पर इन दक्षिण भारतीय शक्तियों का प्रभाव पड़ा होगा ।

चालुक्य मन्दिर शैली की सबसे बड़ी विशेषता अर्धमण्डप की छत पर शुकनासा (अथवा महानासिका) की स्थिति है । यह महानासिका नागर रेखा प्रासादों एवं द्राविड़ विमानों की उभयनिष्ठ सम्पत्ति के रूप में विकसित हुई । मुख-मण्डप एवं महा-मण्डप के छोर पर पेराफेट भित्ति के रूप में हारों की निर्मिति इस प्रकार का द्वितीय चालुक्य योगदान है ।

राष्ट्रकूटों ने इसी निर्माण-परम्परा को अपनाया । पत्तदकल की राष्ट्रकूट निर्मितियों से यह बात सिद्ध होती है । मालवा में राष्ट्रकूट प्रभाव में निर्मित मन्दिरों द्वारा इन तत्वों ने निश्चय ही इस क्षेत्र में प्रवेश किया होगा ।[2]

५. नागर शैली की विकासशील परिपक्वता :— भारत में ब्राह्मण धर्म से संबंधित उदयगिरि जैसे गुहा मन्दिर अन्यत्र नहीं बने । अतः मन्दिर निर्माण बड़ी तेज गति से मालवा में हुआ । उत्तर भारत के इस काल के निर्माणों में मालवा का योगदान कम नहीं है । नागर शैली पूरी तरह परिपक्व होकर सामने आ गयी थी । मूल रथ योजना त्रिरथ, पंचरथ या सप्तरथ होने लगी थी । गर्भगृह पर शिखर बनने लगे थे । उत्तर-गुप्तकालीन मन्दिरवास्तु कला तेजी से विकसित हो गयी थी । शिखरों पर शृंगों की भरमार होने लगी थी । शिखर विभिन्न भूमियों वाले होने लगे थे । इनकी योजना रेखीय थी । रेखा-शिखर विभिन्न दिशाओं के राहापगों के माध्यम से ऊर्ध्वमुखी होते हुए आमलक एवम् कलश तक पहुंचते थे । गर्भगृह चौकोर बनाये जाते थे । प्रारम्भ में उनके

---

१. सौन्दर राजन के व्ही : इंडियन टेम्पल स्टाइल्स, पृ० ५४.
२. वही, पृ० ४०-४२.

सामने एक पोर्च होता था। उपरान्त मण्डप की आवश्यकता होने लगी। पहिले मण्डप मूल वास्तु से पृथक् होता था किन्तु कालान्तर में वह मंदिर का मध्य भाग होने लगा। पोर्च सबसे पहिले आता था और द्वारमण्डप या अर्धमण्डप कहलाता था। मण्डप, पोर्च और गर्भगृह के मध्य बनाये जाने लगे थे। ये मण्डप गूढ़ या महामण्डप भी होने लगे थे। कहीं कही मन्दिरों के या गर्भगृहों के आसपास मूल वास्तु के भीतर प्रदक्षिणा पथ भी होने लगे थे।[1]

उत्तर भारत में बनाये जाने वाले ऐसे मन्दिरों का सिलसिला मालवा में भी जारी था। मालवा के सीमान्त पर ग्वालियर, सुहानिया, कड़वाह, सुरवाया तुमेन आदि स्थानों पर निर्माण हो रहे थे। वैसे ही निर्माण मौर्यों, नागों, राष्ट्रकूटों और गुर्जर-प्रतिहारों के आधीन इन्द्रगढ़, कोपवर्धन, झलरापाटन, बढ़ोह, पठारी, ग्यारसपुर, विदिशा आदि स्थानों पर मालवा में भी हो रहे थे।

जैन भी इस दृष्टि से पीछे नहीं थे, किन्तु स्थापत्य की दृष्टि से जैन मंदिर ब्राह्मण मन्दिरों से अभिन्न थे। दोनों ही धर्म के मंदिर मूर्तियों एवम् विभिन्न अलंकरणों से खचित होते थे। उनकी जंघाएं व स्तम्भ इस दृष्टि से विशेष आकर्षक थे।

इस अध्याय में इस काल के मालवा के धार्मिक निर्माणों का अध्ययन हमारा अभीष्ट है।

बौद्ध स्थापत्यः बौद्ध धर्म भारत के अन्य भागों की ही भांति मालवा में भी इस समय पतन की तेज प्रक्रिया से ग्रसित था किन्तु सांची, भोजपुर, ग्यारसपुर, घमनार, खोलवी, खेजड़िया भोप, राजपुर आदि स्थानों पर प्राप्त पुरातत्वीय सामग्री से ज्ञात होता है कि अन्य धर्मों के साथ साथ बौद्ध धर्म भी मालवा में अपना अस्तित्व प्रदर्शन कर रहा था।

गुप्तकाल की ही भांति बौद्ध धर्म की महायान एवम् हीनयान दोनों ही शाखाएं मालवा में सक्रिय थीं। किन्तु ऐसा लगता है कि महायान शाखा का पूर्वी मालवा एवम् हीनयान शाखा का पश्चिमी मालवा पर अधिक प्रभाव था।

पूर्व में देखा जा चुका है कि गुप्तकाल में मालवा के अनेक महायानी-भिक्षु धर्म-प्रचारार्थ लंका, चीन एवं मध्य एशिया गये थे। गुप्तोत्तरकाल में महायान शाखा अपने प्रारंभिक आदर्शों से गिरने लगी। परिणामस्वरूप तंत्र-मंत्र एवं 'म' कार साधना का उसमें तेजी से प्रवेश हुआ। प्रथमतः यह स्वरूप मंत्रयान एवं उपरान्त वज्रयान के रूप में सामने आया। परिणामस्वरूप बौद्ध-सिद्ध सामने आये। इस काल में उज्जैन में जन्मे सिद्ध लुईपा ने पर्याप्त प्रभाव प्रदर्शित किया।[2]

सांची क्षेत्र महायान शाखा का प्रमुख केन्द्र बना रहा। सांची, ग्यारसपुर, भोजपुर आदि स्थानों से प्राप्त बुद्ध एवं बोधिसत्व की प्रतिमाओं से यह बात प्रमाणित होती है।[3] सांची के बौद्ध मन्दिर पूर्वी मालवा पर महायान प्रभाव का गंभीर व प्रभावी साक्ष देते हैं। शुंगकाल में वैष्णव धर्म का प्रभाव पूर्वी मालवा पर अधिक था। उसका प्रभाव बौद्धों पर भी पड़ा होगा। इसी प्रकार वैष्णव प्रभाव से स्पर्धा के लिये बौद्धों को अपनी ओर से भी वैसी ही भाव-भूमि प्रस्तुत करने की आवश्यकता हुई। परिणामस्वरूप पूर्वी मालवा महायान मत का

१. स्ट्रगल फार एम्पायर, पृ० ५३२-५३४, ५३८-३९
२. एज आफ इम्पीरियल कन्नौज, पृ० २६८.
३. बु० इ० मा०, पृ० ३१.

अधिक प्रतिपादक रहा। हीनयानी भी गौण रूप में अपने अस्तित्व का प्रदर्शन कर रहे थे। ग्यारसपुर के स्तूप इसके प्रमाण हैं।

पश्चिमी मालवा में हीनयान शाखा अधिक प्रमुखता से अभिव्यक्त हुई। घमनार, खोलवी, खेजड़िया भोप, बिनायका व पोलाडोंगर के चैत्यों एवं राजपुर के स्तूप से यह तथ्य प्रमाणित होता है। गुप्तकाल में मन्दसौर के हीनयानी लोकोत्तरवादियों की चर्चा की ही जा चुकी है। संभव है यह परम्परा आसपास भी फैली हो। घमनार के पास चन्दनगिरि विहार का सन्दर्भ हम पाते ही हैं। पूर्वी राजस्थान एवम् पश्चिमी मालवा में अपना प्रभावो राजनैतिक अस्तित्व मौर्य शासक सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध एवं आठवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में बता रहे थे। ये बौद्ध धर्म के संरक्षक व अनुयायी थे। इस कारण बौद्ध धर्म को अस्थायी गति मिली। परिणामस्वरूप अनेक गुहाएं व चैत्य प्रकाश में आये।

हीनयान के साथ साथ महायान मत भी पश्चिमी मालवा में अपनी पैठ करने में समर्थ हो गया था। इस कारण हम चहुमुंखी फैलें हीनयानी चैत्यों में भी घमनार एवम् खोलवी में बौद्ध मूर्तियां पाते हैं।[1] शेरगढ़ (प्राचीन कोपवर्द्धन) के एक अभिलेख के अनुसार नाग नरेश देवदत्त ने एक बौद्ध मन्दिर का निर्माण करवाया था।[2] इससे प्रकट होता है कि महायानी भी पश्चिमी मालवा में राजकीय संरक्षण लेने में सफल हो गये थे।

ऐसा लगता है कि बौद्ध धर्म के तेजी के पतन के कारण इस समय मालवा के हीनयानी और महायानी मिलजुल कर काम कर रहे थे। इस कारण महायानियों के गढ़ में हीनयानी और हीनयानियों के गढ़ में महायानी प्रवेश पा रहे थे। जबकि गुप्तकाल तक हीनयानियों ने महायानियों को सांची और बाघ से आगे नहीं बढ़ने दिया था। उज्जैन अलवत्ता समन्वय बनाये हुए था। उसका यह समन्वय इस काल में अन्य स्थानों पर भी फैल गया था। उदाहरण के लिये बिहार कोटरा के हीनयानी विहार के सानिध्य में ८वीं-९वीं शताब्दी में एक बौद्ध मंदिर निर्मित किया गया था। वहां का सोलह-खंभा उसका अवशेष है।[3]

बौद्ध धर्म इस तेजी से पतनोन्मुख हो रहा था कि उसकी प्रमुख शाखाओं का यह समन्वय भी उसे थाम नहीं पाया। वज्रयानियों, मंत्रयानियों और सिद्धों ने बौद्ध नेतृत्व को अपने हाथ में लेकर मालवा में बौद्ध धर्म के पतन का अन्तिम अध्याय लिखना प्रारम्भ कर दिया था।

गुप्तोत्तरकालीन बौद्ध स्थापत्य मालवा में स्तूपों, गुहा मन्दिरों, विहारों तथा मंदिरों के अवशेष के रूप में प्राप्त होते हैं:—

स्तूपः—ग्यारसपुर में इस काल से संबंधित चार ऐसे आधार प्राप्त हुए हैं जिसमें सूखी मिट्टी युक्त अनगढ़ पत्थरों का आधार के भरने में प्रयोग हुआ है। स्थापत्य की दृष्टि से यह धारणा सहज है कि ये स्थान अपनी समग्रता में स्तूप होंगे। ये अवशेष पश्चिम से पूर्व की ओर विस्तार पाते चले गये। पश्चिम में जो

---

१. बु०इ० मालवा, पृ० ३१.
२. ई० ऐं०, १४, पृ० ४५.
३. प्रो०रि०आर्के० सर्वे० (१९२१) वैस्टन सर्कल, पृ० ११०.

स्तूप अवशेष हैं, उसका आधार १४.७० मीटर लम्बा, ६ मीटर चौड़ा और १.२० मीटर ऊंचा है। इससे पूर्व की ओर जो दूसरा अवशेष है वह दोहरे आधार वाला है। नीचे का आधार १२ मीटर लम्बा, ६.६० मीटर चौड़ा और ०.६० से० मी० ऊंचा है। ऊपर का आधार २४.६० मीटर लम्बा, ८.७० मीटर चौड़ा और ०.६० से० मी० चौड़ा है। पूर्व की ओर स्थित आधार भी द्विस्तरीय है। निम्न स्तर ६.६० मीटर लम्बा, ६ मीटर चौड़ा और १.८० मीटर ऊंचा है। लगता है इस पर ६.६० मीटर व्यास का अण्डाकार स्तूप खड़ा था। चौथा स्तूप जो तीसरे अवशेष के दक्षिण पश्चिम में है, इतना ध्वस्त हो चुका है कि नाप-तौल की अनुमति नहीं देता है।[1]

राजपुर के निकट भी एक बौद्ध स्तूप के अवशेष प्राप्त हुए हैं जिसका अण्ड अर्द्धगोलाकार था। निर्माण की दृष्टि से यह सादा निर्माण था। स्थानीयजन इसे कुटिलमढ़ के नाम से पुकारते हैं।[2]

बौद्ध चैत्य :— गुप्तकाल के उपरान्त भी मालवा में बौद्धों ने गुहा निर्माण की परम्परा जारी रखी। घमनार की गुफाओं का अध्ययन गुप्तकाल के अन्तर्गत केवल इस परिवर्तित मान्यता के कारण कर लिया गया है कि उनका निर्माण उत्तर गुप्तकाल में हुआ। प्रारंभिक पुराविदों की यह मान्यता थी कि गुहाएं आठवीं और नवीं शताब्दी की हैं। स्थिति चाहे जो रही हो और तिथि निर्णय के बारे में एकाध शताब्दी की रस्साकसी चाहे पुराविद करते रहें हों, इन गुहाओं के स्थापत्य का वर्णन गुप्तकालीन स्थापत्य के साथ किया जा चुका है।

खोलवी में जो विशाल कक्ष हैं उसके दक्षिण पूर्व और उत्तर दिशा में लगभग ५० छोटी-मोटी गुफाऐं बनायी गयी हैं। इनमें से पहाड़ी की दक्षिण की ओर निर्मित निम्न दक्षिमुखी गुहाओं का विशिष्ट उल्लेख समीचीन होगा।[3]

गुहा क्रमांक १ में स्थित स्तूप के पीछे २ कमरे हैं। गुहा क्रमांक २ में त्रिमेधि युक्त एक बड़ा स्तूप उत्कीर्ण है। उसकी उँचाई ६.०७ मीटर है। खोलवी के सभी स्तूपों में यह सबसे बड़ा स्तूप है। यह सम्पूर्ण रूप से एकाश्म है। गुहा क्रमांक ३ में द्विआयामी है। नीचे के तल पर चार ओर ऊपर के तल पर दो कक्ष हैं। गुहा क्रमांक ४ में ३.६० मीटर ऊंचा जो एक स्तूप उत्कीर्ण है जिसका आधार अष्टकोणीय है। गुहा क्रमांक ५ भी स्तूप युक्त है। यह स्तूप द्विप्रातलीय है। अपनी समग्रता में यह स्तूप ७.१० से०मी० ऊंचा है। गुहा क्रमांक ६, २.१०×१.८० मी० का एक कक्ष है। इसमें तीन प्रवेश हैं जो दो स्तम्भों द्वारा विभाजित हैं। इनमें से प्रत्येक की चौड़ाई ०.६० से०मी० है। गुहा क्रमांक ७.८०×३.६० मीटर का एक कक्ष है। इस कक्ष में जो स्तूप हैं, उनका व्यास ३.४० मीटर है। गुहा क्रमांक ८, गुहा क्रमांक ३ की भांति द्वितलीय है। यह अपेक्षाकृत काफी छोटी है। गुहा क्रमांक ६ की भांति इसके ऊपरी तल में ६ कक्ष हैं। गुहा क्रमांक ९ में द्विआधारी एक विशाल स्तूप है जिसकी कुल उँचाई ७.०५ मीटर है। गुहा क्रमांक १० उक्त स्तूप के पीछे स्थित है। इसके पूर्व में स्थित प्रांगन ६.६०×३.६० मीटर का है। गुहा क्रमांक ११ स्थानीय जनता के

---

१. गर्दे एम०बी०: आर्कोलाजी इन ग्वालियर, पृ० ६२, बु० इ० मा०, पृ० ६८.

२. वही, पृ० ११७.

३. क० आ० स० इ० २, पृ० २८०-८६; बु० इ० मा०, पृ० ६६-१००.

मध्य भीम का मकान कहलाता है। यह विशाल गुफा १२.६०×१२.६० मीटर की है। इसका प्रवेश आंगन के उत्तर में है इसकी छत अर्द्धवर्गाकार है।

ये बौद्ध अवशेष बड़ी रुचि और महत्व के हैं क्योकि ये शैली और स्थापत्य तकनीक की दृष्टि से विशेष महत्व रखते हैं। सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यहां स्तूप दोहरे या तिहरे तल वाले और अष्टकोणीय हैं। धमनार की भांति स्तूपों को गुफाओ में मुक्त आकाश के नीचे देखते हैं। उन्हें चैत्यों के मध्य छतों के आश्रय से रहने के बन्धन से भी मुक्त कर दिया गया है। साथ ही प्रथम बार इस धारणा को पल्लवित होने का अवसर प्राप्त होता है कि मंदिर निर्माण की परम्परा के मूल में कहीं स्तूप निर्माण भी रहे हैं। खोलवी में हम स्तूपों के आधार में कक्षों को भी उत्कीर्ण हुआ देखते हैं। इस तरह चैत्य और मंदिर का संगम हमें खोलवी की गुफाओं में दिखाई देता है। ऐसा लगता है कि मालवा में बौद्ध धर्म अपने अस्तित्व की रक्षा के लिये अन्तिम हताश किन्तु कलात्मक संघर्ष कर रहा था। इस कारण बौद्ध भिक्षु एकताबद्ध होकर खोलवी की गुफाओं का निर्माण कर रहे थे।

खेजड़िया भोप :—खेजड़िया भोप नामक स्थान भी सहसा ध्यान आकर्षित करता है। यहां की गुफाएं खोलवी की समकक्ष हैं। ये गुफाएं बौद्ध भिक्षुओं द्वारा काफी बड़ी मात्रा में निर्मित करवाई गई थीं। लगभग सभी गुफाएं या तो अकेले कमरे के रूप में हैं या परस्पर जुड़ने वाले उप-कमरों के रूप में है। इनकी सुरक्षा के लिये बाहर स्तम्भयुक्त पोर्च बनाये गये थे। स्तम्भों का उपयोग केवल उन पोर्चों में ही हुआ है जहां कि गुहा की लम्बाई अधिक है और जिनकी छत सपाट है। अधिकांश गुहाएं विहार के रूप में प्रयुक्त होने से हमारे अध्ययन का विषय नहीं बन पाती। इन गुहाओं के मध्य चट्टानों में जो स्तूप काटकर बनाया गया है, वह अवश्य ही गुहा मन्दिर के रूप में हमारा ध्यान आकर्षित करता है। यह स्तूप खोलवी या धमनार जैसी भव्यता नहीं रखता, किन्तु फिर भी खोलवी जैसा द्विआयामत्व रखता है। प्रत्येक आयाम बेलनाकार है। कुल मिलाकर स्तूपों की ऊँचाई २.९५ मी० है।[१]

विनायका : विनायका में भी कुछ गुहाओं का पता लगा है। ये गुफाएं विहार के रूप में ही रही होंगीं। चैत्यों के रूप में दिखाई न देने से ये हमारे अध्ययन की सीमा में नहीं आती। मन्दसौर जिले में स्थित ये गुफाएं इस जिले के अन्तिम बौद्ध गुहा अवशेष हैं। ये न तो आयाम और न ही स्थापत्य दृष्टि से प्रभाव छोड़ती हैं।

पोलाडोंगर : पोलाडोंगर की गुफाएं बिनायका के निकट स्थित हैं,[२] जो हमारा ध्यान खींचती हैं। इन गुफाओं के कारण गरोठ और बोलिया के मध्य स्थित एक छोटी डूंगरी (पहाड़ी) पोलाडोंगर कहलाती है। यहां छोटे-मोटे लगभग १०० गुहा निर्माण हुए हैं, जो पहाड़ी के तीन ओर मुंह किये हुए जैसे तैसे अपना अस्तित्व दर्शा रहे हैं। समय और मौसम ने छतों, स्तम्भों और गुहाओं का मानो पूरी तरह तहस-नहस करना तय लिया है। इन गुफाओं में अधिकांश गुफाएं विहार के रूप में थीं। केवल दो ही चैत्य के रूप में होने से हमारा भरपूर ध्यान आकर्षित करती हैं। इन दो गुफाओं में से एक बड़ी है और दक्षिण मुखी है। इस निर्माण के अन्तर्गत सामने पोर्च है, फिर अन्तराल है और उपरान्त एक बड़ा कक्ष जिसके मध्य में चैत्य स्थित है। चैत्य कक्ष के पश्चिम में उससे जुड़ा हुआ एक विहार है। इसके तीन ओर कक्ष बने हैं।

---

१. गर्दे एम० बी०: आर्कोलाजी इन ग्वालियर, पृ० ९६; बु० इ० मा०, पृ० १००.
२. इ०स्टे० ग०, २, पृ० ५६-५७; बु० इ० मा०, पृ १००-१०१.

चैत्य गुहा में सामने की ओर से तीन प्रवेश द्वारों द्वारा जाया जा सकता है। उपरान्त एक सकड़े दरवाजे, जिसके आसपास दो खिड़कियां हैं, के माध्यम से अन्तराल में प्रवेश किया जा सकता है। प्रवेश द्वार एवं खिड़कियों में जो छिद्र बने हैं, उनसे सिद्ध होता है कि इनमें लकड़ी के द्वार थे। पोर्च ७.२५ मीटर लम्बा और २.१० मीटर चौड़ा है। यह एक सादा एवम् अलंकरणहीन निर्माण है। पोर्च और चैत्य कक्ष को मिलानेवाला अन्तराल एक चार स्तम्भीय पथ जैसा है। दोनों ओर दो-दो सादे स्तम्भ हैं जो अन्तराल के सपाट और सादी छत को थामे हुए हैं। जहां तक मुख्य चैत्य कक्ष का प्रश्न है, यह लगभग अर्द्धवृत्ताकार माना जा सकता है। इस कक्ष के मध्य में ३.०० मीटर के वर्गाकार आधार पर २.४० मीटर व्यास का ४.२० मी० ऊंचा स्तूप उत्कीर्ण है। चैत्य के चारों ओर प्रदक्षिणा पथ है। चैत्य कक्ष एवम् प्रदक्षिणा पथ अत्यन्त सादे और अलंकरणहीन हैं।

दूसरी चैत्य गुहा पहली चैत्य की अपेक्षा काफी छोटी है। आकार-प्रकार की दृष्टि से यह बड़े चैत्य के निकट बैठती है। पर यह उसके मुकाबले काफी अधिक जर्जरित हो चुकी है।

पोलाडोंगर की गुफाओं तथा विहारों के मलवों में किसी भी प्रकार की बौद्ध प्रतिमा उपलब्ध नहीं हुई है। इस आधार पर यह स्पष्ट है कि इन गुफाओं का सम्बन्ध हीनयानियों से था। गुफाओं का मोटा, मद्दा और सादा होना इस बात का प्रमाण है कि हीनयानी अब केवल एक गुहा निर्माण की परंपरा का निर्वाह ही कर रहे थे। उन्हें जन-सहयोग एवम् राज्याश्रय लगभग नगण्य ही था।

मन्दिर :—गुप्तोत्तर काल में गुहाओं एवम् स्तूपों के अतिरिक्त विहारों एवम् मन्दिरों का निर्माण भी करवाया गया था। ये विहार गुहाओं के रूप में भी थे और धरती पर निर्मित संघारामों के रूप में भी थे। सांची के निर्माण क्रमांक ४२, ४४, ४९, ५०, ३२, ४३, ४६ तथा ४७ इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं।[१] प्रस्तुत अध्ययन की दृष्टि से निर्माण क्रमांक ४५ अत्यधिक महत्व का है।

ऊंची मेधि के पूर्वी अन्त पर पूर्वी क्षेत्र में स्थित इस मंदिर के ध्वंसावशेष और साथ का संघाराम भिन्न भिन्न समय की दो इमारतों का एक दूसरे पर आरोप है। सातवीं और आठवीं शताब्दी के बने मन्दिर के जो अंश इस समय दिखाई देते हैं उनमें चौतरे के छोटे-छोटे खण्ड; उत्तर दक्षिण और पश्चिम में कोठरियां; आँगन का फर्श; तीन छोटे स्तूपों की पीठिकाएं; और बरामदे के किनारे पर लगा हुआ पत्थर की शिलाओं का बांध उल्लेखनीय है। परन्तु पूर्व दिशा में बनी हुई कोठरियां और मन्दिर बाद की इमारत के नीचे दबे पड़े हैं। आंगन से कुछ ऊंचे तल पर स्थित बरामदे के किनारे पर पत्थर की चौपहल शिलाओं का बांध है। इन शिलाओं में खम्भे गाड़ने के लिये छेद बने हैं। स्तूपों में दो की केवल पीठिकाएं ही शेष हैं। उत्तरकालीन फर्श बनाने के समय तीसरे स्तूप का ऊपरी भाग जानबूझकर गिरा दिया गया था। यह स्तूप क्रूश के आकार का है। इसकी दीवारों के चार मध्यवर्ती उभारों में ताक बने हैं। दसवीं अथवा ग्यारहवीं शताब्दी के प्रचंड अग्निकांड में जब मन्दिर नष्ट हो गया तो इसके स्थान पर एक नया मन्दिर तामीर किया गया। नये निर्माताओं ने सहन के तल को १.०५ मीटर ऊपर उठाकर पक्का फर्श लगाया और पुरानी कोठरियों की दीवारों को ऊंचा उठाकर उनका दोबारा प्रयोग किया। इसके अतिरिक्त नया बरामद भी तामीर किया गया जिसका फर्श सहन से ०.९० से०मी० ऊंचा रखा गया।[२]

---

१. मा०सा०, पृ० ६९-७८.
२. मित्र देवला: सांची, पृ० ४४.

उत्तरकालीन मन्दिर में खोखले शिखर वाला चौपहल गर्भगृह और एक तंग ड्योढ़ी समाविष्ट है। यह एक ऊंचे चौतरे पर प्रतिष्ठित है। यहां पहुंचने के लिये पश्चिम की ओर सोपान मार्ग है। मंदिर के तीन तरफ ऊंची दीवार तामीर करके प्रदक्षिणा पथ बनाया गया था। दीवार के पूर्वी माथे में दो अलंकृत जालियां बनी हैं। समान केन्द्र चतुर्भुजों में विभक्त मंडित छत बड़ेरियों पर आश्रित हैं। बडेरियां कोनों पर बने अर्ब-स्तम्भों तथा दीवारों के मध्य में स्वतंत्र रूप से विन्यस्त घुड़िकाओं के सहारे खड़ी हैं। गर्भगृह तथा ड्योढ़ी और गर्भगृह के बीच लगे हुए अर्धस्तम्भ प्राचीन इमारतों से लिये गये थे। गर्भगृह की बहारी दीवार में उभारों और पार्श्वों में बने ताकों जो छोड़कर और किसी तरह की सजावट नहीं है। पूर्वी तथा पश्चिमी ताकों में जो मूर्तियां बची हैंउन में एक ध्यानमुद्रा में आसीन बुद्ध और दूसरा एक देवता है जो सम्भवतः वज्रधर्म लोकेश्वर है। देवता कमल पर बैठा है। आसन के नीचे उसका वाहन मोर है। उसका दायां हाथ टूटा हुआ है और बायें हाथ में वह कमल डंडी पर बनी हुई किसी खंडित वस्तु को पकड़े हुए है।[१]

उत्कीर्ण वास्तुखंडों से पता लगता है कि मंदिर का शिखर चैत्य, वातायनों और आमलक आदि अभिप्रायों से अत्यधिक अलंकृत था। परन्तु इस समय गर्भगृह के ऊपर अवशिष्ट खाली कोठरी और उसके साथ सटी हुई ड्योढ़ी से न तो प्रारम्भिक रूपरेखा और न ही उस पर कोरे हुए अलंकरणों की समृद्धता का पता लग सकता है। बड़े आकार का खंडित आमलक और कलश इस बात के साक्षी हैं कि उत्तर भारत के समकालीन अन्य मन्दिरों की तरह इस मंदिर का शिखर भी पूर्वोक्त अंगों से सुशोभित था। ड्योढ़ी के द्वार स्तम्भ और द्वार शाखा पर पशु, फूल-पत्ती आदि अभिप्रायों के मनोहर अलंकरण बने हैं। इनमें गंगा यमुना की मूर्तियां विशेष महत्व रखतीं हैं। वे इस बात का समर्थन करती हैं कि बौद्धों ने हिन्दुओं के धार्मिक लक्षणों को अपनाना शुरू कर दिया था। द्वार शाखा के समाने पद्म और शंखों से विभूषित चन्द्रकान्त शिला है। चौतरे पर गोला गलता आदि की सज बनी है और उसके शरीर में उत्कीर्ण ताक मूर्तियों से मंडित हैं।

गर्भगृह में दोहरी पंखड़ियों वाले कमल पर भूमि स्पर्श मुद्रा में आसीन बुद्ध की मूर्ति है। कमलासन पर दसवीं शताब्दी की लिपि शैली में बुद्ध मंत्र उत्कीर्ण है। इसके नीचे सिंहासन है। प्रभामंडल बहुत अलंकृत है। प्रतीत होता है कि आरंभ में यह मूर्ति इस मंदिर में स्थापन करने के लिये नहीं बनाई गई थी।

मंदिर के उत्तरी और दक्षिणी पार्श्वों मे पंक्तिबद्ध तीन तीन कोठरियां थीं, जिनके आगे खम्भों पर आश्रित बरामदे थे। ये खम्भे आरंभ में किन्ही प्राचीनतर वास्तुओं के लिये गढ़े गये थे। गर्भगृह के पास की कोठरियों में लगे हुए द्वार स्तम्भों पर अत्यन्त समृद्ध अलंकरण-अभिप्राय बने हैं जिनमें गंगा यमुना की मूर्तियां भी सम्मिलित हैं। दक्षिणी बरामदे के एक कोने में ध्यानमुद्रा में आसीन एक बुद्ध मूर्ति रखी है।[२]

जैन :— गुप्तकाल के पतन के उपरान्त और परमारों के अभ्युदय के पूर्व मालवा में जैन धर्म ने अपनी स्थिति को सुगठित कर रखा था। जैन धर्म के मूल संघ सरस्वतीगच्छ तथा बलात्कारगण उज्जैन में पल्लवित हुए।[३] मूल संघ की पटावलियां यह सूचना देती हैं कि मालवा के भदलपुर में २६ जैन आचार्य निवास करते रहे। ऐसी मान्यता है कि मूल संघ के २७वें जैन आचार्य ने अपना स्थान भदलपुर से बदलकर उज्जैन कर लिया था। उसमें से उक्त कथित सरस्वतीगच्छ और बलात्कारगण का उदय हुआ। इसी काल में सिंह नन्दी नामक

---

१. मित्र देवला : सांची पृ० ४५-४६.

२. वही.

३. मा० ब्रू० ए०, पृ० ४००.

भट्टारक का संबंध मालवा से आया है ।[१]

साहित्य के माध्यम से काल में जैन मंदिरों के निर्माण की परम्परा का ज्ञान होता है । सन् १९३३ ई० में देवसेन ने दक्षणसार नामक एक ग्रंथ धार के पारसनाथ मंदिर में लिखा । निश्चित ही यह मंदिर इस तिथि के पूर्व का रहा होगा ।[२] बड़ोह में ९वीं शताब्दी का जो जैन मंदिर है । वह दीर्घ एवम् आयताकार है । उसमें लगभग २५ जिन् प्रतिमाएं हैं, जो ९वीं शताब्दी से लेकर १२ वीं शताब्दी तक निर्मित होती रहीं । इस कारण कुछ प्रतिमाओं को आच्छादित करने वाली छत चपटी है, अन्य पर शिखर है ।

ग्यारसपुर :—ग्यारसपुर में दो मंदिर ऐसे हैं जिनमें इस समय जैन प्रतिमाएं विद्यमान हैं । पुराविदों का यह कथन है कि ये वस्तुतः ब्राह्मण मंदिर हैं । इनमें यत्र तत्र बिखरी हुई जैन मूर्तियां लाकर रख दी गई और इस कारण इन्हें भूल से जैन मंदिर मान लिया गया । इन मंदिरों में से एक तो है वाजियामठ, जो मुख्य पहाड़ी की तलहटी पर बसा है और दूसरा है मालादेवी का मंदिर जो पहाड़ी के दक्षिणी पूर्वी छोर पर स्थित है ।[३] वाजियामठ निश्चित ही जैन मंदिर नहीं है क्योंकि प्रवेश द्वार पर ब्राह्मण देवी-देवता उत्कीर्ण हैं । ये ही देवी-देवता मंदिर के आसपास की दीवारों तथा शिखरों पर भी प्रतिमाओं के रूप में विद्यमान हैं । अतः इसे जैन मंदिर मानना उपयुक्त नहीं है ।

मालादेवी का मंदिर निश्चित रूप से एक अत्यन्त भव्य एवम् अभूतपूर्व कृति है । इसे मनुष्य एवम् र

मालादेवी का मन्दि·

१. मा०ग्र०ए०, पृ० ४००; इ० ए०, २१, पृ० ५८; क०हे०म०भा०, पृ० ११०-११.
२. के०टे० आफ संस्कृत एंड प्राकृत मैन्यू० इन सी०पी० एंड वरार, पृ ६५२.
३. क०हे०मा०भा०, पृ १०६-०७

प्रकृति ने मिलकर बनाया है। मंदिर का बायां पार्श्व पहाड़ी चट्टानों से प्राकृतिक रूप में निर्मित है। दाहिने पार्श्व एवम् मंदिर का अधिकांश भाग पत्थरों से निर्मित मानव कृति है। दोनों ही स्थितियों का वास्तुविदों ने अत्यन्त ही सुनियोजित रूप से मंदिर के रूप में साकार किया है।

बड़ोह, तुमेन, ग्वालियर, महुआ और तेरही में प्रतिहार शैली के मंदिर दिखाई देते हैं। तेली के मंदिर को छोड़कर इस शैली का सर्वोच्च परिपाक हमें मालादेवी के मंदिर के रूप में दिखाई देता है। यद्यपि मूल मंदिर अब जर्जर होकर काफी अधिक बिखराव की स्थिति में है किन्तु अपने स्थापत्य वैभव के कारण निश्चित ही प्रभावित करता है। पहाड़ी के एक छोर पर अत्यन्त सुरम्य प्राकृतिक वातावरण में स्थित इस मंदिर की रक्षा के लिये वास्तुकारों के पहाड़ी के एक क्षरण को रोकने के लिये एक प्रस्तर दीवार बनाकर मंदिर के आधार को पर्याप्त सुरक्षित किया था। मंदिर वास्तुकला की दृष्टि से ९वीं शताब्दी में निर्मित है और चट्टानों से काटे हुए विशाल आधार पर खड़ा है। मंदिर के सामने एक पोर्च है, फिर एक बड़ा मण्डप है, उपरान्त दर्शनीय अन्तराल एवम् उसके बाद गर्भगृह है। इस गर्भगृह के आसपास प्रदक्षिणा-पथ है, जिसका बांया भाग पहाड़ी में से काटकर बनाया गया है।

मंदिर के प्रवेश द्वार पर चक्रेश्वरी की दर्शनीय मूर्ति है। जहां तक मंदिर वास्तुकला का प्रश्न है, उसकी योजना प्रतिहार शैली की त्रिरथ है। जहां तक उसके शिखर का सवाल है, वह पंच भूम्यात्मक है। मण्डप के ऊपर की छत का बाहरी भाग अत्यधिक अलंकृत है और प्रस्तरों के परस्पर संयोजन का भव्य उदाहरण प्रस्तुत करता है। शिखर भी पूरी तरह अलंकृत है। उस पर आमलक और कलश विद्यमान हैं। किन्तु पोर्च और मण्डप की छत पिरामिड के आकार की है।[1]

मालादेवी के मंदिर की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि सारा मंदिर अनेकता से परिपूर्ण है। इसमें चारों ओर जिन प्रतिमाएं विद्यमान हैं। पुराविदों ने यह माना है कि चक्रेश्वरी की प्रतिमा क्योंकि जैन प्रतिमा नहीं है, अतः यह जैन मंदिर होना संदिग्ध है। किन्तु इस तर्क को मानने में निम्नलिखित आपत्तियां हैं:—

(१) यह आवश्यक नहीं कि चक्रेश्वरी की प्रतिमा कोई ब्राह्मण प्रतिमा हो। अनेक हाथों वाली यह प्रतिमा जैनधर्म से संबंधित भी हो सकती है। ठीक एक ऐसी ही देवी प्रतिमा उदयगिरि-खण्डगिरि की गुहाओं में उत्कीर्ण है। इन गुहाओं का संबंध निश्चित रूप से जैनधर्म से है। अतः चक्रेश्वरी की देवी प्रतिमा के आधार पर इसे ब्राह्मण धर्म का मंदिर मानना भ्रान्ति होगी।

(२) ग्यारसपुर के बाजियामठ गर्भगृह में भी जैन प्रतिमाएं विद्यमान हैं। सारे ही मंदिर में स्थायी रूप से ब्राह्मण धर्म की प्रतिमाएं परिलक्षित होने से उसे जैन मंदिर नहीं माना जा सकता, किन्तु मालादेवी के मंदिर के भीतर और बाहर ऐसी कोई प्रतिमा विद्यमान नहीं है जिसका संबंध ब्राह्मण धर्म से हो।

---

१. ए० रि० आ० डि० ग्वा स्टे०, (१९३२-३३).

(३) मंदिर के प्रवेश द्वार के स्तम्भों, आड़े आधार स्तम्भों तथा अनेक ताकों में चारों ओर जिन प्रतिमाएं दिखाई देती हैं। ये जिन् प्रतिमाएं मंदिर वास्तुकला का आवश्यक स्थायी हिस्सा हैं। मंदिर के गर्भगृह में जो स्वतंत्र मूर्तियां हैं, वे बाहर से लाई हुई हो सकती हैं, किन्तु ताकों में लायी हुई मूर्तियां आयातित निश्चित नहीं हो सकती हैं।

(४) वाजियामठ, मालादेवी का मंदिर, ग्यारसपुर में यत्र तत्र एवम् वहां के संग्रहालय में जो अनेक जैन मूर्तियां हैं, उनमें से कई परमार-पूर्व काल से संबंधित हैं। इस आधार पर यह सिद्ध होता है कि ग्यारसपुर में इस काल में अनेक जैन मंदिरों का निर्माण हुआ होगा। अतः इस संभावना से इन्कार नहीं किया जा सकता कि मालादेवी का मंदिर उनमें से एक हो।

उपर्युक्त आधारों पर मालादेवी के मंदिर को एक जैन निर्माण मानना सर्वथा युक्ति-युक्त एवम् समीचीन है।

शैव-स्थापत्य :—गुप्तों के पतन के बाद मालवा में शैव मत ने निर्विवाद रूप में बहुत प्रगति की। राष्ट्रकूट, गुर्जर-प्रतिहार आदि शक्तियां, जिनका मालवा और आसपास के क्षेत्र पर पर्याप्त प्रभाव रहा, मालवा में ही शैवमत के जो चार प्रमुख सम्प्रदाय पर्याप्त पल्लवित रहे, जिनके नाम हैं शिव, पाशुपत, कालदमन और कापालिक।[१] इन सब में सातवीं शताब्दी के बाद पाशुपत सम्प्रदाय अत्यधिक लोकप्रिय रहा। विक्रम संवत् ७६७ का इन्दरगढ़ अभिलेख विनीत-राशि नामक एक पाशुपत गुरु और दान-राशि नामक उसके शिष्य का उल्लेख करता है।[२] शेरगढ़ के सोमनाथ मंदिर में शैव भट्टारक निवास करते रहे। से पूरी तरह विरक्त थे। भट्टारक नागनक ने तो दिगम्बरत्व ग्रहण कर लिया था।[३]

उज्जैन कापालिकों का गढ़ था। ये भैरव के उपासक थे और तंत्र साधना करते थे। शंकर दिग्विजय में उल्लेख है कि जगतगुरू शंकराचार्य ने इन्हें शास्त्रार्थ में पराजित किया था।[४]

मालवा में शैव मत का मत्तमयूर सम्प्रदाय भी प्रभावशाली स्थिति में रहा। मत्तमयूर संप्रदाय के सन्त कलचुरियों के राजगुरु थे। उपेन्द्रपुर, मत्तमयूरपुर, कदंबगुहा, तेरम्बी, आमर्दकतीर्थ, सियादोनी, कुण्डलपुर आदि इस सम्प्रदाय के प्रमुख गढ़ थे।[५] जो शैव आचार्य जहां रहता था वह स्थान उसके नाम से पुकारा जाता थां, जैसे उज्जैन का आमर्दकतीर्थ मत्तमयूर शैवचार्य आमर्दकतीर्थ-नाथ के नाम से प्रसिद्ध था।

परमारों से पूर्व काल की अनेक शिव मूर्तियां शेरगढ़, उज्जैन, भोजपुर, उदयपुर. मांधाता व निमावर में प्राप्त हुई हैं। सातवीं से ९वीं शताब्दी के शैव मंदिरों के दर्शन झालरापाटन, इन्दरगढ़, मौड़ी, महुआ,

---

१. मा० श्रू० ए०, पृ० ४१०.
२. इं० हि० क्वा०, ३१, पृ ९९, इ० इं० ३२, पृ० ११२.
३. इ० इं० १३, पृ० १३९.
४. एज० आफ इम्पीरियल कन्नौज, पृ० ३०३.
५. मा० श्रू० ए०, पृ० ४१२.

तेरही, बड़ोह, कागपुर और ग्यारसपुर आज भी होते हैं। शैव विहारों के अवशेष कड़वाह, तेरही आदि स्थानों पर उपलब्ध हुए हैं। इन्दरगढ़, झालरपाटन, महुआ आदि स्थानों के अभिलेख वहां शेष मंदिरों के निर्माण की चर्चा करते हैं।[1] अतः यह निष्कर्ष निकालना सहज है कि ये समस्त स्थान मालवा क्षेत्र में शैव मत के प्रमुख केन्द्र रहे। इन स्थानों पर पुरातत्वीय सामग्री के आधार पर शैव मंदिर के स्थापत्य के बारे में बहुत-सी प्रामाणिक जानकारी प्राप्त होती है।

झालरापाटन, कड़वाह, तेरही, महुआ आदि स्थानों पर बने शैव मंदिर यद्यपि आज मालवा क्षेत्र से बाहर माने जाते हैं किन्तु वे मालवा के सीमान्त पर बने होने से एवम् मालवा के सांस्कृतिक तथा राजनैतिक प्रभाव मे होने से ये मालवा के तत्कालीन मंदिर-स्थापत्य का सच्चा दिग्दर्शन कराते हैं। झालरापाटन का सीतलेश्वर महादेव मौर्यों के शासनकाल में सातवीं शताब्दी की कृति है। सन् ६८९ के लगभग देव के भाई वौप्पक ने मौर्य शासक दुर्गगण के शासन काल में इस मंदिर का निर्माण करवाया।[2] वौप्पक दुर्गगण का एक उच्च अधिकारी था। दुर्गगण के उपरान्त मौलराज शंकरगण ने आठवीं शताब्दी में सीतलेश्वर महादेव के दर्शन किये थे।[3] यही स्थिति नवीं शताब्दी में मौसुक के पुत्र मेनचुक की रही।[4] इन मौर्य राजाओं द्वारा मंदिर निर्माण एवम् उसकी व्यवस्था के लिये दिये गये दान एवम् संरक्षण का उल्लेख सीतलेश्वर महादेव के स्तम्भों पर उत्कीर्ण है।

सीतलेश्वर महादेव का मंदिर :—सीतलेश्वर महादेव का मंदिर नागरशैली में है। यह मंदिर एक ओर राजस्थान के औसिया के मंदिरों और दूसरी ओर पठारी, बड़ोह, एवम् ग्यारसपुर के मंदिरों की कड़ी माना जा सकता है।[5] मंदिर पंचायतन है, जिसमें मुख्य देवता का मंदिर सम्मिलित है। योजना में यह मंदिर पंचरथ है। यह मंदिर शिखरयुक्त है तथा इस तरह देवगढ़, सिरपुर तथा नचना कुठार की परम्परा को आगे बढ़ाता है। शिखर पठारी के मंदिर की भांति रेखीय शैली का है। मंदिर के गर्भगृह के पार्श्व में ताकयुक्त अलंकरण पट्टी शिखर की ओर चली जाती है। मंदिर का प्रक्षेपित भाग एक अर्ध-मण्डप के रूप में हुआ है। इस तरह शिखर एक गतिक्रम के लिये हुए उर्ध्वमुखी होते हुए आमलक तक चला गया है। महुआ, कड़वाह और तेरही तीनों ही परस्पर निकटवर्ती स्थल इस काल के काफी मंदिर आत्मसात् किये हुए हैं। महुआ में जो दो शैव मंदिर हैं, इन्हें ८वीं शताब्दी का माना गया है। यहां के छोटे महादेव मंदिर में संस्कृत भाषा में एक अभिलेख अर्ध-मण्डप के चौखट के ऊपरी भाग पर उत्कीर्ण हैं। इस कारण सहज ही इसका महत्व बढ़ गया है। मंदिर के अर्ध-मण्डप और गर्भगृह अभी भी विद्यमान हैं। गर्भगृह पर स्थित शिखर लुप्त हो चुका है। गर्भगृह की बाहरी दीवरों पर कुछ आकर्षक अलंकरण एवम् प्रतिमाएं उत्कीर्ण हैं।[6]

---

१. मा० ग्र० ए०, पृ० ४०५.
२. इंडियन ऐंटिक्वेरी, ५, पृ० १८२.
३. एन्युअल रिपोर्ट आफ राजपूताना म्यूजियम, अजमेर, (१९१२-१३), पृ० २.
४. प्रोग्रेस रिपोर्ट आफ द आर्कोलाजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न सर्कल (१९०५-०६), पृ० ५६.
५. फर्ग्युसन जेम्स : हिस्ट्री आफ इण्डियन एण्ड इस्टर्न आर्किटेक्चर, पृ० ४४९.
६. एन्युअल रिपोर्ट आफ आर्कोलोजिकल डिपार्टमेन्ट, ग्वालियर स्टेट (१९२३-२४).

महादेव का बड़ा मंदिर शिखरयुक्त है। यह शिखर झालरापाटन के शिखर के निकट बैठता है। संभवतः छोटे महादेव के मन्दिर का शिखर भी ऐसा ही होगा। बड़े महादेव मंदिर के अर्धमण्डप और मण्डप अब अस्तित्व खो बैठे हैं।

महुआ से अतिनिकट लगभग १०५ किलोमीटर की दूरी पर तेरही में कई मंदिरों एवम् एक हिन्दू विहार के अवशेष विद्यमान है। निकटवर्ती ग्राम रानोद से प्राप्त एक अभिलेख के अनुसार तेरही का प्राचीन नाम 'तेरंभी' था। यहां हर्षकाल की कई पुरा-सामग्रियां प्राप्त होती हैं। प्रतिहारों के समय का एक छोटा सा मंदिर यहां विद्यमान है। इसका गर्भगृह पंचरथ है। सामने द्वार-मण्डप है। प्रवेश द्वार के आसपास ताकों में द्वारपाल की प्रतिमाएँ हैं। मंदिर की बाह्य दीवारों पर जो ताक हैं, वे अलंकरणयुक्त हैं।[1]

कड़वाहा भी एक निकटवर्ती ग्राम है इसका प्राचीन नाम कदम्बगुहा था। यह मत्तमयूर शैव सम्प्रदाय का एक प्रमुख गढ़ था। यहां कई शिव मंदिरों के अवशेष प्राप्त हुए हैं। इन्हें १०वीं शताब्दी का माना गया है। इनमें जो सबसे सुरक्षित मंदिर है, उसका गर्भगृह पंचरथ है। मध्यभारत के अन्य कई मंदिरों की भांति इसमें भी सभामण्डप नहीं है। मंदिर नागरशैली में है। सूच्याकार रूप में शिखर उर्ध्वमुखी ही बढ़ता चला गया है।[2]

झालरापाटन, ग्वालियर और देवगढ़ के मंदिरों का शिल्प मालवा के विदिशा जिले के पठारी एवम् बड़ोह ग्यारसपुर के मंदिर शिल्प से भिन्न नहीं है। ऐसा लगता है कि ओसिया से सिरपुर तक और देवगढ़ से विदिशा तक इस काल की मन्दिर वास्तुकला लगभग एकसी थी और नागर शैली में पंचायतन प्रकार का प्रतिनिधित्व करती थी। गर्भगृह पंचरथ प्रकार के और शिखर सूच्याकार रेखीय शैली के थे। अर्ध-स्तम्भ द्वारा विभाजित की गई बाड़ अलंकृत ताकों से युक्त हो सभी मंदिरों में उनके स्थापत्य का अपरिहार्य अंग बनी हुई थी। अलबत्ता स्तम्भ युक्त सभामण्डप का होना प्रत्येक मन्दिर के लिये अनिवार्य नहीं था।

इस सारे मन्दिर साम्राज्य में केवल कुछ मन्दिर निश्चित रूप से अपवाद बनकर खड़े थे, जिसमें एक ग्वालियर का तेली का मन्दिर था। इसकी अपनी नितांत भिन्न शैली थी। इस दृष्टि से वह दक्षिण के द्राविड़ शैली के मन्दिरों के अधिक निकट चला गया है। जो स्थान उत्तर भारत में विशिष्ट शैली के रूप में ग्वालियर के तेली के मन्दिर का है, वही स्थान पूर्वी भारत में भुवनेश्वर के वैताल देवुल को प्राप्त है।[3] मन्दिर यदि नागर शैली के नहीं हैं, तो वेसर शैली के भी नहीं हैं। इन्हें द्राविड़ शैली से स्पष्ट प्रभावित माना जा सकता है।

बड़ोह का गाडरमल मन्दिर मूलतः किस देवता से संबंधित था, यह कहना कठिन है। विदिशा जिले में स्थित बड़ोह का प्राचीन नाम वटोतक अथवा वटनगर माना गया है। गाडरमल मन्दिर के दो स्पष्ट भाग हैं,

---

१. कृष्णदेव : टेम्पल्स आफ नार्थ इंडिया, पृ० २२, पृ० ५.
२. के० हे० म० भा०, पृ० ६१.
३. स्ट्रगल फार एम्पायर, पृ० ५५५-५६.

जो भिन्न-भिन्न समयों के हैं। मन्दिर का जो निम्न भाग है उसमें पीठ, अर्धमण्डप आदि सम्मिलित हैं। नवीं शताब्दी में मूल मन्दिर के रूप में ये निर्मित हुए थे। वर्तमान में स्थित शिखर मूल शिखर के गिर जाने से पुनः निर्मित करवाया गया था। इस शिखर में अनेक ब्राह्मण व जैन मन्दिरों की अवशिष्ट सामग्री का प्रयोग किया गया है।[1]

मन्दिर अपने मूल रूप में अत्यन्त भव्य एवम् विशाल था। इसकी पीठ व्यापक है तथा जंघाएं विभिन्न कोणीय स्थितियों तथा देवी देवताओं की मूर्तियों के लिये सुरक्षित अलंकृत ताकों से युक्त हैं। मुख्य मन्दिर के आसपास विशाल चबूतरे पर ही सात सहयोगी देवताओं के मन्दिर भी विद्यमान थे। द्वार-मण्डप के सामने एक भव्य अलंकृत एवम् अत्यधिक आकर्षक तोरण द्वार था जो लगभग अब समाप्त हो चुका है।

मंदिर का गर्भगृह आयताकार-सा है। इस दृष्टि से गाडरमल मंदिर ग्वालियर के तेली के मंदिर के निकट है। तेली के मंदिर के समकक्ष मंदिर की अत्याधिक निकटता में स्थित इस मंदिर में शिखर को भी स्वीकार किया है। इस तरह यह मंदिर समूचे उत्तर भारत में अपनी विशेषता रखता है। इसने आयताकार गर्भगृह को ग्रहण कर तेली के मंदिर का अनुकरण करते हुए एक ओर दक्षिण भारतीय मंदिर शिल्प कला को ग्रहण किया है। शिखर एवम् पंचरथत्व को स्वीकार करते हुए दूसरी ओर उसने नागर शैली को भी उद्भासित किया है। इस प्रकार का संयोजन अन्यत्र दुर्लभ है। मंदिर की भित्तियों पर जो मूर्तियों के अवशेष अपनी पहिचान लेकर झांकते हैं, उनसे ज्ञात होता है कि यह मंदिर मूलतः ब्राह्मण धर्म से संबंधित मंदिर था। अधिक संभावनाएं इसके शैव, सूर्य अथवा योगिनियों के मंदिर होने की हैं।[2] सभामण्डप न होने का अभाव निश्चित ही मन्दिर निर्माताओं और वास्तुकारों को खला होगा। संभव है इस अभाव की पूर्ति के लिये पृथक् से निकट ही सभामण्डप बनाया गया होगा।

बड़ोह में सोलह खंभा के रूप में एक बड़े कक्ष के अवशेष प्राप्त हुए हैं। ये सोलह खम्भे चार-चार खम्भों की चार पंक्तियों के एक ऊंचे चबूततरे पर खड़े हैं। इन पर एक समतल छत है। कक्ष खुला हुआ है। ये स्तंभ अत्यधिक आकर्षक, कलात्मक एवम् अलंकरण युक्त हैं। इनका समय ८वीं अथवा ९वीं शताब्दी का है। सोलह खम्भों वाला यह कक्ष संभव है किसी अन्य मंदिर का मण्डप या सभागृह होगा क्योंकि इससे जुड़े हुए किसी मंदिर के प्रमाण बड़ोह में उपलब्ध नहीं है।[3] मालवा क्षेत्र में ग्यारसपुर और उदयपुर में भी ऐसे स्तम्भ हैं जो बहुत कुछ उक्त धारणा को प्रश्रय देते हैं।

सातमढ़ी मंदिर एक मंदिर समूह है। संभवतः ये सात मंदिर थे जिनमें से केवल छः ही अब विद्यमान हैं। ये मदिर लगभग अन्तिम हिचकियां ले रहे हैं। ये शैव एवम् वैष्णव मत के सामनजस्य का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इन मंदिरों में कुछ प्रतिमाएं शैव मत से और कुछ प्रतिमाएं वैष्णव मत से संबंधित थीं।[4] इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि गाडरमल मंदिर के सहयोगी सात आयतन भी कुछ इसी प्रकार के सामंजस्य का प्रस्तुतीकरण कर रहे होंगे। यद्यपि इस विषय पर निर्णयात्मक कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

---

१. के० हे० म० भा०, पृ० १०९-११०.
२. वही.
३. वही.
४. वही, पृ० १११.

पठारी में जो शिव मंदिर के अवशेष हैं, वे नवीं शताब्दी के हैं। पठारी के एक स्तम्भ लेख से विदित होता है कि यह क्षेत्र राष्ट्रकूटों के प्रभाव में रहा था।[1]

ग्यारसपुर का बाजिया का वज्रमठ निश्चित ही ब्राह्मण धर्म से संबंधित मंदिर है। यह मंदिर तीन कक्षों में विभक्त है और नवीं अथवा दसवीं शताब्दी का है इस मंदिर के उत्तरी कक्ष में शिव की मूर्ति प्रतिस्थापित रही होगी।[2] अब यहां जैन मूर्ति दिखायी देती है। ग्यारसपुर में भी एक अठ-खम्भा है। वन वल्लरियों और नारी वल्लरियों से युक्त इस अद्वितीय खष्टखम्भे के माध्यम से आठ अत्यधिक अलंकृत स्तम्भ देखे जा सकते हैं। इस स्तम्भों से जुड़ा उतना ही अलंकृत चौखट इस बात का प्रमाण देता है कि यहां कभी एक विशाल मंदिर विद्यमान था। दो स्तम्भ अन्तराल का द्योतन करवाते हैं। अन्तराल की चौखट पर शिव, ब्रह्मा, विष्णु, गणपति और सप्त-मातृकाओं की प्रतिमाएं हैं। इस तरह हम देखते हैं कि बड़ोह, पठारी तथा ग्यारसपुर में नवीं और दसवीं शताब्दी में शैव, वैष्णव एवम् शाक्त सतों के बीच सुन्दर सामंजस्य का एक मधुर अध्याय लिखा जा रहा था।

नवीं और दसवीं शताब्दी के शैव निर्माणों की चर्चा करते हुए नेमावर के सिद्धेश्वर मन्दिर का अध्ययन करना अत्यन्त समीचीन एवम् अपरिहार्य हो जाता है। कई इतिहासकारों एवम् पुराविदों की धारणा है कि यहां के मन्दिर ११वीं शताब्दी के परमारकालीन हैं।[2] किन्तु इन्हें निम्न आधारों के कारण इन्हें परमार काल से पूर्ववर्ती मानना होगा :—

(१) सिद्धेश्वर मन्दिर एक भिन्न निर्माण शैली का प्रतिनिधित्व करता है। यद्यपि वह भूमिज शैली में है किन्तु इससे वह परमारकालीन नहीं हो जाता। शिखर और गर्भगृह के बीच जो बहु-स्तरीय शिखर आधार दिये गये हैं, उनका प्रारंभ के मन्दिरों में अभाव है। इस प्रकार यह मन्दिर परमार मन्दिरों की भांति प्रदक्षिणा पथ युक्त नहीं है।[3] इस कारण इस मन्दिर को हम ऐसा भूमिज मन्दिर मान सकते हैं जिससे या जिसकी शैली से परमार निर्माता निकट प्रेरणा ले रहे होंगे। इस तीव्र शैली-गत वैभिन्य के कारण अनेक विद्वानों ने इसे उत्तर-परमारकालीन मान लिया है।

(२) निमावर का उल्लेख अलबरुनी में अपने भारत भ्रमण में किया है। इस आधार पर भी नेमावर का यह शैव मन्दिर १०वीं शताब्दी के बाद का नहीं बैठता। तब तक परमारवंश न तो इतना सशक्त हो पाया था और न ही सम्पन्न कि इतने भव्य और अद्वितीय भारत-प्रसिद्ध मन्दिर का निर्माण करवा सकता। यह भी कहा गया है कि सिद्धेश्वर मन्दिर कला की दृष्टि से नीलकण्ठेश्वर मन्दिर के बहुत पीछे होने से ढलती हुई परमारकाल का प्रतिनिधि होते

---

१. के० हे० म० भा०, पृ० १११.

२. एन्यूअल रिपोर्ट आफ आर्कोलाजिकल डिपार्टमेण्ट आफ ग्वालियर स्टेट (१९३२-३३); मा०भ्र०ए०; पृ० ४३१-३३.

३. प्रोग्रेस रिपोर्ट आफ आर्कोलाजिकल सर्वे, वेस्टर्न सर्कल (१९२१) पृ० ९८, कृष्णदेव : टेम्पल्स आफ नार्थ इंडिया (संबंधित अंश).

हुए १२वीं शताब्दी का है। पर इसी तर्क के आधार पर इसे परमार काल के प्रारंभ का भी तो माना जा सकता है।[1]

सिद्धेश्वर के मन्दिर में एक गर्भगृह उसके सामने महामण्डप और मण्डप के सामने द्वार-मण्डप है। मन्दिर का मूल मण्डप गर्भगृह के अतिरिक्त तीन दिशाओं में तीन प्रवेश द्वारों से युक्त है। यहां यह बात विचारणीय है कि मन्दिर के गर्भगृह और शिखर जहां पोलापन लिये भूरे चुनार पत्थर के बने हैं, वहां मण्डप का निर्माण नीले चुनार पत्थर से किया गया है। इस आधार पर यह कल्पना की गई है कि संभवतः गर्भगृह व शिखर का निर्माण दशवीं शताब्दी में और मण्डप का निर्माण ११वीं शताब्दी में हुआ।[2] किन्तु सूक्ष्म परीक्षण करने पर यह धारणा असिद्ध होती है। यह सही है कि मंदिर का जीर्णोद्धार समय-समय पर होता रहा होगा जैसा कि मंदिर के मण्डप की छत के ऊपर हुए निर्माण से स्पष्ट है। किन्तु दो भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रस्तरों का प्रयोग यह सिद्ध नहीं करता कि मंदिर के दो भागों की निर्मिति विभिन्न समयों में हुई। यदि गर्भग्रह पहले बना होता तो उसके सामने निश्चित ही कोई द्वार-मण्डप अथवा अर्ध-मण्प बना हुआ होता। उसे बाद में तुड़वा कर ही मण्डप का निर्माण किया गया होता, किन्तु ऐसे कोई प्रमाण वहां उपलब्ध नहीं हैं। इसके विपरीत मण्डप और गर्भगृह स्थापत्य शैली के रूप में इतना अधिक गणितीय सामंजस्य रखते हैं कि वे एक दूसरे के अपरिहार्य पूरक दिखाई देते हैं।

कुल मिलाकर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जब परमार स्थापत्य अपने यौवन में प्रवेश कर रहा था, उससे लगभग एक शताब्दी पूर्व सिद्धेश्वर महादेव का मन्दिर मण्डप-सहित अस्तित्व में आ चुका था। मन्दिर के निर्माताओं ने कठिनता से उपलब्ध पत्थर को अपने देवता के मूल गृह के लिए चुना और निकट काफी मात्रा में पाये जाने वाले नीले चुनार को मण्डप निर्मित के लिये प्रयुक्त किया। प्रस्तर संयोजन की इस विशेषता को कालमान के आधार पर भंग न किया जाकर सम्पूर्ण मंदिर को एक ही समय का माना जाना चाहिये। यही कारण है कि जितनी गरिमा, विशिष्टता, अलंकरणता एवम् विशालता शिखर के निर्माण में बन पायी है, वे ही सारी उतने ही सहज और आकर्षक रूप से मण्डप निर्माण में भी आ पायी हैं। इसी सहज एकरूपता ने नेमावर के मंदिर को भारत भर में प्रसिद्ध किया है। चूकि यह उल्लेखनीय मंदिर बहुत कुछ परि-पूर्णता एवम् विभिन्न अंगों के पारस्परिक गुम्फन को अभी भी लगभग पूरी तरह सुरक्षित किये हुए है, अतः इन निष्कर्षों को निकालने के बारे में कहीं शंकाओं की संभावना नहीं रह पाती है।

मंदिर के सामने के प्रवेश द्वार में चैत्य नुमा खिड़कियां हैं, जो गर्भगृह की ऊपरी कार्निस से लगा-कर शिखर पर विद्यमान आमलक तक चली गई हैं। गर्भगृह में जो अलंकरण हैं, वे लगभग वैसे ही हैं जैसे कि खजुराहों में कण्डरिया महादेव के मंदिर के गर्भगृह में हैं। यह एक अतिरिक्त प्रमाण है कि जो सिद्धेश्वर महादेव को कण्डरिया महादेव के मंदिर का समकालीन बनाता है। मंदिर की पीठ पर कीर्ति-मुखों का एक आड़ा सिलसिला है। इससे कुछ ऊपर मंदिर जंघा पर ताकों की पंक्तियां है, जिनमें देवी अथवा अर्ध-देवी शक्तियों की प्रतिमाएं बिठाई गयी थीं। खजुराहों के मंदिरों की भांति ही सिद्धेश्वर के मंदिर के ताक और कोण मूर्तियों से भरे पड़े हैं। इन प्रतिमाओं की संख्या ९९ बतायी गयी है। अधिकांश प्रतिमाएं शैव मत से

१. मा० ध्रू० ए०, पृ० ४४३.
२. इ० स्टे० ग०, पृ० ४८-५३.

संबंधित हैं। इन प्रतिमाओं में चर्तुमुखी शिव, ताण्डव नृत्य करते हुए शिव षोडष हाथों वाले अंधकान्तक, सूर्य भैरव, ब्रह्मा-ब्रह्माणी, षोडष हाथों वाली महिषा-सुर-मर्दिनी तथा चर्तुहस्तिनी देवी की प्रतिमाएं उल्लेखनीय हैं। शिखर के सामने चैत्यनुमा खिड़की में जो ताक हैं, उसके आसपास आम्र वृक्ष का अलंकरण भी दर्शनीय है। मण्डप के तीन ओर प्रवेश द्वार दो स्तम्भों और दो अर्धस्तम्भों से युक्त हैं। यह स्तम्भ न केवल सजीले हैं अपितु प्रवेश द्वार के सारे परिवेश को भरपूर अलंकरणता दे देते हैं। इन प्रवेश द्वारों पर जो चौखट हैं, वे भी कम अलंकृत नहीं हैं, आकर्षण के मान से ये आबू के दिलावरा स्थित जैन मंदिरों का अलंरण का आभास देने लगते हैं। मण्डप वर्गाकार हैं। मण्डप और गर्भगृह के बीच अन्तराल है। अन्तराल के सामने दो स्तम्भ हैं जो मण्डप के अन्य दस स्तम्भों की भांति मण्डप के आधार का काम करते हैं। मण्डप के दस स्तम्भों में से दो सामने की ओर हैं। शेष आठ स्तम्भ चार-चार की दो पंक्तियों में विभक्त हैं। इन स्तम्भों में बड़े ताक हैं जिनमें शिवगण की प्रतिमाएं हैं। मण्डप के मध्य के छो-टेछोटे स्तम्भों को अत्यधिक अलंकृत प्रस्तर जाली से संयुक्त किया गया है। उन्हें जोड़ने वाले आड़े स्तम्भ भी बेहद अलंकृत हैं। इन आड़े चतुष्कोणीय स्तम्भों पर एक अष्टकोणात्मक फ्रेम है जो एक अन्य सोलह-कोणात्मक फ्रेम से जुड़ी है। मण्डप का गुम्बद गोल और कमलाकार है। मण्डप का यह गुम्बद फूल-पत्तियों, कमलों, कीर्ति-मुखों तथा नारी प्रतिमाओं से सज्जित है। स्तम्भों, अर्धस्तम्भों एवं चौखट द्वारा निर्मित ताकों में ब्रह्माणी, माहेश्वरी, कीर्तिकेयनी एवम् वैष्णवी की प्रतिमाएं बायीं ओर तथा वाराही, इद्राणी, चामुण्डा और महादेवी की प्रतिमाएं दाहिनी ओर उत्कीर्ण हैं। मध्यवर्ती ताक में चर्तुहस्ती शिव दो हाथों में वीणा, एक हाथ में डमरू और शेष हाथ में खट्वांग लिये हुए है। नीचे नन्दी उत्कीर्ण है। चौखट के ऊपर अलंकरण में गणेश की प्रतिमा है। मण्डप के तीन ओर ताकों की दो आड़ी अलंकरणयुक्त पंक्तियां हैं, जिनमें विभिन्न देवी-देवताओं की प्रतिमाएं स्थापित की गई हैं। इन प्रतिमाओं में ब्रह्मा-ब्रह्माणी, कार्तिकेयनी, वैष्णवी, नाग-अनन्त, गणेश, वरुण, इन्द्राणी और चामुण्डा की प्रतिमाएं उल्लेखनीय हैं। मण्डप का निचला भाग ३७॥ से० मी० तक पीले चुनार व शेष भाग नीले-चुनार पत्थर से निर्मित है।[1]

कुल मिलाकर मंदिर पर्याप्त भव्यता रखता है और अपने गर्भगृह में सिद्धेश्वर के लिंग को स्थापित किये हुए है। उसकी पूजा अब भी होती है। जिस विशाल आंगन में मन्दिर खड़ा है, वह कभी आयताकार रहा होगा। किन्तु इस समय वह दक्षिण में ३५.४० मीटर, पूर्व में २२.५० मीटर, उत्तर में २६.१० मीटर और पश्चिम में १८.६० मीटर है। मन्दिर के पास और भी कई मन्दिर सहयोगी निर्मितियां होंगी। आसपास मकान बन जाने से इस अध्ययन में व्यवधान आ गया है।[2]

नेमावर का मन्दिर मालवा के परमार काल से पूर्व के राजपूत स्थापत्य का अत्यधिक वैभवशाली प्रमाण है। यह मन्दिर निश्चित ही नगरशैली में निर्मित है और जहां एक ओर खजुराहो के मन्दिरों के निकट है, वहां दूसरी ओर अपनी वास्तु-परम्परा की छाप उदयपुर के नीलकंठेश्वर महादेव एवम् मकला के महाकालेश्वर मन्दिर पर छोड़ता दिखायी देता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सिद्धेश्वर महादेव का मन्दिर मालवा के मन्दिर वास्तुकला को एक निर्णायक मोड़ देता है तथा प्रतिहार और परमार मन्दिर शिल्प का आकर्षक संगम है।

वैष्णव वास्तु : शुंगकाल से मालवा में भागवत धर्म की जो लहर चली थी, वह शैवमत के समाना-

---

१. इ०स्टे०ग०, पृ० ४८-५३.

२. वही.

न्तर होती हुई है इस समय तक पर्याप्त पल्लवित हो गयी थी। यह तथ्य अत्यन्त ही स्पष्ट है कि बौद्ध धर्म जैसे पतन पाता गया, ब्राह्मण धर्म अत्यन्त तेजी से उभरता गया। विभिन्न ब्राह्मण मतों में शैव मत सबसे आगे था, किन्तु उसी का सहधर्मी होकर वैष्णव मत भी तेजी से उभरता चला गया। गुप्तोत्तर काल के वैष्णव मंदिर, ग्यारसपुर, तुमेन बड़ोह आदि स्थानों पर मालवा क्षेत्र में अपना अस्तित्व रखते हुए दिखाई देते हैं। पठारी में राष्ट्रकूट वंश के एक राजा परबल ने सन् ८६१ ई० में एक गरुड़ स्तम्भ खड़ा करवाया था। उसके अभिलेख से स्पष्ट है कि यहां विष्णु का एक मन्दिर बनवाया गया था।[1] धमनार में आठवीं शताब्दी की एक गुफा में विष्णु के शंख, चक्र, गदा और माला से युक्त एक विष्णु मूर्ति उत्कीर्ण की गई थी।[2]

विभिन्न पुराण, जो इस काल से संबंधित रहे, मालवा क्षेत्र में अनेक मन्दिरों के निर्माण की चर्चा करते हैं। स्कंदपुराण में उज्जैन के वैष्णव मन्दिरों की चर्चा शैव मन्दिरों के साथ अनेक बार आयी है।[3] इस प्रकार हम देखते हैं कि तत्कालीन मालवा में वैष्णव मत का भी काफी प्रभाव था। इस काल के प्रारंभिक वैष्णव मन्दिरों में ग्वालियर के निकट नरेसर का मन्दिर इसका अच्छा उदाहरण है। वहां इस काल का जो विष्णु मन्दिर है, वह वर्गाकार गर्भगृह वाला है। इसका शिखर त्रिभूमि तथा रेखीय शैली में है। ताकों पर देवी-देवता व स्तम्भों पर विभिन्न अलंकरण विद्यमान हैं।[4] यही स्थिति सन् ८७५ ई० में बनाये गये ग्वालियर के चतुर्भुज मन्दिर की है।[5] तुमेन ने भी ९वीं शताब्दी में एक ऐसा ही वैष्णव मन्दिर बनाया गया था। उसके अवशेष पर अब नया मन्दिर बना लिया गया है।[6] पास ही कागपुर में भी ८वीं और ९वीं शताब्दी के वैष्णव मन्दिरों के अवशेष बिखरे पड़ें हैं।[7] यद्यपि ये मन्दिर मालवा के सीमा पर स्थित है, किन्तु समकालीन मालवा के वैष्णव मन्दिरों के स्थापत्य एवम् उनके कला-वैभव को ठीक से अभिव्यक्त करते हैं।

मालवा क्षेत्र में तत्कालीन वैष्णव मन्दिरों के अस्तित्व का सिलसिला बड़ोह से प्रारंभ हो जाता है। जहां दशावतार का एक मन्दिर है। यह मन्दिर विष्णु के दस अवतारों की प्रतिमाओं से युक्त था और अब लगभग जीर्ण-शीर्ण हो चुका है। मन्दिर नवीं शताब्दी का माना जा सकता है। जैसा कि देखा जा चुका है कि सात मढ़ी नामक मन्दिर में शैव और वैष्णव दोनों ही मत सामंजस्य पूर्ण होकर अपने आराध्यों की प्रतिमाओं की पूजा अर्चना करते रहे।[8]

बड़ोह से लगा हुआ पठारी नामक ग्राम में एकाश्य स्तम्भ अभी भी विद्यमान है। स्तम्भ अधिकांश रूप में गोलाकार है। उसके ऊपर आमलक और शीर्ष है। इसे बेसनगर के शुंगकालीन हेलियोडोर के स्तम्भ का ताजा

---

१. इ०ई०, ९, पृ० २४८.
२. आ०स०इं० (१९०५-६) मा० भ्रू० ए०, पृ० ४१४.
३. अध्याय के अन्त में परिशिष्ट दृष्टव्य.
४. क० हे० म० भा०, पृ० ७९.
५. गद्रे एम०बी० : आर्कोलाजी इन ग्वालियर, पृ० ७८.
६. वही.
७. आ०स०इं० (१९२२-२३); पृ० १८५; (१९२३-२४), पृ० १३३.
८. वही.

संस्करण माना जा सकता है। अन्तर केवल इतना है कि जहां बेसनगर का गरुड़ स्तम्भ विभिन्न स्तरों पर विभिन्न कोणीय है, वहां पठारी का यह स्तम्भ गोलाकार है। यह गोलाकार स्तम्भ बेसर शैली की विशेषता मानी गयी है।[१] यह एक गरुड़-स्तम्भ है। बेसनगर की ही भांति यहां का मन्दिर भी लुप्त हो चुका है किन्तु पठारी के विष्णु मन्दिर की शैली के बारे में कुछ कल्पना की जा सकती है।

पठारी का स्तम्भ बेसरशैली का होने से दक्षिण भारतीय प्रभाव रखता हो, यह सहज है। अभिलेख से ज्ञात होता है कि विष्णु मन्दिर का निर्माण राष्ट्रकूट राजा परबल ने करवाया। स्वयं पठारी में भी एक छोटे शिव मन्दिर के अवशेष से नागरशैली से भिन्न शैली के दर्शन होते हैं। अत्यन्त ही निकटवर्ती बड़ोह में गाडरमल मन्दिर तथा कुछ अधिक दूरी पर स्थित ग्वालियर का तेली का मन्दिर इस बात का साक्ष देता है कि दक्षिण भारत से प्रभावित नागर शैली के कुछ तत्व लिये हुए, कतिपय मन्दिरों का निर्मांण मालवा एवम् उसके सीमान्त उत्तरी क्षेत्रों में हुआ था। इन आधारों पर हम यह कह सकते हैं कि पठारी का यह लुप्त मन्दिर भी इसी शैली में निर्मित हुआ होगा।

ग्यारसपुर के वैष्णव मन्दिर के अवशेप अध्ययन को रुचि और गांभीर्य प्रदान करते हैं। पूर्व में देखा जा चुका है कि अठखम्भा वाले स्थल पर जो विशाल मन्दिर था, इसमें वैष्णव प्रतिमाएं भी विद्यमान थीं। वाजियामठ का मन्दिर तीन कक्षों वाला था जिसके दक्षिण कक्ष में विष्णु की मूर्ति प्रतिस्थापित की गयी थी।[२] ग्यारसपुर का हिंडोला एक अत्यन्त ही दर्शनीय कलाकृति है। यह हिण्डोला अत्यन्त ही भव्य, आकर्षक एवम् अलंकृत है। हिण्डोला १०वीं शताब्दी के एक विशाल वैष्णव मन्दिर का प्रवेश द्वार रहा होगा। इस मन्दिर का मलवा वहां बिखरा पड़ा है और पुरातत्वविभाग द्वारा अब साफ किया जा रहा है। इस तोरणद्वार से स्पष्ट हो जाता है कि यहां विष्णु का जो मन्दिर विद्यमान था, वह पूर्व से पश्चिम तक ४५ मीटर लम्बा और उत्तर से दक्षिण तक लगभग २५.५० मीटर चौड़ा था। इसका गर्भगृह वर्गाकार था। इस पर एक भव्य शिखर अनेक श्रृगों से युक्त होकर आमलक तक चला गया था। गर्भगृह के सामने स्तंभयुक्त महामण्डप था। यह मण्डप तीन ओर से द्वार मण्डपों से युक्त था। मण्डप और द्वार-मण्डप अत्यधिक सजीले अलंकृत एवम् भव्य रहे होंगे। अवशेष से प्राप्त छत, स्तम्भ और अर्ध-स्तम्भों एवम् विभिन्न प्रतिमाओं से यह तथ्य आभासित होता है।[३]

घमनार का वैष्णव मन्दिर :—यह कहना बड़ा कठिन है कि घमनार की गुफाओं का कितना भाग गुप्तकाल का है और कितना गुप्तोत्तर काल का। जहां बौद्ध गुफाएं स्पष्ट ही उत्तर गुप्तकाल की दिखायी देती हैं, वहां उन गुफाओं के उत्तर में स्थित धर्मनाथ की यह ब्राह्मणगुफा भी है। शैली के आधार पर यह कहना अन्यथा न होगा कि इसके निर्माण की प्रेरणा दक्षिणभारत में एलोरा में राष्ट्रकूटों द्वारा निर्मित कैलाश मन्दिर से मिली होगी, किन्तु स्थापत्य मूर्तिकला, अलंकरण और वैभव की दृष्टि से भी यह गुफा उसका साम्य नहीं रखती। साथ ही

---

१. क० हे० म० भा०, पृ० १११; क०आ०स०इ०, ७, पृ० ६४.
२. मा० थ्रू० ए०, पृ० ४३२.
३. क० हे० म० भा०, पृ० १०७-०८.

यह उत्तर भारतीय नागर शैली के भी कुछ निकट है, जबकि कैलाश मन्दिर पर पूरी तरह द्राविड़ शैली का प्रभाव है।

मन्दिर ५.१० मीटर लम्बे, १९.८० मीटर चौड़े और ९ मीटर गहरे पर्वतों को काटकर बनाये गये प्रांगण के मध्य खड़ा है। कैलाश मन्दिर की भांति एकाश्म है। उत्तर भारतीय मन्दिरों की ही भांति इसमें भी द्वार-मण्डप, मण्डप, गर्भगृह और शिखर हैं। मन्दिर सप्तायतन है। पांच छोटे मन्दिर मुख्य मन्दिर के आसपास तथा एक एक छोटे मन्दिर प्रागंण के उत्तर-पूर्व और दक्षिण-पूर्व कोणों पर स्थित हैं। प्रांगण के उत्तर-पश्चिम में मन्दिर तक पहुंचने के लिये सोपन मार्ग काटकर बनाया गया है।

यह मन्दिर मूलतः विष्णु को समर्पित है क्योंकि पृष्ठभाग पर जो मूर्ति है उसके हाथ में गदा, माला, शंख और चक्र हैं। प्रवेश द्वार की चौखट पर विष्णु और लक्ष्मी उत्कीर्ण हैं। मकरवाहिनी गंगा और कच्छप वाहिनी जमुना चौखट के पार्श्वों पर उत्कीर्ण हैं। नन्दी या कीर्ति-मुख के अभाव के कारण इसके शैव मंदिर होने की सम्भावनाओं को निरस्त किया गया है। कजिन्स ने इन समस्त आधारों पर इसका समय ८०० ई० माना है, जो उचित है।[1]

यद्यपि धर्मनाथ मूल रूप से एक वैष्णव गुफा रही है, फिर भी मन्दिर परिक्षेत्र में शिवलिंग, भैरव, काली, ताण्डव करते हुए शिव, नन्दी, गरुड, पार्वती, वैष्णवी, इन्द्राणी, ब्राह्मणी, लक्ष्मी आदि प्रतिमाएं होने से ऐसा ज्ञात होता है कि यह मन्दिर ब्राह्मण धर्म की विभिन्न शाखा-प्रशाखाओं का एक समन्वित केन्द्र रहा होगा।

नेमावर में सिद्धेश्वर मन्दिर के उत्तर में ऊंची पहाड़ी पर एक वैष्णव मन्दिर विद्यमान है। यह केवल गर्भगृह की छत तक बन पाया है। अतः इस मन्दिर का मण्डप और शिखर नहीं है। यह मन्दिर पीलापन लिये हुए भूरे चुनार पत्थरों का बना हुआ है। अन्तराल के स्तम्भ नीले चुनार पत्थर के बने हैं। मन्दिर की पीठ के आसपास आड़ी रेखा में कमल का अलंकरण, हाथियों की पंक्तियों तथा नृत्य करती हुई मानव मुद्राएं हैं। इनमें दो कीर्ति मुख भी हैं। पीठ के ऊपर मूर्तियुक्त ताकों की पंक्तियां हैं। इसके ऊपर पुनः कमल पांखुड़ियों का अलंकरण है। इस अलंकरण के ऊपर जो ताक है, उनमें विभिन्न देवताओं की प्रतिमाएं हैं। कुल मिलाकर ८८ प्रतिमाएं यहां दिखयी देती हैं। इन प्रतिमाओं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इनमें अधिकांश विष्णुगण की हैं। उनके हाथों में शंख, चक्र, गदा एवम् पद्म दिखाये गये हैं। विभिन्न प्रतिमाएं संभवतः विष्णु के २४ अवतारों को व्यक्त करने हेतु उत्कीर्ण की गयी होंगी। अन्तराल में नीली लाल झांई वाले चुनार पत्थर के दो अर्ध स्तम्भ हैं। ये स्तम्भ पर्याप्त अलंकृत हैं। अन्तराल की छत कमल पुष्प के अलंकरण से युक्त है। अन्तराल के सामने जो प्रस्तर चौखट है, उसके स्तम्भ भी फूलों और पत्तियों से अलंकृत हैं। अन्तराल में मानवाकृतियों द्वारा जो अलंकरण किया गया है, वह भी दर्शनीय है। प्रवेश द्वार पर उत्कीर्ण खड़े द्वारपाल एवम् अन्य विष्णु-गण दिखाई देते हैं। अन्तराल में ही माला लिये हुए उड़ते हुए विद्याधर भी दिखायी देते हैं। चौखट की ऊपरी ओर बद्रीनारायण, शिव, सप्त-मातृकाएं आदि उत्कीर्ण दिखायी देती है।

---

१. आ०स०इ० (१९०५-०६), पृ० ११२-११३; इ०स्टे०ग०, पृ० १८-१९, फर्ग्यूसन जेम्स : केव टेम्पलस आफ इंडिया, पृ० ४५०.

मन्दिर का गर्भगृह वर्गाकार है। उसके चार कोनों पर चार तमक हैं तथा तीनों ओर की दीवारों पर दो-दो वंधन हैं। इनसे गर्भगृह की चौखट छत को आश्रय दिया गया है। इनमें से प्रत्येक वंधन एक मगर के मुंह से निकला हुआ दिखाई देता है। कोने के वंधनों (ब्रेकेट) के नीचे गण उत्कीर्ण हैं। वर्गाकार चौखट पर वल्लरीयुक्त कीर्ति-मुख और कमल अलंकरण हैं। वर्गाकार छत पर पुनः इसी प्रकार के अलंकरणों से युक्त अष्टकोणीय चौखट है। इसके द्वारा कोनों पर जो त्रिकोण बनाये गये हैं, उनमें कीर्ति-मुख प्रदर्शित किये गये हैं।[१]

वे परिस्थितियां ज्ञात नहीं हो पायीं, तिनके द्वारा यह व्यक्त किया जा सके कि यह मन्दिर पूरी तरह बन क्यों नहीं पाया। स्यापत्य की दृष्टि से इस मन्दिर को सिद्धेश्वर मन्दिर का समकालीन मानना समीचीन होगा।

विविध सन्दर्भ :—वैष्णव मत के अतिरिक्त मालवा में ब्रह्मा, सूर्य, और शक्ति अन्य देवी-देवता की पूजा भी प्रचलित थी। ब्रह्मा की पूजा अधिक लोकप्रिय नहीं थी। ग्यारसपुर का वज्र मठ इस दृष्टि से अपवाद है। यह मन्दिर जो आजकल जैन मूर्तियों से युक्त है, वास्तव में यह एक ब्राह्मण मन्दिर था। एक कतार में तीन छोटे कक्ष बने हुए हैं, जिनमें दो कक्ष वर्गाकार हैं। मध्य के कक्ष का चौखट अत्यधिक अलंकृत है। उसका शिखर रेखीय पिरामिडीय पद्धति का है जो आमलक तक उठता चला गया है। मन्दिर की बाहरी दीवारें ब्राह्मण देवी-देवताओं की खण्डित मूर्तियों से खचित हैं। गर्भ-गृह के सामने जो वरामदा है वह स्तम्भयुक्त है। यह तीनों कोठरियों के सामने अविभाज्य रूप से स्थित है। मध्य का गर्भगृह ब्रह्मा की प्रतिमा के लिये सुरक्षित था।[२]

सूर्य की पूजा भी इस काल में मालवा में प्रचलित रही। सन् ८७८ में विदिशा में पोरवाल जाति के हटिआक नामक एक व्यापारी ने भैलस्वामी के मन्दिर के लिये जिस अक्षय-नीवि की स्वीकृति दी थी, उसके अभिलेख से ज्ञात होता है कि वह एक सूर्य मन्दिर था।[३] भैलस्वामी के मन्दिर के कारण ही विदिशा का नाम पूर्व में भेलसा हुआ।

ग्यारसपुर के वज्रमठ में जो खण्डित प्रतिमाएं दिखयी देती हैं, उनमें एक सात घोड़ों से हांके जाने वाले रथ पर सूर्य की प्रतिमा भी है।[४] स्कन्दपुराण इस बात का साक्षी है कि उज्जैन में भी सूर्य पूजा विद्यमान थी। नगर में प्रति वर्ष सूर्य देवता की रथ यात्रा निकलती थी।[५]

जहां तक शक्ति पूजा का प्रश्न है, इस काल में वह भी एक लोकप्रिय विद्या थी।

---

१. इ०स्टे०ग०, पृ० ५३-५५.
२. क०हे०मा०भा०, पृ० १०६.
३. इ०इं०, ३०, पृ० २१३.। इस अभिलेख से यह प्रमाणित होता है कि भैलस्वामी का मंदिर एक विशाल सूर्य मंदिर था, तथा निश्चित ही ९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक पूर्णता पा चुका था। कतिपय विद्वानों की इसे परमकालीन मानने की धारणा इस प्रकार असिद्ध हो जाती है।
४. क०आ०स०इं, १०, पृ० ७३.
५. अध्याय के अन्त में परिशष्ट दृष्टव्य.

पठारी में सप्त मातृकाओं का जो पेनल प्राप्त हुआ है, उसके अभिलेख से ज्ञात होता है कि जयत्सेन नामक एक राजा ने पांचवीं शताब्दी में इन्हें उत्कीर्ण करवाया था।[1] लक्ष्मी की प्रतिमाएं सांची के तोरणद्वारों पर स्तूप में दिखायी देती हैं। उदयगिरि की गुहाओं में महिषासुर मर्दिनी की प्रतिमा है। नरेसर, तेरही, सुहानिया, कागपुर आदि स्थानों पर देवी-प्रतिमाएं प्राप्त होती हैं।

ग्यारसपुर में तो मालादेवी का अत्यधिक प्रसिद्ध एवम् विशाल मन्दिर ही स्थित है, जिसका वर्णन किया जा चुका है।

बड़ोह के गाडरमल के मन्दिर से ज्ञात होता है कि यहां शक्ति पूजा अस्तित्व में रही। शक्ति प्रतिमाओं के आधार पर तो विद्वानों का एक मत इस प्रकार का है कि गाडरमल का मंदिर देवी का एक मंदिर था।[2] स्कन्दपुराण के वर्णन से ज्ञात होता है कि उज्जैन में देवियों के अनेक मंदिर विद्यमान थे, जिनमें नवदुर्गा और चौबीस मातृकाओं के मंदिर प्रमुख थे।[3]

गुप्तोत्तर काल के मन्दिर स्थापत्य का मालवा के परमार स्थापत्य पर गंभीर प्रभाव पड़ा। जब राष्ट्रकूट-प्रतिहार काल मालवा में समापन की ओर बढ़ रहा था, तब मालवा के ही अनेक क्षेत्रों में परमारों की प्रिय भूमिज शैली का विकास प्रारम्भ हो गया था। प्रारम्भिक परमारों ने प्रचलित शैली को कुछ समय अपनाया किन्तु अपनी स्वतंत्र शैली का विकास होते ही वे पूरे प्राणप्रण से उसकी पूर्णता एवं परिपक्वता में सन्नद्ध हो गये। १०वीं सदी के उत्तरार्द्ध में दोनों शैलियां कुछ समय साथ साथ चलीं और जैसा कि हम अगले अध्याय में देखेंगें कि ११वीं सदी में परमार नरेश एक मौलिक मन्दिर वास्तु योजना लेकर सामने आये।

---

१. क०हे०म०भा०, पृ० १११.

२. वही, पृ० १०९-१०; एन्यूअल रिपोर्ट आफ आर्को० डिपा० ग्वा० स्टे० १९२३-२४.

३. अध्याय के अन्त में परिशिष्ट दृष्टव्य.

अध्याय षष्ठ—परिशिष्ट

स्कन्द-पुराण एवम् मालव-स्थापत्य

पुराण उज्जैन के धार्मिक, ऐतिहासिक एवम् सांस्कृतिक जीवन सम्बन्धी पर्याप्त महत्वपूर्ण सूचनाएं देते हैं। पुराणों की सर्जना गुप्तकाल से प्रारंभ हो गयी थी तथा १०वीं सदी तक हो रही। पुराणों में वैसे १७वीं सदी तक की प्रक्षिप्त सामग्री प्राप्त होती जाती है।

अवन्ती (उज्जैन) का वर्णन प्रमुखत: निम्नलिखित पुराण करते हैं :—

मत्स्य पुराण : अध्याय २२ ४१, ४३ ११३, ११४.

वायु पुराण : अ० ४५, ९४, ९६, ९९.

पद्म पुराण : (आदि खण्ड) अ० ६, १२ (उत्तर खण्ड) अ० २४. (पाताल खण्ड) अ० १७; ४६, १८०,

शिव पुराण : अ० ४२ (शतरू द्र संहिता).

मार्कण्डेय पुराण : अ० ५४.

ब्रह्म पुराण : अ० १३, ४३, ६५, ७१.

ब्रह्माण्ड पुराण : अ० ४३, ४४, ४५, ८६

लिंग पुराण : अ० ६८, ८६.

भविष्य पुराण : अ० ५, ७, १७, ३४.

ब्रह्म वैवर्त पुराण : (कृष्ण) अ० १०१, १०२.

विष्णु पुराण : ५। अ० २१-२३.

वामन पुराण : अ० ३५, ८३.

इन पुराणों में से बहुत कम ही उज्जैन के देवी देवताओं के मन्दिरों का उल्लेख करते हैं। किन्तु इस न्यूनता की पूर्ति अकेले स्कन्द-पुराण का अवन्ती खण्ड पूरी तरह कर देता है। विद्वानों ने इस पुराण का सृजन काल

गुप्त युग के बाद एवम् परमार काल के पूर्व का बताया है। स्कन्द पुराण के वर्णन से अग्नि पुराण की भांति मन्दिर वास्तुकला संबंधी कोई जानकारी नहीं मिलती किन्तु उज्जैन में प्राचीन काल में दूर दूर तक स्थित विभिन्न देवी देवताओं के मन्दिरों की शृंखला का पता आवश्य चल जाता है। यह पुराण जब विभिन्न स्थानों पर विभिन्न देवी-देवताओं का वर्णन करता है, तो सहज है कि वह उनके मन्दिरों का ही वर्णन कर रहा होता है। स्कन्दपुराण के विवरण से इन मन्दिरों के काल एवम् शिल्प विषयक कोई सूचना प्राप्त नहीं होती।

स्कन्दपुराण (आवन्त्य) अवन्ती में निम्नलिखित देवी-देवताओं के मन्दिरों की चर्चा करता है :—

शैव :— महाकाल वन में सहस्त्रों शिवलिंग

महाकालेश्वर ज्योतिलिंग (क्षेत्राधिपति)
(स्कन्द पुराण सहित अनेक पुराणों में सन्दर्भ)

८४ ईश्वर : अवन्ती खण्ड में चौरासी ईश्वरों की जो चर्चा आयी है, उनकी वर्तमान स्थिति को इस प्रकार पहिचाना गया है :—

१. अगस्त्येश्वर (हरसिद्धि मन्दिर के पीछे), २. गुहेश्वर (पिशाचमोचन के पास), ३. ढुंढेश्वर (रामसीढ़ी के नीचे), ४. डमरुकेश्वर (रामसीढ़ी के ऊपर), ५. अनादि कल्पेश्वर (महाकाल मन्दिर के दक्षिण में) ६. स्वर्णजालेश्वर (महाकाल में), ७. त्रिविष्टपेश्वर (महाकाल में), ८. कपालेश्वर (ब्रह्मपुरी में), ९. स्वर्गद्वारेश्वर (नलियावाखल में बेगमपुरा के रास्ते पर), १०. कर्कोटेश्वर (हरसिद्धि में), ११. सिद्धेश्वर (सिद्धवट के पश्चिम में), १२. लोकपालेश्वर (हरसिद्धि द्वार) १३. मनकामनेश्वर (गंधवती घाट पर) १४. कुटुम्बेश्वर (सिंहपुरी में) १५. इन्द्रद्युम्नेश्वर (बोखी माता की गली में) १६. ईशानेश्वर (मोदी के कुएं के पास) १७. अप्सरेश्वर (मोदीजी की गली में) १८. कलकलेश्वर (मोदी कुएं पर) १९. नागचण्डेश्वर (पटनी बाजार में) २०. प्रतिहारेश्वर (पटनी जवाहर बाजार में) २१. कुक्कुटेश्वर (ज्वालेश्वर के पूर्व में) २२. कर्कटेश्वर (दानी दरवाजा में) २३. मेघनादेश्वर (सराफा में), २४. महालयेश्वर (खत्रीवाड़ा में), २५. मुक्तीश्वर (खत्रीवाड़ा में), २६. सोमेश्वर (ब्रह्मपोल में), २७. अनरकेश्वर (मकोडिया आम के पास अनर्क तीर्थ में), २८. जटेश्वर (अनरकेश्वर के उत्तर में गया कोष्ठ पर), २९. रामेश्वर (सती दरवाजा के पास), ३०. च्यवनेश्वर (अंकपात में पुरुषोत्तम सागर पर), ३१. खण्डेश्वर (खिलचीपुर ग्राम के पास), ३२. पत्तनेश्वर (खण्डेश्वर के पास), ३३. आनन्देश्वर (आलापुरा में), ३४. कंथकेश्वर (सिद्धवटा में), ३५. इन्द्रेश्वर (ब्रह्मपोल में), ३६. मार्कण्डेश्वर (अंकपात में विष्णु सागर पर), ३७. शिवेश्वर (अंकपात में), ३८. कुसुमेश्वर (अंकपात में गोमती कुण्ड पर), ३९. अक्रूरेश्वर (अंकपात के कोट पश्चिम में), ४०. कुण्डेश्वर (गोमती कुंड पर) ४१. लुम्पेश्वर (भैरवगढ़ में अश्वत्थ वृक्ष के नीचे—काल भरव के पीछे), ४२. गंगेश्वर (क्षिप्रा खगर्ता संगम पर), ४३. मंगलेश्वर (मंगलतीर्थ पर), ४४. उत्तरेश्वर (मंगलेश्वर के दक्षिण में), ४५. त्रिलोचनेश्वर (नामदारपुरा में), ४६. वीरेश्वर (दानी दरवाजा में), ४७. नुपुरेश्वर (डाबरी पीठा में), ४८. अभयेश्वर (दानी दारवाजा गणेश के पास), ४९. पृथकेश्वर (केदारेश्वर मन्दिर में), ५०. स्थवरेश्वर (सरवर वाड़ी में), ५१. शूलेश्वर अथवा हाटकेश्वर (सिलावट वाड़ी में), ५२. ओंकारेश्वर (ढाबा रोड़ तेलीवाड़ा खटिक वाड़ी के पास), ५३. विश्वेश्वर (खटिक वाड़ी में), ५४. कटेश्वर (जाट के कुए के ऊपर—गढ़ पर), ५५. सिंहेश्वर (गढ़ पर गणपति के पास), ५६. रेवन्तेश्वर (कार्तिक चौक में), ५७. घण्टेश्वर (कार्तिक चौक में), ५८. प्रयागेश्वर (प्रयागराज में)

५६. सिद्धेश्वर (खत्रीवाड़ा में), ६०. मातंगेश्वर (पिंजारवाड़ी में), ६१. सौभागेश्वर (खत्रीवाड़ में), ६२. रूपेश्वर (सिंहपुरी में जनार्दन की गली में), ६३. धनुःसहस्त्रेश्वर (वृन्दावनपुरा में), ६४. पशुपतेश्वर जानसापुरा में), ६५. ब्रह्मेश्वर (दार्नी दरवाजा में), ६६. जल्पेश्वर (सोमतीर्थ में), ६७. केदारेश्वर (केदार तीर्थ में), ६८. पिशाचमुक्तेश्वर (पशाचमोचन घाट पर), ६६. संगमेश्वर (नील गंगा तीर्थ पर), ७० दुर्द्द-रेश्वर (गंधवती तीर्थ पर), ७१. प्रयागेश्वर (पातालवाड़ी में हरसिद्धी दरवाजे के पास), ७२. चद्रादित्येश्वर (महाकालेश्वर के उत्त र में कोटि तीर्थ पर), ७३. करमेश्वर (काल भैरव के सामने), ७४. राजस्थलेश्वर (भागसीपुरा में), ७५. वटेश्वर (सिद्धवट में), ७६. अरुणेश्वर (पिशाचमोचन के सामने), ७७. पुष्पदन्तेश्वर (सुनार मौहल्ला सिंहपुरी में), ७८. अविमुक्तेश्वर (सिंहपुरी में कुटुम्वेश्वर के पास), ७६. हनुमत्केश्वर (गढ़ के उत्तर में), ८०. स्वप्नेश्वर (महाकालेश्वर में), ८१. पिंगलेश्वर (पिंगलेश्वर ग्राम में उज्जैन का पूर्व द्वार), ८२. कायावरोहणेश्वर (उज्जैन का दक्षिण द्वार, करोहण कोकलाखेड़ी ग्राम के पास), ८३. विल्वेश्वर (अम्वेदिया ग्राम में उज्जैन का पश्चिमी द्वार), तथा ८४. दुर्दरेश्वर (जैथल के पास उज्जैन का उत्तरी द्वार)।

अष्ट भैरव : दण्डपाणि, विक्रांत, महाभैरव, सितासित, वटुक, आनन्द, वाल एवम् काल भैरव ।

एकादश रुद्र: कपर्दी, कपाली, कलानाथ, वृपासन, त्र्यम्वक, शूलपाणि, दिगम्वर, चीरवासा, कामचारी एवम् शर्व.।

पंचेशानी यात्रा के द्वाराधिपति : पिंगलेश्वर एवम् कायावरोहणेश्वर, विल्वेश्वर एवम् दुर्दरेश्वर, (उत्तरेश्वर) ।

गाणपत्य : षड् विनायक : मोद, प्रमोद, सुमुख, दुर्मुख, अविघन, एवम् चिन्तामन गणेश ।

सौर : द्वादश आदित्य : अरुण, सूर्य, वेदांग, भानु, इन्द्र, रवि, अंशुमान, सुवर्णकेता, अहर्स्का मित्र; विष्णु एवं सनातन. ।

सूर्य यात्रा : वर्ष में एक वार सम्पादित होनेवाली सूर्य यात्रा का चलित रथ-मन्दिर ।

शाक्त : नवदुर्गा : शैलपुत्री, ब्रह्मचारिणी, चन्द्रघण्टा, कूष्माण्डा, स्कंदमात्रा, कात्यायनी, कालरात्रि, महागौरी एवं सिद्धिरात्री. ।

चतुर्विशति मातृकाएं : महामाया, कपालमातृका, अम्विका, अम्वा, शीतला, अम्वालिका, अष्ट सिद्धिदा, ब्राह्मणी, पार्वती, योगिनी, महाकाली, भद्रकाली, चामुण्डा वाराही, ब्रह्मचारिणी, वैष्णवी तथा कोमारी, भगवती, कृत्तिका, जर्पटमातृका, वटमातृका, सरस्वती, महालक्ष्मी तथा विन्ध्यवासिनी ।

अन्य मातृदेवियां : उमा, चण्डी, ईश्वरी, गौरी, हरसिद्धि, वरयक्षिणी, वीरभद्रा, ऐन्द्री, दुरितहारिणी, एकनंशा, महादुर्गा, तैलमातृका आदि ।

वैष्णव : दस विष्णु : वासुदेव, अनन्त, हलधर. जनार्दन, नारायणा, हृपिकेश, वराह, धरणीधर, वामन एवम् शेषशायी ।

चार मारुति : हनुमान, ब्रह्मचारी, कुमार एवम् वायुसुत ।

नव ग्रह : सोमेश्वर, मंगलेश्वर, बुधेश्वर, बृहस्पतेश्वर, शुक्रेश्वर, स्थावरेश्वर, शंकरादित्य, राहवेश्वर

एवम् केत्वेश्वर (अधिकांश ग्रहों की शिव रूप में पूजा सम्पन्न होती थी।)

(उक्त विवरण के लिये हम निम्न स्रोतों के आभारी हैं— निगम श्यामसुन्दर : मालवा की हृदयस्थली अवन्तिका, पृ० ६-११, कानुनगो शोभा : अज्जयिनी का सांस्कृतिक इतिहास, पृ० २६-३६). ।

मुस्लिम आक्रमण के परिणाम-स्वरूप ये निर्माण नष्ट कर दिये गये। ध्वंस का क्रम इतना भयावह व सघन था कि आज इनमें से अनेक स्थानों को खोज निकालना दुष्कर कार्य है। मराठा-काल में इनमें से अनेक धर्म-स्थानों को खोजकर वहां छोटे-मोटे देवालय बना दिये गये हैं। ८४ ईश्वरों के स्थानों की उक्त पहिचान इसी खोज पर आधारित है।

७ परमारकालीन मालवा

परमारों की उत्पत्ति के बारे में पर्याप्त मतभेद है। अनुश्रुतियां उन्हें आबू के अग्निकुल से उत्पन्न हुआ मानती हैं।[1] एक दूसरा मत परमारों को राष्ट्रकूटों की शाखा मानता है।[2] एक अन्य मत परमारों को गुर्जरों की संतति बतलाता है।[3] एक ख्यात परमारों को वशिष्ट गोत्र वाले ब्राह्मण मानती है।[4] स्थिति चाहे जो हो प्रत्येक मत के पक्ष एवम् विपक्ष में काफी कुछ कहा गया है, जिसका विवेचन हमारा यहां अभीष्ट नहीं है।

राजनैतिक दृष्टि[5] से अब यह कहा जा सकता है कि मालवा ८वीं शताब्दी के अन्त से ९वीं सदी के प्रारंभ तक पर्याप्त राजनैतिक अस्थिरता से गुजरता रहा। ऐसा लगता है कि इन्हीं परमारों ने मालवा में अपना राज्य स्थापित कर लिया। उपेन्द्र के उपरान्त क्रमशः बैरीसिंह प्रथम, सीयक प्रथम अज्ञात नाम एक शासक, अर्थात् कृष्णराज वाक्पति प्रथम तथा वैरीसिंह द्वितीय परम शासक बने। इनका राज्यकाल ७९१ ई० से तक ९४५ ई० माना गया है।

इन प्रारंभिक परमार शासकों के बारे में हमारी जानकारी कम है। सारे उपलब्ध सन्दर्भ हमें सूचना देते हैं कि मालवा राष्ट्रकूटों और गुर्जर-प्रतिहारों के मध्य एक बफर राज्य बना रहा।

---

१. इ०इं०, १, पृ० १, २३३-३४; २, पृ० १८२-८३; ९, पृ० १२-१३; ओझा गो० ही० : राजपूताने का इतिहास, पृ० ७६.
२. गांगुली डी०सी० : हिस्ट्री आफ द परमार डायनेस्टी, पृ० ९.
३. परमार्स, पृ० १२.
४. वही, पृ० १९.
५. परमारकालीन मालवा की राजनैतिक स्थिति का यह विवरण निम्न ग्रन्थों पर आधारित है :—
   (अ) गांगुली डी०सी० : हिस्ट्री आफ दी परमार डायनेस्टी.
   (ब) रे० एच०सी० : डायनेस्टिक हिस्ट्री आफ नार्दन इंडिया.
   (स) जैन के० सी० : मालवा, थ्रू एजेज, पृ० ३२५.२६.
   (द) भाटिया प्रतिपाल : दी परमार्स, अ० २ से १२.
   (इ) वाकणकर अ०वा० : मालव-मणि भोज (वि० स्मृ० ग्र०).
   (क) लेले चि०व० : मालवे के परमार (वि० स्मृ० ग्र०), पृ० ५८९-९५.
   (ख) लूनिया बी एस० : युगयुगीन धार.

परमारों का भाग्योदय हर्ष देव, जिसे सीयक द्वितीय भी कहा जाता है, से प्रारंभ हुआ। उसका राज्यकाल ९४५ ई० से ९७२ ई० तक रहा । यह वह समय था, जब प्रतिहार शासक महेन्द्रपाल द्वितीय की मृत्यु होते ही प्रतिहार साम्राज्य विघटित होने लगा था और दक्षिण में राष्ट्रकूट शक्ति भी लड़खड़ाने लगी थी । सीयक ने हूणो तथा आसपास के कई छोटे मोटे शासकों को पराजित किया। सीयक की सबसे महान उपलब्धि उसका राष्ट्रकूटी की राजधानी मान्यखेट पर आक्रमण करना है। यह घटना लगभग ९७२ ई० की है। इस प्रकार सीयक ने प्रथम बार परमार शक्ति की स्वतंत्रता एवम् शौर्य का प्रदर्शन करते हुए महाराजाधिराज तथा महा मांडलिक चूड़ामणि की उपाधि ग्रहण की। सीयक द्वितीय का उत्तराधिकारी वाकपति द्वितीय वना । इतिहास प्रसिद्ध परमार राजा मुंजराज यही है। इसका राज्यकाल ९७४ ई० से ९९४ ई० माना जाता है। राष्ट्रकूटों की भांति इसने पृथ्वी वल्लभ, श्री वल्लभ और अमोघवर्ष की उपाधि ग्रहण की।

वाक्पति ने मेवाड़ के गुहिलों को परास्त किया तथा उनके सहयोगी गुर्जरों को पलायतन को विवश किया। इसके बाद वाक्पति ने चौहानों से सफलसा पूर्वक टक्कर ली तथा हूणों को पराजित किया।

श्री गांगुली का मत है कि वाक्पति द्वितीय ने आबू को भो अपने अधिकार में ले लिया था, किन्तु इसका पुष्ट समर्थन नहीं मिल पाया है। वाक्पति ने इसके उपरान्त कलचुरि शासक युवराज द्वितीय को पराजित किया। इस पराजित शासक की बहिन चालुक्यराज तेलय द्वितीय की माता थी। इस तरह शीघ्र ही वाक्पति को चालुक्यों से उलझने का मौका मिल गया।

मेरुतुंग के अनुसार वाक्पति ने एक वार तेलप को पराजित किया। संभवतः उसकी सफलताओं के कारण ही उदयपुर प्रशस्ति उसे लाट. कर्णाट, चोल और केरल के शासकों का प्रणम्य मानती है। मुंज का बड़ा करुण अंत हुआ। अपने मंत्री रुद्र द्वितीय का परामर्श न मानते हुए उसने गोदावरी पार की। तैलप द्वितीय ने उसे पराजित किया। जब चालुक्य राजकुमारी के साथ मुंज ने भागने का षड़यंत्र किया, तो वाक्पति की हत्या कर दी गई।

मुंज एक जनप्रिय शासक था। धारा नगरी एवम् अन्य स्थानों पर इसने कई दर्शनीय घाट, तालाब, मंदिर एवम् विद्यालय निर्मित करवाये।

महाराज मुंज के वाद उनका अनुज सिन्धुराज धार के सिंहासन पर बैठा। तदुपरान्त महान शासक भोज ने सन् १०११ ई० में ४० वर्ष के लिये शासन सूत्र संभाला। मुंज की भांति भोजदेव भी एक कुशल योद्धा तथा अत्यन्त ही विद्वान शासक था। यह विद्यानुरागी शासक अपने न्याय, प्रशासन एवम् विद्वानों को प्रदत्त आश्रय के लिये प्रख्यात रहा। विक्रमादित्य के बाद यदि सबसे अधिक जनप्रियता किसी शासक को प्राप्त हुई है, तो वह राजा भोज ही था। भोज ने स्वयं सृजित कर या विशेषज्ञों द्वारा लिखवाकर ज्ञान विज्ञान के विभिन्न गवेषाणत्मक पूर्ण ग्रन्थो द्वारा संस्कृत साहित्य के भण्डार में पर्याप्त अभिवृद्धि की। भोज के नाम से ज्योतिष, अलंकार, योग शास्त्र, राजनीति, धर्मशास्त्र, शिल्प नाटक, काव्य, व्याकरण, वैद्यक, दर्शन, कोष आदि के ३४ से भी अधिक ग्रन्थों की उपलब्धि हुई है।

भोज सामरिक एवम् राजनैतिक दृष्टि से भी अत्यन्त शक्तिशाली नरेश था। भोज ने सबसे प्रथम कोंकण के शिलाहारियों को पराजित किया। तैलप के उत्तराधिकारी विक्रमादित्य चालुक्य को युद्ध में वधकर

उसने मुंज की मृत्यु का बदला लिया। विक्रमादित्य का उत्तराधिकारी सोमेश्वर एक शक्तिशाली शासक सिद्ध हुआ।

इसके बाद भोज ने अणहिलवाड़ के आक्रामक शासक के विरुद्ध उसकी अनुपस्थिति में अपने सेनापति के द्वारा विजय प्राप्त की। भीम ने तुरन्त बदला लिया। भोज वन्दी बना लिया गया और उसे अपमानजनक संधि करनी पड़ी। भोजदेव ने कलचुरि नरेश गांगेयदेव को पराजित किया। गांगेयदेव और तेलंग राज पर विजय के स्मृतिस्वरूप उसने धार में एक लोह-स्तंभ खड़ा करवाया।

इसके उपरान्त भोज ने तुर्कों (मुसलमानों) को परास्त किया और उन्हें मालवविजय से कुछ समय के लिये वंचित कर दिया। भोज की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र जयसिंह १५ वर्षों तक मालवा का शासक रहा। इसका राज्यकाल अनेक अंतरविग्रहों एवम् बाह्य आक्रमणों से ग्रस्त रहा तथा बहुत बड़ी सीमा तक चालुक्यों के प्रभाव में आ गया। इस स्थिति में कलचुरियों और चालुक्यों ने मालवा पर आक्रमण कर दिया। जयसिंह प्रथम पराजित हुआ। यदि उदयादित्य अपना शौर्य प्रकट नहीं करता, तो परमारों का पराभव निश्चित था। उदयादित्य जयसिंह प्रथम के उपरांत मालवा का शासक बना। यह एक पराक्रमी शासक था। यह भोज का भाई था। इसका राज्यकाल १०७०से १०८६ ई० तक रहा। इसके राज्यकाल में एक बार पुन: परमारों का सितारा चमकने लगा। इसने अन्तर्विग्रहों का दमन किया और चौहान शासक विग्रहराज तृतीय के सहयोग से गुजरात के सोलंकी नरेश कर्ण को पराजित किया। इससे चालुक्य नरेशों की महत्वाकांक्षा पर बहुत कुछ अंकुश लग गया। उदयादित्य एक महान निर्माता था। वह शैव था तथा उसने अपने राज्य में अनेक महान मन्दिरों का निर्माण करवाया।

उदयादित्य के उपरान्त लक्ष्मदेव शासक बना। नागपुर अभिलेख के अनुसार इस परमार शासक ने दिग्विजय की थी। इस अभिलेख का वर्णन बहुत कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण है।

नरवर्मनदेव का राज्यकाल करीब १०९४ से ११३३ ई० तक रहा। इसने गुजरात के शासक जयसिंह पर अपने शौर्य का प्रदर्शन किया था किन्तु जयसिंह ने इसका बदला सफलतापूर्वक ले लिया था। प्राप्त प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वह मुंज और भोज की भांति ही विद्या प्रेमी, विद्वानों का आश्रयदाता तथा शैव एवम् जैन दोनों मतों का समान रक्षक था।

नरवर्मन के उपरान्त परमार शासक :—नरवर्मन के उपरान्त उसका पुत्र यशोवर्मनदेव ११३३ से ११४२ ई० तक शासक रहा। इसके समय गुजरात के प्रतापी सोलंकी नरेश जयसिंह सिद्धराज ने उज्जैन तक आक्रमण करके अवन्तीनाथ की उपाधि ग्रहण की। सिद्धराज ने उसके बाद धार पर आक्रमण करके यशोवर्मनदेव को वन्दी बना लिया और उसका काफी क्षेत्र हस्तगत कर लिया। यशोवर्मनदेव को बहुत अपमानजनक संधि करना पड़ी।

यशोवर्मन के उपरान्त एक वर्ष के लिये जयवर्मन प्रथम शासक बना। इसके समय में चन्देलों ने मालवा पर आक्रमण किया, किन्तु सबसे बड़ा धक्का परमारों को तब लगा जबकि कल्याणी के चालुक्यों और होयसलों ने मालवा पर आक्रमण किया। संभव है जयवर्मन इनसे युद्ध करता हुआ मारा गया। इस बीच धार पर बल्लाल नामक शासक ने अधिकार कर लिया।

वल्लाल किस वंश का था, इसका उत्तर विवादास्पद है। पर अधिकतर विद्वान् इसे होयसल वंश का मानते हैं। वल्लाल को शीघ्र ही सोलंकी नरेश कुमारपाल तथा आबू के परमारों से संघर्ष करना पड़ा। अन्त में आबू के यशोधवल के हाथों उसकी मृत्यु हुई।

वल्लाल की मृत्यु के उपरान्त मालवा एक बार पुनः चालुक्यों का प्राप्त बन गया। कुमारपाल की मृत्यु के बाद जब सोलंकी कमजोर पड़े तो एक बार पुनः परमारों को होश संभालने का अवसर मिला। यशोवर्मन के उपरान्त परमार शासन दो भागों में विभक्त हो गया। जयवर्मन के वंशज विदिशा में और उसके छोटे भाई अजयवर्मन के वंशज धार में शासन करने लगे।

अजयवर्मन की मृत्यु के उपरान्त विंध्यवर्मन परमार शासक बना। उसने काफी बड़ी सीमा तक धार को चालुक्यों के प्रभाव से मुक्त कर दिया। विन्ध्यवर्मन अपने चारों ओर आक्रमकों की भीड़ देख रहा था। अन्त में वह अपने उत्तराधिकारी सुभटवर्मन् के लिये एक अराजक स्थिति छोड़ गया। सुभटवर्मन् ने सन् १२०९ तक शासन किया। उसने सोलंकियों के क्षेत्र पर आक्रमण किया तथा अणहिलपत्तन की बुरी तरह लूटमार करके जयसिंह सिद्धराज के पूर्व में हुए आक्रमण का बदला ले लिया। सुभटवर्मन् ने एक बार पुनः परमार शौर्य को प्रकट किया। सुभटवर्मन् के उत्तराधिकारी अर्जुनवर्मन् प्रथम ने १२१० से १२१५ ई० तक शासन किया।

इस शासक ने यद्यपि चालुक्यों से सफल संघर्ष किया, किन्तु स्वयं यादव शासक सिंहण से युद्ध करता हुआ मारा गया। चूंकि अर्जुनवर्मन् निःसंतान था, इस कारण विदिशा शाखा के महाकुमार हरिश्चन्द्र का पुत्र देवपाल उसका उत्तराधिकारी हुआ। इसने १२३९ ई० तक शासन किया। इसका राज्यकाल परमार सत्ता की गोधूलि था। चूंकि इसे अपने अग्रज महाकुमार उदयवर्मन् का प्रवेश भी मिला था, अतः मालवा के परमारों के विभिन्न क्षेत्र एक बार फिर इसके आधीन संयुक्त हो गये। देवपाल के सम्बन्ध में जानकारी देने वाले अभिलेख उपलब्ध हैं। इनसे ज्ञात होता है कि देवपाल का शासन पूर्व में उदयपुर, दक्षिण में निमाड़ तथा पश्चिम में भड़ौच तक था। इसके समय में भी गुजरात के चालुक्यों एवम् देवगिरि के यादवों से संघर्ष चलता रहा; किन्तु लगता है कि देवपाल अधिक सफल नहीं हुआ।

इसी समय मालवा पर एक घनी आपत्ति आ पड़ी। उत्तर भारत में मोहम्मद गोरी द्वारा पृथ्वीराज चौहान तृतीय तथा कन्नौज के गहड़वाल शासक जयचन्द को पराजित करने के बाद दास वंश का झंडा दिल्ली पर लहराने लगा था। सन् १२३४ ई० में दास सुलतान इल्तुतमिश ने भेलसा पर आक्रमण कर दिया और उज्जैन के उस महाकाल मन्दिर को नष्ट कर दिया, जिसके निर्माण में ३०० वर्ष लगे थे। इन मुस्लिम आक्रमणकारियों ने मालवा को चारों ओर से लूटा। देवपाल उनका कुछ भी नहीं बिगाड़ पाया। इतना अवश्य हुआ कि इल्तुतमिश के लौटने पर परमार फिर विदिशा जीतने में सफल हुए। देवपाल की वाग्भट्ट चौहान के हाथों मृत्यु हुई।

देवपाल परमारों का अन्तिम उल्लेखनीय शासक था। चौमुखी विपदाओं के बाद भी वह एक निर्माता तथा विद्वानों का संरक्षक था। देवपाल के बाद जयतुंगदेव, जयवर्मन द्वितीय, जयसिंह तृतीय, अर्जुनवर्मन द्वितीय तथा भोज द्वितीय क्रमशः मालव-नरेश बने। जयसिंह तृतीय पर उसके जैन अमात्य पृथ्वीधर का पर्याप्त प्रभाव था। रणथम्बौर की सेनाएं परमारों को निरन्तर पराजित कर रही थीं। हमीर ने अर्जुनवर्मन् द्वितीय एवम् भोज द्वितीय को पराजित कर बहुत सा परमार क्षेत्र अपने अधिकार में कर लिया।

परमारों का पराभव :—सन् १२९१ ई० में खिलजी सुलतान जलालुद्दीन ने एक बार फिर मालवा पर आक्रमण किया। उसके उत्तराधिकारी अलाउद्दीन ने विदिशा पर आक्रमण करके वहां के शासक महलकदेव को भागने पर विवश किया। उसके ४० हजार अश्वारोहियों तथा १० हजार पैदलों से युक्त वीर सेनापति गोगा या कोका को पराजित कर मार डाला गया। कुछ समय उपरान्त अलाउद्दीन के सेनापति आइनउल-मुल्क ने माण्डव पर आक्रमण करके महलकदेव को मार डाला। इस समय परमारों की मुख्य शाखा का शासक जयसिंह देव चतुर्थ था। खिलजी सेनाओं ने मालवा को रौंदना जारी रखा। रही सही कसर तुगलकों ने पूरी कर दी और इस प्रकार मालवा के प्रमुख केन्द्र उज्जैन, विदिशा, धार, माण्डव, चन्देरी आदि बुरी तरह लुटे और ध्वस्त किये गये। मालवा से परमार काल सत्ता की इतिश्री हो गयी।

परमारों का शासन मालवा की कला और संस्कृति का एक उज्ज्वल और गौरवशाली अध्याय है। यद्यपि मुस्लिम आक्रान्ताओं ने सब कुछ नष्ट करने में कोई कसर नहीं छोड़ी, फिर भी जो अवशेष शेष रह गये हैं, वे उनकी गौरव गाथा कहने हेतु पर्याप्त हैं।

परमार मन्दिर वास्तुकला :—

गुप्तोत्तर काल में मालवा में सीमित संख्या में ही मन्दिरों का निर्माण किया गया। राजनैतिक अस्थिरता एवम् सांस्कृतिक संक्रमण के कारण संभवतः यह स्थिति रही। परमार काल में यह स्थिति परिवर्तित हो गयी। दसवीं सदी में राजनैतिक स्थिरता आने लगी। राजागणा, सेना एवम् प्रशासन की कार्यक्षमता एवम् दूरदर्शिता ने मालवा को सुख-समृद्धि व सुरक्षा प्रदान की। परिणामस्वरूप कृषि, व्यापार वाणिज्य को भरपूर संरक्षण व प्रोत्साहन मिला। राजकीय एवम् निजी आय इस कारण पर्याप्त वर्द्धित हो गयी। भाग्यवश मुंज, भोज, उदयादित्य, नरवर्मन आदि शासकों ने पर्याप्त बौद्धिकता, कलात्मकता एवम् श्रेष्ठता का परिचय देते हुए मानव-जीवन का चहुंमुखी अभ्युदय करने वाले तत्वों को प्राणप्रण से प्रोत्साहित किया। विद्वानों एवम् कलाविदों को अभूतपूर्व संरक्षण दिया गया।

ऐसे वातावरण का प्रभाव कला-जगत पर भी पड़ा। मन्दिर-स्थापत्य को ही लें। चारों ओर निर्माण की धूम मच गयी। मालवा की कोई भी परमार-कालीन बस्ती ऐसी नहीं है, जो तत्कालीन मन्दिरों के अवशेषों को अपने अंचल में न समेटे हो।

भारी मात्रा में बनाये जाने वाले ये मन्दिर सौन्दर्य-बोध एवम् गुणवत्तता में पीछे नहीं रहे। स्थापत्य, मूर्तिकला, धर्म-भावना एवम् सांस्कृतिक उदात्तता का ये अत्यन्त मौलिक समन्वय थे।

यह मालवा का दुर्भाग्य ही कहा जायगा कि परमारों का मुस्लिम आततायियों द्वारा पराभव हुआ। विधर्मियों की हथौड़ियों ने चारों ओर विध्वंस कर कला व स्थापत्य के इस महान साम्राज्य का भी बहुत कुछ विनाश कर डाला। फिर भी मालवा के विभिन्न अंचलों में भारी मात्रा में परमारकालीन मन्दिरों के अवशेष प्राप्त होते हैं। कला एवम् वास्तुकला के इतिहास के सौभाग्य से कतिपय परमारकालीन मन्दिर खजुराहो के कुछ मन्दिरों की ही भाँति सुरक्षित रह गये हैं। इन सामग्रियों से मालवा की परमारकालीन मन्दिर वास्तुकला पर युक्ति-युक्त कलम चलाना सरल हो गया है।

मालवा का परमारकालीन मन्दिर-वास्तु पूर्व परमारकालीन परम्परा को ही आगे बढ़ाता है। परमारों की वास्तु दृष्टि बड़ी लचीली और प्रयोगशील रही थी। इस कारण उन्होंने जहां पूर्व प्रचलित शैलियों

को आत्मसात् किया, वहीं उन्होंने प्रचलित विधाओं में क्रान्तिकारी परिवर्तन भी किये थे। आंचलिक शैलियों को भी मान्यता प्रदान की गयी। इस बात का प्रयास किया गया कि सारे व्यवधानों के विरुद्ध परमार मन्दिर वास्तु को एक स्पष्ट वैशिष्ट्य प्राप्त हो सके। इस वैशिष्ट्य की स्थापना के लिये परमारकालीन वास्तुकारों ने कुछ वास्तु मूल्यों को विकसित किया और यह अपेक्षा की कि इस दृष्टि से वास्तुकार बुनियादी मूल्यों के मामले में अनुशासन बनाये रखें।

परमारकालीन मन्दिर वास्तुकला पर अत्यधिक युक्ति-युक्त समीक्षा महान कला समीक्षक एवम् पुराविद् कृष्णदेव द्वारा की गयी है।[1] उनके अनुसार मध्यकालीन भारतीय मन्दिरों को अपराजित-पृच्छा ने एक स्थान पर १४ और अन्य स्थान पर ८ विभेदों में वर्गीकृत किया है। क्षीरार्णव नामक ग्रन्थ भी कुछ इसी प्रकार का वर्गीकरण करता है। इस वर्गीकरण में भूमिज मन्दिरों की चर्चा की गयी है। समरांगण सूत्रधार १६ प्रकार के भूमिज मन्दिरों की चर्चा करता है, जबकि अपराजित पृच्छा भूमिज मन्दिरों के २५ प्रभेद बताता है। दोनों ही ग्रन्थों में भूमिज मन्दिर त्रिअंग, पंचांग, सप्तांग और नवांग प्रकार के बताये गये हैं। दोनों में वृत-जाति नामक गोलाकार मन्दिरों की चर्चा भी आयी है। दोनों मन्दिर-शिखरों की विभिन्न भूमियों की चर्चा भी करते हैं।

अपराजित-पृच्छा आठ तथा समरांगण सूत्रधार पांच अष्टशाल विभेदों का उल्लेख करते हैं। अष्टभद्रा को वे दोनों में उभयनिष्ट मानते हैं।

समरांगण सूत्रधार तुलनात्मक रूप से एक पुराना ग्रन्थ है। अतः परमारकालीन मन्दिर शिल्प पर वह एक महत्वपूर्ण साहित्यिक प्रमाण है। उसमें मन्दिरों के विषय में पर्याप्त सूचना दी गयी है।[2] देवों के मन्दिर दिशाओं के अनुसार बनाये जाने चाहिए। पूर्व में विष्णु, सूर्य, इन्द्र एवम् धर्मराज के निकेतन; दक्षिण-पूर्व में सनतकुमार, सावित्री, मरुद्गण, मारुति (हनुमान) के निकेतन; दक्षिण में गणेश, मातृकाएं, पूत एवम् प्रेतपति यमराज के गृह; दक्षिण-पश्चिम में भद्रकाली मन्दिर एवम् पितृगणों के चैत्य; पश्चिम में सागर, नदियां, जलदेव वरुण तथा विश्वकर्मा के निलय; उत्तर-पश्चिम में फणियों, शनिश्चर तथा कात्यायनी के मन्दिर; उत्तर में विशाख, स्कन्द, सोम व कुबेर के प्रासाद; उत्तर-पूर्व में महेश, लक्ष्मी और अग्नि के मनोरम मन्दिर तथा पुर के मध्य में ब्रह्मा का मन्दिर प्रतिष्ठित किये जाना चाहिए। ब्रह्मा के मन्दिर के अतिरिक्त इन्द्र, बलराम एवम् कृष्ण के भी मन्दिर पुर के मध्य में बनने चाहिये। फिर भी समरांगण सूत्रधार का निर्देश है कि नगर के सीमान्त की ही भांति पुर के अन्दर भी विभिन्न दिशाओं में मन्दिरों में देवी-देवताओं की प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा उचित है। समरांगण-सूत्रधार में किसी एक ही नगर में एक देवता के एकाधिक मन्दिरों का प्रायः इसलिए निषेध किया गया है कि इससे अनर्थ एवम् पीड़ा की संभावना है।[3]

पुरातत्वीय बनाम साहित्यिक प्रभाषाः— कृष्ण देव ने समरांगण सूत्रधार, अपराजित-पृच्छा आदि साहित्यिक ग्रन्थों में उल्लिखित भूमिज मन्दिरों की संगीति उपलब्ध परमारकालीन मन्दिर अवशेषों से बिठाने की कोशिश की है। उनका मत है कि भूमिज शैली का सबसे पहले गंभीरतापूर्वक स्वीकरण स्टेला क्रामरिश ने

---

१. आ०प०मा०, पृ० xvii.
२. अपराजित पृच्छा, अ० १७१; स०सू०, अ० ६५.
३. स०सू०, ४०।१३, १०।४६-५०; मा० प० क०, पृ० १०६-०७.

किया और उपलब्ध मन्दिर-अवशेषों से उसकी पहिचान करने का प्रयास किया। स्टैला क्रामरिश ने भूमिज मन्दिरों को भूमि अथवा स्थान से जन्मा बताया।[१] कृष्ण देव का कहना है कि भूमिज मन्दिरों का अर्थ पूर्व प्रचलित दैविक मन्दिरों से न होकर लौकिक मन्दिर (किसी देवी शक्ति से न होकर स्थानीय रूप से उद्भूत) से भी हो सकता है। उन्होंने एक ओर अर्थ की भी चर्चा की है। इसके अनुसार मन्दिर की भूमि (अवयव विशेष) पर स्थित मन्दिर को भूमिज मन्दिर माने जाने का आग्रह है।[२]

हम नेमावर के सिद्धेश्वर मन्दिर को प्रतिहार एवम् परमारकाल के संधिकाल के मानने के तर्क प्रस्तुत कर चुके हैं। इसी प्रकार उदयपुर का सन् १०८० का नीलकंठेश्वर मन्दिर, महाराष्ट्र में अंबरनाथ में सन् १०६० का अंबरनाथ मन्दिर, ओंकार-मांधाता का अमरेश्वर मन्दिर व सेवरी, राजस्थान का महावीर मन्दिर भूमिज शैली के प्रारंभिक मन्दिर माने जा सकते हैं। भूमिज शैली का प्रथम पुरातत्वीय संदर्भ कर्नाटक के कुप्पतूर स्थित केटभेश्वर मन्दिर से प्राप्त होता है। यह अभिलेख सन् १२३१ का है। एम० ए० धाकी का कहना है कि कर्नाटक में भूमिज शैली के मन्दिर लक्कुंडी का काशी विश्वेश्वर मन्दिर (१००८ से १०१० ई०), हवेरी का सिद्धेश्वर मन्दिर (१०६८ ई०) तथा अमृतपुर का अमृतेश्वर मन्दिर (११९६ ई०) के रूप में देखे जा सकते हैं। इसी प्रकार महाराष्ट्र में भी अंबरनाथ का अंबरनाथ मन्दिर, वलसाने का त्रिदेव मन्दिर, सिन्नार का गोंडेश्वर मन्दिर तथा नासिक जिले में झोड्गा का मंकेश्वर मन्दिर भूमिज शैली का प्रभाव क्षेत्र अंकित करते हैं।[३] राजस्थान में कोटा जिले का रामगढ़ का देवी का मन्दिर, झालरापाटन का सूर्य मन्दिर तथा चित्तौड़ जिले में स्थित मैनल का महानालेश्वर मन्दिर भी भूमिज मंदिरों की परिसीमा में आते हैं।[४]

इस प्रकार हम देखते हैं कि भूमिज मन्दिर केवल परमारकालीन मालवा तक ही सीमित नहीं रहे अपितु उनका फैलाव मालवा के निकट राजस्थान, महाराष्ट्र, आन्ध्र और कर्नाटक पर भी था।

भूमिज मंदिरों की विशेषताएं :

साधारणत: भूमिज मन्दिरों की योजना स्वस्तिकाकार तारकाकृत होती थी। भूमिज मन्दिरों की योजना पंचरथ अथवा सप्तरथ होती थी। शिखर-तीन, पांच, सात, नौ ग्यारह भूमियों के होते थे। ग्यारह शिखरों वाले मन्दिर का कोई पुरातत्वीय प्रमाण नहीं मिल पाया है। इस प्रकार परमार मन्दिरों की मुख्य विशेषता उन मन्दिरों के शिखर हैं, जो भूमिज शैली में निर्मित हुए। चार नुकीले सज्जित कोण, मध्य में ५ से ७ प्रतिमाएं व संतुलित ऊँचाई उनकी प्रथम विशेषता हैं। परमार मन्दिरों की दूसरी विशेषता है स्थायी शुकनासा। मन्दिरों की वेदिकाएं चैत्य की वेदिका के समान नहीं हैं।

मंडप की छत प्राय: घंटाकृति में होती है। स्तम्भ चौकोर है। अधिक से अधिक भाग को कलात्मक उच्चादर्शों द्वारा उत्कीर्ण किया गया है, और किंचित गोल आकार भी बनाया गया है। मन्दिर बनाने में नियमों

---

१. दी हिन्दू टेम्पल, पृ० २१८-१९, ३८९.
२. आ० प० मा०, पृ० (iii)
३. वही.
४. वही, (i)

का पालन अत्यावश्यक था। समरांगण सूत्रधार में भूमिज मन्दिरों के प्रकार भी दिये गये हैं: (१) निषध (वर्गाकार योजना पर) मलयाद्रि, माल्यवाम एवम् नवमालिका; (२) वृक्ष जाती : कुमुद, कमल, कमलोद्भव, किरण, शतश्रृंग, निग्रध एवम् सर्वांगसुन्दर; (३) अष्टशाल : स्वस्तिक, वज्रस्वस्तिक, हर्म्यतल, उदयाचल एवम् गंधमादन।

मालवा के परमारकालीन वास्तुशिल्प का संयोजन संतुलित शास्त्रीय मानदंडों को लेकर विकसित होता है। मंदिरों की रूपरेखा एक प्रामाणिक वास्तुशैली के अन्तर्गत प्रादेशिक व स्थानीय भेद-प्रभेदों पर आधारित थी। विग्रह बिम्ब को पवित्र स्थल पर प्रतिष्ठित कर उन्मुक्त वातायन में खुले चत्वर, वेदिका, उन्नत अधिष्ठानों, स्तम्भों, सोपान श्रृंखलाओं तथा कोणिक शिखरों सहित मंदिरों की रचना हुई। उन्नत-दीर्घाग श्रृंगों से आवृत शिखरों का विभिन्न प्रकार से अलंकृत मण्डपों में संयोजन किया गया। मंदिर के चतुर्दिक् विकास-क्रम में आंतरिक मण्डपों की विस्तार परिधि, अलंकृत स्तम्भ, अंतराल विधि तथा रथिकाएं क्रमशः प्रमुख अंग बनीं। वास्तु रचना के साथ शिल्प संयोजन अलंकृत अभिप्रायों व आकृतिपरक चित्रण में प्रस्तुत होने लगा। पूर्णोत्कीर्ण मण्डप व द्वार-चौखट आंगिक दृष्टि से मौलिक पृष्ठ लक्षण हैं। इन मन्दिरों में कोणिक शिखर के अंतरिम पृष्ठ भाग पर अलंकृत शिल्पोत्कीर्ण चन्द्राचल महत्वपूर्ण है। इसका शुकनासाग्र भाग अपने शिल्प में अभूतपूर्व है।[1]

तत्कालीन देवगृहों के निर्माण में गर्भगृह के सम्मुख सभा भवन की रचना की गयी। शिल्प के लाक्षणिक प्रयोगों का स्तम्भों, रथिकाओं, भित्तियों तथा द्वारपल्लवों की वास्तु विलक्षणता से संकेत प्राप्त होता है। पौराणिक कथानकों को प्रस्तर फलकों पर उत्कीर्ण कर वास्तु वैभव को समृद्ध करने की परम्परा भी सर्वथा मौलिक रूप में प्रस्तुत की गयी है।[2]

परमारकालीन मंदिरों और विशेषतः भूमिज मंदिरों का सबसे श्रेष्ठ और पूर्ण प्रमाण उदयेश्वर का मंदिर है। इस मंदिर की विशद् चर्चा हमने यथास्थान की है। सच्चे अर्थों में इस मंदिर के वास्तु का अध्ययन समकालीन मंदिर वास्तु का ही गंभीरतापूर्वक अध्ययन है।

पतनोन्मुखी बौद्ध धर्म :—

परमारकाल तक आते आते बौद्ध धर्म मालवा से लगभग लुप्त हो चुका था। अब वे बौद्ध भिक्षु दिखायी भी नहीं दे रहे थे, जो अपने चैत्यों एवम् विहारों के लिये पहाड़ों को खोदकर गुहाएं बना सकते। न ही कोई बौद्ध मंदिर बनाने की अब आवश्यकता रह गयी थी। इस प्रकार बौद्ध मत अपने अस्तित्व से लगभग बाहर हो चुका था। अगर कुछ उल्लेख करने योग्य भी है तो किसी अबौद्ध दानदाता या शासक द्वारा बौद्ध अवशेषों को सुरक्षित करने का प्रयास ही है, किन्तु ये प्रयास भी अपवाद स्वरूप ही माने जाने चाहिये। इस तथ्य के प्रमाण सांची में मिलते हैं जहां गुप्तकालीन मंदिर क्रमांक ३१ का व्यापक पुनर्निर्माण १०वीं या ११वीं

---

१. मा०प०क०, पृ० १०९-१०; मा० श्रू० ए०, पृ० ४३५, कृष्णदेव : टेम्पल आफ नार्थ इंडिया, पृ० ६६-६७, स०सू०अ० ६५.

२. मा०प०क०, पृ० ११०.

सदी में सम्पन्न हुआ। इसी प्रकार सांची के बौद्ध अवशेषों को इन्हीं सदियों में चारों ओर परकोटा बनाकर सुरक्षित करने का प्रयास किया गया था। संघाराम क्र० ४५ के स्तूप १०वीं सदी में अग्नि द्वारा नष्ट हो गये, तो उसके स्थान पर एक नया मंदिर बनवाया गया। नये निर्माताओं ने सहन के तल को १.०५ मीटर ऊपर उठाकर पक्का फर्श लगवाया और पुरानी कोठरियों को ऊंचा उठाकर इनका दुवारा प्रयोग किया। इसके अतिरिक्त एक नया बरामदा भी बनवाया गया जिसका फर्श सहन से ६० से मी० ऊंचा रखा गया।[1]

जैन स्थापत्य :—जहां बौद्ध धर्म समय के माया जाल में लुप्त हो रहा था वहां जैन मत मालवा में अपना निश्चित अस्तित्व बनाये हुए था। दर्शनसार से ज्ञात होता है कि धार में सन् ९३३ ई० में पार्श्वनाथ का एक विशाल मन्दिर विद्यमान था।[2]

शेरगढ़ (कोषवर्धन) के एक अभिलेख से सन् ११३४ में वहां में एक जैन मंदिर होने का पता चलता है।[3] बदनावर के सन् ११७२ ई० के अभिलेखीय साक्ष्य शान्तिनाथ के मंदिर का उल्लेख करते हैं।[4] धार में भी इसी प्रकार सन् ११९७ ई० में तीर्थंकर शान्तिनाथ का एक मंदिर था।[5] जिनप्रसूरि के विविध तीर्थ नामक ग्रन्थ के अनुसार परमारकाल में उज्जैन में कुंडुगेश्वर, मंगलापुर में अभिनन्दन देव, दशपुर में सुपार्श्व तथा विदिशा में महावीर के जैन मंदिर थे।[6] किन्तु आज इन मंदिरों में से कोई भी अस्तित्व में नहीं है।

जैन धर्म, दर्शन, साहित्य एवम् कला ने परमारकाल में काफी उंचाइयां प्राप्त कीं। जैनाचार्य अमितगति, महासेन, धनपाल और धनेश्वर को वाक्पति मुंज ने संरक्षण दिया था।[7] राजा भोज ने महान जैन लेखक प्रभाचन्द का सम्मान किया था। राजा भोज के अनुरोध पर ही धनपाल ने तिलक-मंजरी लिखी थी।[8] सन् १०८८ ई० का दुबकुण्ड अभिलेख भोज के दरबार में जैनाचार्य शान्तिषेण के शास्त्रार्थ की चर्चा करता है।[9] भोज के समय के अन्य उल्लेखनीय लेखकों एवम् आचार्यों ने सूराचार्य देवभद्र, जिनेश्वरसूरी, बुद्धिसागर, नयनंदी, श्रीनन्दी, नेमीचन्द, सैधानिक आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इसी काल में भोजपुर में एक जैन मंदिर बनवाया गया था। भोज के उत्तराधिकारी जयसिंहदेव ने भी जैन आचार्य प्रभाचन्द्र को संरक्षण दिया था।[10] ऊन के जैन मंदिर इस बात के प्रमाण हैं कि परमार नृपति उदयादित्य ने भी जैनधर्म को पल्लवित होने का पर्याप्त अवसर दिया। सारे परमार राजाओं में जैन धर्म के प्रति सबसे अधिक भावुक झुकाव रखने वाला राजा नरवर्मन था। नरवर्मन् के समय जैनधर्म ने काफी प्रगति की। सुप्रसिद्ध जैन तर्कशास्त्री समुद्र विजय नरवर्मन

---

१. मित्र देवला : सांची पृ० ४३-४५.
२. मा० अ्रू० ए०, पृ० ४०१.
३. इ०ई० २१; पृ० ८०.
४. मा०अ्रूए० परिशिष्ट क्रं ३, ५१३.
५. मा०अ्रूए०, पृ० ४१३.
६. विविध तीर्थ कल्प, क्रं० ३२, ४७ एवं ८५.
७. पीटरसन्स रिपोर्ट, क्र०, ४, पृ० ४.
८. गुरु गोपाल दास बरैया, स्मृ० ग्र० पृ० ५४३.
९. प्रेमी नाथूराम : जैन साहित्य और इतिहास, पृ० २७४.
१०. मा०अ्रूए०, पृ० ४०१-०२.

के दरबारी थे।[१] नरवर्मन ने जैनाचार्य जिनवल्लभ सूरी को सत्संग के लिये धार बुलाया था। जिनवल्लभ के उत्तराधिकारी खरतरगच्छीय जिनदत्तसूरी ने उज्जैन, धार, वागड़ और चित्तौड़ में जैन मत का पर्याप्त प्रचार किया था। नरवर्मन के ही समय भोजपुर, अर्थुण, कोपवर्धन आदि स्थानों पर अनेक निर्माण कार्य सम्पन्न किये गये।[२]

वस्तुतः परमारकाल में जैनधर्म में चौमुखी प्रगति की। आचार्य धरसेन और उनके शिष्य महावीर ने राजा विन्ध्यवर्मन का संरक्षण प्राप्त किया।[३] महान जैन आचार्य आशाधर ने ११९२ ई० में माण्डलगढ़ से आकर धार में अध्ययन किया था। उसके ग्रन्थों के अनुसार परमार राजागण विन्ध्यवर्मा, सुभ्भट वर्मा, अर्जुनवर्मा, देवपाल व जैतुगदेव के समय जैन धर्म मालवा में पर्याप्त प्रचलित रहा। आशाधर के विशाल-कीर्ति, अर्हदास, देवचन्द जैसे उल्लेखनीय शिष्य हुए।[४]

तेरहवीं सदी के मध्य में उज्जैन में देवधर नामक एक जैन संघ प्रमुख हुए, जिनकी उत्तराधिकार परम्परा में विद्यानन्दसूरी व धर्मघोष आते हैं।[५] इसी प्रकार मालवा के मूल संघ के आचार्य रत्नकीर्ति, वागड़संघ के कल्याणकीर्ति तथा माथुर संघ के कुछ आचार्यों ने बदनावर व आसपास के क्षेत्र को केन्द्र बनाकर भरपूर प्रचार किया।[६]

जैन धर्म की इन समस्त गतिविधियों का परिणाम बड़ोह, ग्यारसपुर, विदिशा, बड़ी चन्देरी, नरवर, पढ़ावली, सुहानिया, दुबकुण्ड, गंधावल, संधारा, ऊन, भोजपुर, बिजवाड़, वर्धनापुर, पुराजिलाना, धार, गुना, कैथुली अदि स्थानों पर हुए निर्माण कार्यों के रूप में अभिव्यक्त हुआ। इन स्थानों पर कई मंदिर अथवा उनके अवशेष अभी भी विद्यमान हैं। राजा भोज के समय भोजपुर में कई जैन मंदिरों का निर्माण करवाया गया था।

इस समय भोजपुर में एक जैन मन्दिर के अवशेष उपलब्ध हैं। इस मन्दिर का बाहरी भाग कालान्तर में पुनर्निमित किया गया था। इसके शिखर और गर्भगृह की छत के ध्वस्त होने से अब जो खुला गर्भगृह और अन्तराल दिखाई देता है, वह निश्चित ही राजा भोज के समय का है।[७] झालरापाटन में भी लगभग इसी समय का तीर्थंकर का एक जैन मन्दिर हैं। मंदिर के पुनर्निर्माण के कारण प्राचीन वास्तु कुछ ऐसे दब गये हैं, जिनसे उस पर विशद प्रकाश डालना कठिन हो गया है। इस मंदिर का निर्माण शाह पीपा ने सन् १०४६ ई० में

---

१. भारती, १९५५, पृ० १२२.
२. खरतरगच्छ बृहदगुर्वाविली, पृ० १३.
३. प्रेमी नाथूराम, जैन सा०इ०, पृ० ३४२.
४. वही, पृ० ३४७.
५. इ०ए०, पृ० २५५.
६. मा०भ्रू०ए० परिशिष्ट, पृ० ५१२.
७. आ०स०इ० (१९२२-२३); पृ० ४९.
८. वही.

करवाया था। इसकी प्रतिमा की प्राण-प्रतिष्ठा भवदेवसूरी ने की थी। पूर्व-निर्मित गर्भगृह और शिखर यद्यपि प्राचीन हैं, किन्तु मण्डपपूरी तरह नया है।[१]

भोजपुर और झालरापाटन दोनों ही मंदिर परमारों की प्रिय भूमिज शैली में हैं तथा भोजकालीन मन्दिर वास्तुकला का अच्छा परिचय देते हैं।

मन्दसौर जिले के संधारा गांव में जो दर्शनीय जैन मंदिर हैं, वह तम्वोली के मंदिर के नाम से लोकप्रिय है। इस मन्दिर का बाहरी भाग ध्वस्त हो चुका था किन्तु इसका पुनर्निर्माण जैन समाज ने करवा दिया है। संधारा के इस मंदिर का आन्तरिक भाग अभी भी अपनी प्राचीनता का सम्यक बोध करवाता है। मंदिर का मण्डप विशाल है। इस मण्डप के पीछे एक छोटी कोठरी गर्भगृह के रूप में है। मन्दिर की छत अलंकृत प्रस्तर स्तम्भों पर आश्रित है। ये स्तम्भ अपने आधार पर चौकट हैं किन्तु इसका दण्ड गोलाई लिये हुए षोडप कोणीय है। उन पर अलंकृत चौकियां हैं जिन पर स्वस्तिकाकार शीर्ष हैं। शीर्ष पर बौनों की आकृतियां हैं जो अपने हाथों से छत उठाये दिखायी देते हैं। इन स्तम्भों से जुड़े हुए आड़े स्तम्भों पर छत टिकी हुई है। संधारा का यह मंदिर दिगम्बर मत से संबंधित है। गर्भगृह का अन्तर्भाग सादा और सपाट है। प्रवेश द्वार की चौखट भी सादी ही है। उनके ऊपरी भाग की ताक में जिन मूर्तियां हैं।[२]

संधारा में ही दिगम्बर जैनियों का एक और मंदिर भी है। यह बड़ा मंदिर कहलाता है। इसमें आदिनाथ की प्रतिमा विद्यमान है। इस मंदिर का पूरी तरह जीर्णोद्धार हो चुका है। अतः गर्भगृह की छत व प्रवेश द्वार से ही उसकी प्राचीनता का अन्दाज लगाया जा सकता है।[३]

यह मंदिर एक आंगन में स्थित है, जिसमें तीन ओर प्रवेश किया जा सकता है। मन्दिर पूर्वमुखी है। द्वार-मण्डप में चार स्तम्भ हैं। पोर्च के बाद आठ स्तम्भों वाला एक बरामदा है, जिससे जुड़ा हुआ मण्डप है। मण्डप गर्भगृह का प्रवेश द्वार तथा गर्भगृह की छत अत्याधिक अलंकृत है।[४]

एक और भी छोटा जैन मन्दिर संधारा में है। यह भी आदिनाथ से संबंधित है, और परमारकालीन है। समग्र पुनर्निर्माण के कारण यह अब अध्ययन का विषय नहीं रह गया है।[५]

कैथुली में भी एक जैन मन्दिर है। यह कहना बड़ा कठिन है कि मूल रूप में यह मन्दिर जैन मन्दिर था या शैव। मन्दिर के प्रवेश द्वार की ऊपरी चौखट पर कृपाण, खटवांग और खप्परयुक्त शिव देवता की मूर्ति उत्कीर्ण है। चौखट के निचले भाग पर मध्य में एक कीर्तिमुख उत्कीर्ण है। उसके आसपास हाथी और हाथी के पीछे सिंह उत्कीर्ण हैं। इसी चौखट के बायें दायें नीचे की ओर गंगा एवम् जमुना अपनी अनुचरियों के साथ, उसके ऊपर पार्श्वों में कुछ मिथुन मूर्तियां और उनके ऊपर दोनों कोनों पर विभिन्न मुद्राओं में शिव पार्वती उत्कीर्ण किये गये हैं।

---

१. अनेकान्त, १३, पृ० १२५.

२. ३. ४ एव ५. इं० स्टे० ग०, पृ० ६१-६३.

मन्दिर के पोर्च में सामने की ओर दो स्तम्भ हैं, जो एक प्रस्तर तोरण को आश्रय देते हैं। उसके पीछे स्तम्भयुक्त वराण्डा और एक गूढ़मण्डप है। उसके वाद अन्तराल और गर्भगृह है। मण्डप में अत्यधिक अलंकृत चौखटयुक्त एक प्रवेश द्वार है। मण्डप की छत चार चार खम्भोंवाली चार कतारों से जुड़ी हुई है। यह मण्डप जैन कला का अद्भुत-नमूना है, जिसमें चतुर्मुख और शासन देवियां विद्यमान हैं। मन्दिर दिगम्बर मत से संवंधित है। गर्भगृह में पार्श्वनाथ की भग्न प्रतिमा है। मन्दिर के बाहर प्रांगण के एक कोने में दस हाथों वाली एक गर्दभारूढ़ देवी की प्रतिमा है। इस देवी के सामने स्त्री अनुचरों से युक्त एक चतुर्मुखी व्यक्ति प्रणत मुद्रा में खड़ा दिखाई देता है। यह धारणा प्रकट की गयी है कि यह मूर्ति गर्दभवाहिनी शासन देवी की होगी।[1]

ऐसा मत प्रकट किया गया है कि यह मन्दिर मूलतः जैन मन्दिर ही था किन्तु प्रवेश द्वार का चौखट किसी समकालीन शिव मन्दिर का लाकर लगा दिया है।[2] किन्तु इस मन्दिर को मूलतः एक जैन मन्दिर मानने में कुछ कठिनाइयां हैं, जो इस प्रकार हैं:—

(१) यह तर्क अधिक वल नहीं रखता कि यह पूरा का पूरा गर्भगृह का चौखट शैव मन्दिर से लाकर जैन मन्दिर में रख दिया गया हो और मन्दिर के सौभाग्य से वह ठीक मन्दिर के आकार प्रकार का हो।

(२) पार्श्वनाथ की प्रतिमा अन्यत्र से लाई जा सकती हैं। यह स्थिति वैसी हो सकती है जैसी ग्यारसपुर के मन्दिरों के साथ हुई है।

(३) मण्डप में शासन देवियों के उत्कीर्ण होने की बात कही गई है। साथ में यह कहा गया है कि इन्हें पहिचानना कठिन है। अतः यह भी संभव है कि ये मूर्तियां शैव मत से संवंधित हों।

(४) चतुर्मुख की विद्यमानता जैन मन्दिर होने की मान्यता में एक अतिरिक्त व्यवधान है।

(५) मन्दिर को स्थानीय अनुश्रुतियां शेषनाथ का मन्दिर मानती है। नाम के आधार पर भी जैन धर्म से संवंधित होना असिद्ध होता है।

हमारे निरीक्षण का निष्कर्ष यह है कि गर्भगृह का चौखट जिसमें गंगा-जमुना, शिव-पार्वती आदि उत्कीर्ण हैं, निश्चित रूप से मन्दिर का एक भाग रहा होगा। कलान्तर में पार्श्वनाथ की मूर्ति उसमें विठा दी गयी होगी। इसी आधार पर मण्डप की खण्डित मूर्तियों को ठीक से न पहिचानते हुए उन्हें जैन मान लिया गया। वस्तुतः यह त्रिपुरारि का मन्दिर दिखाई देता है। जैनियों द्वारा पुनर्निर्माण करवाने और मन्दिर का मूल स्वरूप वहुत वदल जाने से मन्दिर के मूल रूप के बारे में संभावनाएं प्रकट करने के अतिरिक्त कोई रास्ता ही नहीं है।

कुकड़ेश्वर में १२वीं सदी में निर्मित एक जैन मन्दिर है, जिसे पार्श्वनाथ मन्दिर कहा जाता है।[3]

---

१. इं स्टे० ग०, पृ० २६.
२. वही, पृ० २८.
३. प्रोग्रेस रिपोर्ट आफ आर्कोलोजिकल सर्वे, वेस्टर्न सर्कल (१९२०), पृ० ९२,

इस मन्दिर में पहिले एक खुला पोर्च, फिर एक गूढ़-मंडप और उसके पीछे गर्भगृह है। परमारकाल की अन्य निर्मितियों के आम लक्षणों के विरुद्ध उसमें स्थापत्य की दृष्टि से पर्याप्त सुविधाएं और स्वतंत्रताएं ली गई हैं। कुछ इस प्रकार हैं:—

(१) मण्डप गूढ़ है और बारह स्तम्भों से युक्त है। ये स्तम्भ परमार शैली के स्तम्भों से भिन्न हैं। ये नीचे की ओर वर्गाकार, मध्य में अष्ट कोणीय तथा ऊपर की ओर गोलाकार हैं।

(२) मन्दिर भूमिज न होकर एक चबूतरे पर खड़ा है।

(३) मन्दिर का गर्भगृह, वर्गाकार न होकर आयताकार है।

(४) परमारकालीन मन्दिरों में जो प्रस्तर वल्लरियां और शुकनासाएं होती हैं, वे इस मन्दिर में नहीं हैं। इसके विपरीत मंदिर के शिखर का ऊपरी भाग उड़ीसा के मंदिरों जैसा है। उड़ीसा के मन्दिरों में भी उसका शिखर-साम्य पुरी व लिंगराज के मंदिरों से केवल ऊपरी भाग के कारण ही है। इसका कारण यह है कि इस मन्दिर के शिखर का निचला भाग श्रृंगयुक्त है। इस प्रकार का शिखर भुवनेश्वर के राजारानी मन्दिर का है। अतः कुकड़ेश्वर के मन्दिर स्थापत्य पर पूर्वी भारत की वास्तु का प्रभाव स्पष्ट है।

मन्दिरों के अलंकरण और उसकी मूर्तियों को देखकर पुनः यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि क्या यह मूल रूप में एक जैन मन्दिर था ? मन्दिर में गंगा-जमुना, गंधर्व, शिव, विष्णु, ब्रह्मा, नवग्रह, गणेश आदि की प्रतिमाएं हैं। साथ ही कृष्णलीला के प्रसंगों को व्यापक रूप से प्रदर्शित किया गया है। इस आधार पर इसे एक जैन मन्दिर कहना सत्य के विरुद्ध होगा। मंदिर के गर्भगृह में उत्तरकालीन संगमरमरी जैन प्रतिमाओं का होना इस बात को अधिक प्रकट करता है कि पूर्वकालीन इस वैष्णव मंदिर में जैन प्रतिमाएं कालान्तर में स्थापित की गयीं। कैथुली की कहानी कुकड़ेश्वर में भी दोहरायी गयी।

पुराजिलाना में ११वीं या १२वीं सदी के एक जैन मन्दिर के अवशेष एक चौखट और जिन प्रतिमाओं के रूप में प्राप्त हुए हैं। इनके आधार पर पूर्व में विद्यमान मन्दिर की वास्तुकला के बारे में कोई निश्चित धारणा व्यक्त करना संभव नहीं है।[1]

मोड़ी में एक शैव मन्दिर को कुछ प्रारंभिक सर्वेक्षणों द्वारा जैन मन्दिर मान लिया था किन्तु कालान्तर में उन्हीं सर्वेक्षकों को अपनी यह भूल ज्ञात हुई कि वह एक जैन मंदिर न होकर वस्तुतः लकुलिशका मंदिर है। अतः मोड़ी के शिव मन्दिरों के साथ इसका वर्णन करना उचित होगा।[2]

बही पारसनाथ में श्वेताम्बरों का श्री बही पारसनाथ का शिखर बंध मन्दिर है जो श्री संघ द्वारा बनवाया गया था। मंदिर के द्वारों के चौखट और विशेषकर गर्भगृह के द्वार की चौखट पर जो उत्कीरण है,

---

१. इं स्टे० ग०, पृ० ५८.
२. वही, पृ० ४३. (पाद टिप्पण).

ठीक वैसा ही चित्तौड़गढ़ स्थित चौबीसी के गर्भगृह की चौखट पर है। चित्तौड़गढ़ स्थित चौबीसी का समय १०वीं-११वीं शताब्दी है। अतः वही पारसनाथ का समय भी लगभग यही प्रमाणित होता है। गर्भगृह के द्वार की चौखट के ऊपर और भी मूर्तियां उत्कीर्ण हैं किन्तु उन पर अब सीमेंट का प्लास्टर कर दिया गया है। इस मन्दिर में १०वीं और ११वीं शताब्दी की कला के सुन्दर उदाहरण देखने को मिलते हैं। दीवारों में जो मूर्तियां हैं, वे श्यामवर्णी हैं।[1]

घसोई नामक ग्राम में एक उपाश्रम और एक जैन मन्दिर है। मूलनायक श्री पार्श्वनाथ से संबंधित यह मन्दिर है। इसमें चार प्रस्तर प्रतिमाएं और एक धातु प्रतिमा है। इस गांव के पास ही एक विशाल जलाशय था, जो अब सूख गया है। इस जलाशय में से जैन धर्म से संबंधित कितने ही अवशेष प्राप्त हुए हैं। मूर्तियां आदि परमारकालीन प्रतीत होती हैं।[2] यह भी श्वेताम्बरों का तीर्थ है।

आलोट के पास उन्हेल ग्राम में एक खण्डहर में कुछ खण्डित शिलाखण्ड तथा प्रतिमाएं मिली। इसमें एक विशाल नग्न प्रतिमा नागयुक्त तीर्थंकर पार्श्वनाथ की थी।[3] इस कारण इस ग्राम को नागादेव की उन्हेल भी कहा जाता रहा। इन शिलाखण्डों को सिन्दूर से पोत रखा है किन्तु कुछ प्रतिमाएं सिन्दूर लगाकर भी अपनी दिगम्बरावस्था की प्रतीति देती रही। इस अवशेषों को ११वीं अथवा १२वीं शताब्दी का माना जा सकता है। अतः यह स्वीकार करना होगा कि ११वीं शताब्दी में उन्हेल में भी एक दिगम्बर जैन मन्दिर का अस्तित्व था। अभी अभी जैनियों ने इस मन्दिर का पूरी तरह जीर्णोद्धार किया है। अतः यह मन्दिर अब प्राचीनता की दृष्टि से अध्ययन के योग्य नहीं रहा।

देवास जिले में बिजवाड़ में एक विशाल जैन मन्दिर के अवशेष प्राप्त हुए हैं। अध्ययन से ज्ञात होता है कि यह मंदिर १०वीं-११वीं शताब्दी का रहा होगा। इस मंदिर के खण्डहरों से जिन मूर्तियां प्राप्त हुई हैं। यहां प्राप्त एक तीर्थंकर शान्तिनाथ की मूर्ति २.४७।। मीटर ऊंची और आधार पर १.१५ मीटर चौड़ी है।[4] यह प्रतिमा भोपाल ले जाई गयी। देवास जिले में गंधावल नामक ग्राम में भी १०वीं अथवा ११वीं शताब्दी के कई जैन मंदिरों के अवशेष प्राप्त हुए हैं। गंधावल में खेतों, कुओं, उद्यानों और घरों की दीवारों में अनेक जैन मूर्तियां बिखरी पड़ी हैं।[5]

यह मान्यता प्रकट की गयी है कि वहाँ के भवानी के मन्दिर में तीर्थंकर शान्तिनाथ सहित अनेक जैन प्रतिमाएं विद्यमान हैं, अतः यह एक जैन मन्दिर रहा होगा। इसी प्रकार की मान्यताएं दरगाह, सीतलामाता का मन्दिर और गंधर्वसेन के मन्दिर के बारे में भी प्रकट की गयी हैं। किन्तु इन सारी मान्यताओं के पीछे कहीं कोई भावुकता छुपी हैं। यह सही है कि इन सभी स्थानों पर तीर्थंकरों की, अथवा जैन धर्म से संबंधित यक्षिणियों यथा चक्रेश्वरी एवम् अंबिका तथा यक्षों की मूर्तियां विद्यमान हैं, किन्तु इनसे इन स्थानों को निश्चित

---

१. जैन तीर्थ सर्वसंग्रह, २, पृ० १०८.
२. प्रा०म०मा०जै०ध०, पृ० १४८.
३. वही.
४. इ० स्टे० ग०, पृ० ६.
५. अनेकान्त, १६, पृ० १२६; प्रा० म० मा० ज ० ध०, पृ० ६८.

रूप से जैन धर्म का कहना उचित नहीं है। यह एक तय बात है कि परमारकाल में गंधावल में एकाधिक जैन मन्दिर रहे होंगे। कालान्तर में ध्वस्त हो जाने पर उनके अवशेष यत्र तत्र बिखर गये होंगे या इनके मलवे से अन्य मंदिरों का निर्माण कर दिया होगा। ऐसी स्थिति में गंधावल परमारकालीन जैन निर्माण का ठोस पुरातत्वीय संकेत तो देता है किन्तु वहां वर्तमान में स्थित उक्त कथित धर्म-स्थलों को जैन मान लेना समीचीन नहीं होगा।[1]

कालीपीठ (राजगढ़) में प्रवेश करते ही मार्ग से दाहिनी ओर एक खेत में विशालकाय जैन प्रतिमाओं के भग्नावशेष दिखाई देते हैं। इनके आसपास तीन बावड़ियां बनी हैं। निकट ही भग्न मंदिर के स्तम्भावशेष पड़े हुए हैं। इन्हें देखकर लगता है कि १२वीं शदी में एक विशाल मंदिर इस भूभाग पर रहा होगा। खेत में पड़ी हुई जैन मूर्तियों में से एक मूर्ति २.९५ मीटर लम्बी, ८० से० मी० चौड़ी तथा ४५ से० मी० मोटी है। इसकी दोनों भुजाएं खंडित हो चुकी है। इसके दोनों ओर ७५ से० मी० ऊंची चामर-धारिणियों की मूर्तियां है। मूर्ति के ऊपरी भाग में दो हाथी भी अंकित हैं। महावीर की दूसरी मूर्ति १.७५ मीटर लम्बी तथा प्रथम मूर्ति के सदृश ही है।[2]

गुना जिले के ग्राम बजरंग गढ़ में स्थित दिगम्बर जैन मन्दिर एक महत्व की उपलब्धि है। यह मन्दिर मूलतः नागरशैली का पंचरथ मंदिर रहा होगा। इसकी शिखर संयोजना भी भूम्यात्मक शैली की थी। शिखर ध्वस्त हो जाने पर मन्दिर के उसी अधिष्ठान पर आज से लगभग दो सौ वर्ष इस मन्दिर का जीर्णोद्वार या पुनः निर्माण किया गया। परिणामस्वरूप वर्तमान गुम्वद अस्तित्व में आया।

धरातल से लगभग ४.५० मीटर तक का मंदिर अधिष्ठान आज भी अपनी मूल अवस्था में देखा जा सकता है। इसमें मंदिर की छत, प्रवेश द्वार व तोरण सम्मिलित हैं। इन अवशेषों की कला और मूर्ति लेखों से इस मंदिर का निर्माण काल १३वीं शताब्दी का आरम्भ माना जा सकता है।[3]

भोपाल जिले की तहसील बेरसिया के दक्षिण में १८ किलोमीटर दूर बालाच्वान नामक ग्राम है। यहां ब्राह्मण मंदिरों की ही भांति परमारकाल में जैन मंदिरों का निर्माण भी करवाया गया था। यहां जो जैन शासन देवियों की प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं, उनसे यहां प्राचीनकाल में विद्यमान जैन मंदिर के कला और वैभव की कल्पना सहज हो जाती है। कुछ प्रतिमाओं का उल्लेख युक्तियुक्त होगा। पद्मावतीं की प्रतिमा यहां की सर्वश्रेष्ट प्रतिमाओं में अग्रणी है। यहां अम्बिका की दो प्रतिमाएं भी प्राप्त हुई हैं। एक प्रतिमा तो ललितासन में प्रदर्शित है, दो भूजावली खड्गधारिणी प्रतिमा है। इसका वाहन अपेक्षाकृत विशाल, सशक्त और स्वाभाविक बन पड़ा है। पद्मावती ने एक हाथ पर शिशु को बिठा रखा है। शिशु के नितम्ब पर मां का आभूषणों से युक्त हाथ स्पष्ट दिखायी पड़ रहा है। हाथ के कंकण एवम् चूड़ियों की छटा निराली है। गले में पड़ा चन्द्रहार एकावली, रत्नमाला, कण्ठश्री, कर्णन्कुण्डल, रत्न जडित मुकुट शोभनीय हैं। केश सज्जा में कलाकारों ने अपनी विचित्र कल्पना को साकार किया है। उसमें मोतियों को इस प्रकार गूंथ कर ललाट के सौन्दर्य में वृद्धि की है। बालक के एक हाथ में आम्रफल है। उसने दूसरा हाथ अपनी मां के स्तन पर रखा है। पादपीठ के ऊपर

---

१. प्रा० म० मा० जै० ध०, पृ० ९९.
२. वही.

उसके पार्श्व में दोनों ओर दो-दो सेविकाएं उत्कीर्ण की गयी हैं, जिनका केश-विन्यास अद्‌भुत एवम् चमत्कृत करता है।

बालाच्वान में कार्योत्सर्ग मुद्रा में खंडित जैन तीर्थंकरों की कई प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं। वहां से प्राप्त एक विशाल-काय यक्षी अर्थात् अम्बिका की प्रतिमा अत्यन्त सुन्दर है। यह १८२ से०मी० लम्बी एवं स्थूलकाय है। यह अपने बायें हाथ पर एक शिशु को धारण किये है। बालक एक हाथ में आम्रफल धारण किये है तथा दूसरे हाथ में यह अपनी मां के कर्णाभरण से खेल रहा है। यक्षी के आभूषण और वस्त्रादि तो कलागत समृद्धि के धोतक हैं ही, उसकी क्षोणि, कटि, भावपूर्ण मुद्रा भी अत्यन्त प्रभावोत्पादक है।[1] इन प्रतिमा-साक्ष्यों द्वारा बालाच्वान के जैन मंदिरों की वास्तुकला-श्रेष्ठता की सहज कल्पना की जा सकती है।

लक्ष्मणी अलीराजपुर से ८ किलोमीटर दूरी पर स्थित है। यहां परमारकालीन जैन मंदिरों के काफी अवशेष प्राप्त हुए हैं। इस स्थान के अनेक जिन् प्रतिमाएं, स्तम्भ व तोरणों के अवशेष तथा शिखर-खण्ड प्राप्त हुए हैं।[2] लगता है लक्ष्मणी जैन-ग्रन्थों में उल्लिखित लक्ष्मणीपुर नामक प्राचीन जैनतीर्थ है। ऐसा संदर्भ प्राप्त होता है कि एक नन्द ने यहां के प्राचीन जैन मंदिर को १५वीं सदी में देखा था। पैथड़ मंत्रीश्वर के पुत्र झांझण कुमार ने मांडवगढ़ से शत्रुंजय का जो संघ निकाला था, वह लक्ष्मणीपुर आया था।[3]

जैन मन्दिरों के अवशेषों से यह निर्णय लेना सहज है कि यहां का प्राचीन मन्दिर भूमिज शैली में पंचरथ अथवा सप्तरथ प्रकार का था। उसका शिखर उपशृंगों द्वारा भूम्यात्मक बनाया गया था। इन आधारों पर कहा जा सकता है कि यहां का जैन मन्दिर ११वीं या १२वीं शताब्दी में निर्मित हुआ।

मामोन में तीर्थंकर की २.६५ मीटर ऊंची एक प्रतिमा प्राप्त हुई है, जिसके आसपास दो यक्षों और पांच तीर्थंकरों की मूर्तियां मिली हैं। पार्श्वनाथ की प्रतिमा की सुन्दरता को देखकर यह धारणा प्रकट की गयी है कि यह १०वीं शताब्दी की प्रतिमा है। इससे ज्ञात होता है कि यहां १०वीं शताब्दी में एक जैन मन्दिर था। इसका चौखट अभी भी वहां देखा जा सकता। उस पर एक जिन मूर्ति अंकित है।

मन्दिर की भित्ति पर एक ताक में अम्बिका की तथा एक अन्य ताक में चक्रेश्वरी की प्रतिमाएं हैं।[4]

उज्जैन जिले में स्थित झार्डा में कुछ जैन प्रतिमाएं उपलब्ध हुई हैं, जो ११वीं शताब्दी की हैं। यह दोनों शासन देवियां हैं। इस उपलब्धि से यह सिद्ध होता है कि झारड़ा नामक ग्राम में भी परमारकाल में एक दर्शनीय जैन मन्दिर था।[5]

---

१. आ० प० मा०, पृ० १०५.
२. प्रा० म० मा० जै० ध०, पृ० १५०.
३. जैनतीर्थ सर्व संग्रह, ३, पृ० ३१३-१४.
४. आ० स० इ० (१९२५-२६), पृ० १६१.
५. प्रोग्रेस रि० आफ आर्को० सर्वे वेस्टर्न आर्कि० सर्कल (१९२०), पृ० १००.

ऊन के मन्दिर परमारों की निर्मितियां हैं तथा मालवा की परमारकालीन भूमिज शैली का शतप्रतिशत अनुकरण है। अतः बिना ऊन के मन्दिरों के अध्ययन के मालवा की मन्दिर वास्तुकला का अध्ययन अधूरा ही रह जाता है।

ऊन में ब्राह्मण और जैन दोनों ही प्रकार के मन्दिरों का साथ साथ अस्तित्व रहा। ये मन्दिर ११वीं और १२वी शताब्दी के हैं। प्रमुखतः उदयादित्य और नरवर्मन को उनके निर्माण का श्रेय जाता है।

ऊन में दो जैन मन्दिर हैं। ये मन्दिर हिन्दू मन्दिरों की ही भांति परमारों की प्रिय भूमिज शैली में हैं। अतः उदयेश्वर के मन्दिर के समान हीं विमान योजना व शिखर शैली रखते हैं। यही स्थिति ऊन के अन्य मन्दिरों की भी है। बड़ा जैन मन्दिर स्थानीय निवासियों में "नहल अवर का डेरा" तथा लोकप्रिय संबोधन में चौवारा डेरा क्रमांक २ कहलाता है। इसका शिखर अब नहीं है। फिर भी यह एक आकर्षक पुरावशेष है। इसके समाने एक द्वार-मण्डप है, उपरान्त मण्डप है, फिर छोटा अन्तराल और फिर गर्भगृह है। मण्डप आठ स्तम्भों से युक्त है। वर्तमान में जो चौवारा दिखाई देता है, वह अलंकृत स्तम्भों का एक आकर्षक नूमना है, तथा वह परमार स्थापत्य कला की ऊंचाइयों को छूता दिखाई देता है।[1] कृष्णदेव का मत है कि यह मन्दिर कुमारपाल के समय की चालुक्य शैली में निर्मित किया गया होगा।[2]

किन्तु इस मत को मानने में एक आपत्ति है। यह चौवारा शैली और अलंकरण में चौवारा डेरा क्रमांक १ के तुल्य बैठता है और इस नाते वह निश्चित ही परमार शैली का सिद्ध होता है।

इस जैन मन्दिर के कुछ दूरी पर ही एक दूसरा जैन मन्दिर भी है, जिसे ग्वालेश्वर का मन्दिर कहते हैं। यह नाम सम्भवतः इसलिये पड़ा कि यहां ग्वाले शरण लेते थे। यह मन्दिर अभी भी अपनी पूर्णता में देखा जा सकता है। केवल आमलक और चूड़ामणि का उसमें अभाव है शैली तथा अलंकरण की दृष्टि से यह चौवारा क्रमांक २ के तुल्य ही है। ऐसा लगता है कि मन्दिर का द्वार मण्डप बनवाया नहीं गया था। इसका महामण्डप वर्गाकार है। उसके तीन द्वार बाहर की ओर खुलते हैं तथा एक गर्भगृह की ओर जाता है। एक छोटे अन्तराल द्वारा गर्भगृह मण्डप से जुड़ा है। गर्भगृह मण्डप से लगभग ३ मीटर नींचे है। इस कारण गर्भगृह में सोपान मार्ग द्वारा ही पहुंचा जा सकता है।[3] कृष्णदेव का मत है कि यह मन्दिर परमार और चालुक्य मन्दिर वास्तुकला का मिश्रित नमूना है।[4] इस कथन में बहुत कुछ सार दिखायी देता है क्योंकि ग्वालेश्वर के मन्दिर का शिखर बहुत कुछ ऊन में विद्यमान अन्य मन्दिरों के शिखर से पर्याप्त भिन्नता रखता है। यह सहज भी है क्योंकि नरवर्मन और उसके उत्तराधिकारी के समय मालवा पर चालुक्य आधिपत्य स्थापित हो गया था। इधर मालवा नरवर्मन और उधर चालुक्यराज कुमारपाल दोनों ही जैन धर्म के सबल समर्थक थे। संभव है इन मन्दिरों के जैन निर्माताओं ने दोनों की ही प्रेरणा ग्रहण करके इन मंदिरों का निर्माण करवाया होगा। इन आधारों पर

---

१. इ०स्टे० ग०, पृ० ७१-७२.
२. आ० प० मा० पृ० ४२: जैन आर्ट एण्ड आर्कि० २५. २१७.
३. इ० स्टे० ग०, पृ० ७२.
४. जैन आर्ट एण्ड आर्कि० २, पृ० २९७ पर कृष्णदेव का लेख।

चौवारा क्रमांक २ के बारे में यह कहा जा सकता है कि यह चौबारा एक ओर परमार शैली में निर्मित चौबारा क्र० १ के समरूप है। यदि उसका शिखर ग्वालेश्वर के शिखर के समान रहा हो तो दूसरी ओर वह भी परमार और चालुक्य शैलियों का सम्मिश्रण कहा जा सकता है।

चौवारा क्रमांक २ की तीर्थंकरों की दो प्रतिमाएं इस समय इन्दौर संग्रहालय में हैं। बड़ी प्रतिमा शान्तिनाथ की है। ग्वालेश्वर मन्दिर के गर्भगृह में तीन विशाल जिन प्रतिमाएं अभी भी विद्यमान हैं। इनमें मध्य की प्रतिमा जो सर्वाधिक विशाल है, लगभग ३.७५ मीटर है। पाद लेख से ज्ञात होता है कि मन्दिर का निर्माण सन् १२०६ ई० में हुआ। अभिलेखीय आधार पर चौबारा डेरा क्रमांक २ का निर्माण काल सन् ११८५ ई० है।[1]

विविध प्रमाण : आष्ठा में परमारकालीन जैन प्रतिमाएं और जैन चित्र उपलब्ध हुए हैं। वैसे वहां परमारकाल की बहुत सी सामग्री प्राप्त हुई है, जिससे यह सिद्ध होता है कि ई० की १०वीं शताब्दी में वहां कोई जैन मंदिर होगा।[2]

मक्सी में वर्तमान मंदिर दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराओं का एक धार्मिक सामंजस्य माना जाता है। वर्तमान मंदिर जिस प्राचीन जैन मंदिर के ध्वंसावशेष पर खड़ा है, उसका समय १०वीं शताब्दी माना जा सकता है, क्योंकि मक्सी में इस शताब्दी में निर्मित चक्रेश्वरी, तीर्थंकर नेमीनाथ तथा अन्य जिन मूर्तियां प्राप्त हुई हैं। वर्तमान मं.दिर के जो स्तम्भ हैं, वे अलंकरण और शैली की दृष्टि से निश्चित ही परमारकालीन हैं।[3] तारकाकृत गर्भगृह, उसके सामने का मण्डप व दोनों को जोड़ने वाला अन्तराल निश्चित ही परमार शैली और कला का आभास देते हैं। मध्य और आधुनिक काल में यहां जो जीर्णोद्धार हुए, निश्चित ही इससे प्राचीनकाल के अवशेष अध्ययन के अधिक योग्य नहीं रह गये हैं।

सुन्दरसी शाजापुर जिले में एक परमारकालीन समृद्ध बस्ती रही है। यहां का जैन मंदिर अब ध्वस्त हो यत्र तत्र बिखर चुका है। निश्चित ही यहां का जैन मंदिर ११वीं शताब्दी का होगा क्योंकि इसी शताब्दी में १०३२ ई० में एक परमार नरेश ने इस नगर की स्थापना की थी।[4] सुन्दरसी के जैन मंदिर का द्वार-पट्ट, उष्णीशयुक्त तीर्थंकर, खंगासन पार्श्वनाथ तथा पद्मासन पार्श्वनाथ प्रतिमाएं उज्जैन के जयसिंहपुरा स्थित जैन संग्रहालय में देखी जा सकती हैं।

मालवा के जैन पुरावशेषों के प्रारंभिक अध्ययन एवं अनेक मूर्तियों के पाद-पीठ पर उत्कीर्ण अभिलेखों के आधार पर डा० वाकणकर अतिरिक्त रूप से अनेक जैन-निर्माणों की चर्चा करते हैं।[5] उनके इस सर्वेक्षण के अनुसार उज्जैन के जैन संग्रहालय में आंखलेश्वर, गोंदलमऊ, सुन्दरसी, जामनेर, बदनावर आदि स्थानों से प्राप्त परमारकालीन मूर्तियां विद्यमान हैं। इसी प्रकार झारडा, सोनकच्छ, भौंरासा, नेमावर, पेटलावद, रिंगनोद, नीमथूर, बजरंग गढ़, कुंभराज, पाटई, खण्डवा, गुन्नास, टिमरनी आदि स्थानों से पाद-पीठ अभिलेख युक्त

---

१. इ० स्टे० ग०, पृ ७१.
२. मा० प० क०, पृ० ७६
३. जिनवाणी, १९७४, पृ० ३७.
४. मा० प० क०, पृ० ७७-७८.
५. श्री महावीर स्मारिका में उनका लेख : मालवा के जैन पुरावशेषों का प्रारंभिक अध्ययन, पृ० ९२-१००.

जिन-मूर्तियां प्राप्त हुई हैं जिनका समय ११वीं से १४वीं शताब्दी के मध्य का है। यही स्थिति ओंकारेश्वर के पास सिद्धवरकूट एवं पचौर की भी मानी जा सकती है।[१] इन प्राप्तियों से यह सिद्ध होता है कि परमारकाल में इन स्थानों पर दर्शनीय जैन मंदिर रहे होंगें।

शैव मन्दिर वास्तुकला

परमारकाल में शैव-धर्म की प्रगति

मालवा में शैव धर्म का सदैव ही पर्याप्ति प्रभाव रहा है। गुप्तोत्तरकाल में शैव मत बहुत तेजी से विकसित हुआ और परमारकाल में तो शैव मत की चौमुखी धूम मची रही। यह सही है कि मंदिर निर्माण के संबंध में जैनियों ने हर कहीं शैव निर्माणों का मुकाबला किया किन्तु जैन धर्म का यह अस्तित्व प्रदर्शन केवल जैनाचार्यों व धार्मिक-स्थल निर्माणों तक ही सीमित रहा। धन के बांहुल्य जैनियों ने अनेक निर्माण करवाये एवम् साधुओं, आचार्यों तथा लेखकों के अम्बार प्रस्तुत किये। किन्तु जैन मत आम जनता को नही पकड़ पाया। चारों ओर शैव मत की धूम थी। वैष्णव मत भी उसके बाद उत्साहपूर्वक वर्धित था।

परमार नरेश सीयक द्वितीय शैव मत को मानने वाला था। प्रायश्चित समुच्चय में वर्णन है कि वह लम्बकर्ण नामक एक मत्तमयूर शैवाचार्य का शिष्य था।[२] पौराणिक परम्परा के अनुसार लम्बकर्ण उज्जैन (अवंती) में भैरव के रूप में प्रतिष्ठित था।[३] वाक्पति द्वितीय भी शैव मत का अनुयायी था। उसके अभिलेख पार्वती और श्रीकण्ठ की महिमा से प्रारम्भ होते हैं।[४]

सिन्धु-राज भी शिव-भक्त और हाटकेश्वर का उपासक था। यह तथ्य नवसाहसांकचरित से ज्ञात होता है।[५]

भोज तो शैव मत का सबसे अधिक समर्थक था। 'तत्वप्रकाश' नामक उसका ग्रन्थ तो शैव मत से ही संबंधित था। उसके केदारेश्वर, सोमानाथ आदि तीर्थों पर निर्माण कार्य करवाये।[६] भोजपुर का भोजेश्वर मंदिर तथा चित्तौड़ का संधीश्वर मंदिर शिव मंदिरों के रूप में उसकी निर्मितियाँ हैं।[७] घंटोली के घंटेश्वर मंदिर के लिए भी भोज द्वारा दान दिये जाने का तिलकवाड़ा ताम्रपत्र में उल्लेख है।[८] इससे यह ज्ञात होता है कि उसने शैव निर्माणों व विद्यमान शैव मन्दिरों को पर्याप्त प्रोत्साहित किया। जयसिंह का पानाहेड़ा अभिलेख

---

१. प्रा० म० मा० जैन० ध०, पृ० १५८.
२. मा० थ्रू० ए०, पृ० ४०७.
३. दी शाक्त पीठ्स, पृ० ७.
४. इंडियन एटिक्वेरी, ६, पृ ५१; इं० इं० २२, पृ० १०८.
५. नवसाहसांकचरित, पृ० ३०४.
६. इं० इं०, १, पृ० २३६-३७.
७. इम्पीरिल गजेटियर, ७, पृ० १२१, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, ३, पृ० १-१८.
८. भण्डारकर अभिलेख सूची, क्र० १२०.

हमें सूचित करता है कि सन् १०५६ ई० में पांशूल-खेटक में मण्डलेश्वर का शैव मन्दिर बनवाया गया था।[1] इसी काल में परमारों की अर्थूण शाखा के नरपति धनिक ने उज्जैन में महाकाल के निकट धनेश्वर का मन्दिर निर्मित करवाया।[2]

उदयादित्य का राज्यकाल शैवधर्म के लिये स्वर्णकाल था। उदयपुर को बसाकर वहां उसने सन् १०५९ और १०८० के मध्य नीलकंठेश्वर का महान मन्दिर निर्मित करवाया।[3] ऊन के महाकालेश्वर, नीलकंठेश्वर व बल्लालेश्वर के शैव मन्दिरों का निर्माण भी उसी के समय हुआ प्रतीत होता है। उज्जैन के महाकाल मन्दिर के पुनर्निर्माण का श्रेय भी उदयादित्य को ही जाता है।[4] शेरगढ़ अभिलेख से ज्ञात होता है कि भोज की ही भांति उसने शिवमन्दिरों को भरपूर दान दिये।[5] उदयादित्य के ही समय में झालरापाटन में तेलियों के संघ के प्रमुख जन्न ने शैव मन्दिर का निर्माण करवाया था।[6]

राजा नरवर्मन यद्यपि वैष्णव था किन्तु शैव और जैन मत के प्रति भी उसका बहुत लगाव था। अनेक सन्दर्भों से ऐसा ज्ञात होता है कि वह जैन था। महाकालेश्वर मन्दिर अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने उज्जैन में एक शैव मन्दिर बनवाया।[7] जयवर्मन द्वितीय के समय में देपालपुर, शाकपुर और ओंकारेश्वर में शैव मत के मन्दिरों का निर्माण हुआ।[8] इसी काल में अधि-द्रोणाचार्य वंश के विजयपाल देव नामक एक सामन्त ने इंगणपद्र नामक स्थान पर गोहदेश्वर मन्दिर के निमित्त अगासियक नामक गांव को दान में दिया था।९

मालवा पर कुछ समय तक चालुक्यों का अधिकार हो गया था। ऐसी मान्यता है कि उन्होंने शैव मन्दिरों को सुरक्षित रखने के लिये पर्याप्त दान किये थे।[10] अब इसमें अधिक शंका नहीं रह गयी है कि बिलपांक का शैव मन्दिर एक सोलंकी निर्माण है। ग्यारसपुर के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि विदिशा के परमार महाकुमार शैव मत के थे व उसे आश्रय देने के लिए भरपूर दान देते थे।[11]

---

१. इ० इं०, २१, पृ० ४२.
२. वही.
३. आ० स० इं०, (१९२३-२४).
४. मितल अ० च० : परमार—अभिलेख, पृ० १४२-४३.
५. इ० इं०, २३, पृ० १३१.
६. जर्नल आफ एशि० सोसा० आफ बेंगाल, १९१४, पृ० २४१.
७. मित्तल अ० च०: परमार अभिलेख, पृ० १८०.
८. प्रोग्रेस रिपोर्ट आफ आर्कोलाजिकल सर्वे, वेस्टन सर्कल, (१९१२-१३) पृ० ५६.
९. इं० ऐन्टिक्वेरी, ६, पृ० ५५-५६.
१०. मा० श्रू० ए०, पृ० ४४४.
११. इं० इं०, ३३, पृ० ९३-९४.

शैव मत के इस भरपूर विकास का श्रेय शैवों की शैव, पाशुपत, कालदमन, कापालिक आदि शाखाओं को जाता है।[१]

परमारकाल में मत्त-मयूर शाखा ने भरपूर प्रगति की। मत्तमयूर आचार्यो ने उपेन्द्रपुर, अरणिपद्र आदि स्थानों पर मठ स्थापित करके शैव धर्म का खूब प्रचार किया। मत्तमयूर आचार्यों में रुद्रशिव, पुरन्दर, काचशिव, सदाशिव, हृदययेश, व्योम-शिव आदि उल्लेखनीय हैं।[२] राणोद में जो अनेक निर्माण कार्य हुए थे, उनका श्रेय पतंग-शूंभ को जाता है। वह हृदयशिव का अनुयायी था।[३]

यह परमारों के लिये गर्व का विषय था कि द्वादश ज्योतिर्लिगों में महाकालेश्वर एवम् ओंकारेश्वर उनके राज्य में थे। परमारों तथा उनके सामन्तों और प्रजाजनों ने जो अनेक शिव मन्दिर बनवाये, उनके परोक्ष एवम् प्रत्यक्ष कई उदाहरण सामने आये हैं।

परमारकालीन शैव स्थापत्य

परोक्ष प्रमाण : कई ऐसे परमारकालीन मन्दिरों के सन्दर्भ हमें ज्ञात होते हैं, जो आज उपलब्ध नहीं हैं। ये परोक्ष साक्ष हमें अभिलेखों, प्रतिमाओं तथा साहित्यिक सन्दर्भों के माध्यम से परमारकाल में शैव मन्दिरों के अस्तित्व का बोध कराते हैं।[४]

इसी प्रकार शैवों के विभिन्न सम्प्रदायों के मठ और उनसे संबंधित धर्मस्थल अब केवल साहित्य द्वारा ही जाने जा सकते हैं। आमर्दक तीर्थ की बहुत चर्चा साहित्य एवम् राणोद अभिलेख में आई है। इस तीर्थ की पहिचान भी अब कठिन हो गयी है। बहुत कुछ यही स्थिति उपेन्द्रपुर, कुण्डलपुर आदि की भी बनती है। सिन्धुराज, हाटकेश्वर के जिस मन्दिर में विवाह के उपरान्त गया था, वह मन्दिर भी अब कहीं दिखायी नहीं देता। पानाहेड़ा का मण्डलेश्वर और उज्जैन का घनेश्वर मन्दिर भी अब इतिहास के गर्त में हैं। देपालपुर और शाकपुर के जो मन्दिर परमारकाल में बने थे, उनका स्थान खोज पाना भी अब कठिन है। उज्जैन के प्रसिद्ध शैव मठ चंडिका-श्रम का अता-पता अब नहीं है।[५]

साहित्य और छितरे हुए पुरातत्वीय अवशेषों के आधार पर इस तरह हमें अनेक ऐसे शेष मन्दिरों की जानकारी प्राप्त होती है, जो परमारकालीन थे और अब नहीं है।

---

१. मा० श्रू० ए०, पृ० ४४५.
२. क०आ०स०इं०, १३, पृ० ८; इ०, इं०, २०, पृ० १०५.
३. इ०इं०, १, पृ० ३५१.
४. परोक्ष प्रमाण निम्न सामग्री पर आधारित हैं.
 (क) मा०प०क०, अ० ५ (ख) मा०श्रू०ए०, अ० १३,
 (ग) इ०स्टे०ग० (घ) आ०प०मा०, पृ० ६ से १३.
 (ङ) मित्तल : परमार अभिलेख
५. इंडियन एंटिक्वेरी, ११, पृ० २२१.

समरांगण सूत्राधार तो यहां तक बताता है कि प्रत्येक नगर में अन्य देवताओं के मन्दिरों के साथ साथ शैव मन्दिर का होना एक अनिवार्य तथ्य था।[1]

माण्डव व नालछा में कुछ टूटी हुई प्रतिमाएं शैव धर्म से संबंधित उपलब्ध हुई हैं, जो इस बात को प्रमाणित करती हैं कि इन स्थानों पर भी परमारकाल में शैव मन्दिरों के निर्माण की शृंखला रही होगी।

जावरा से दो किलोमीटर पश्चिम में बोरदा नामक ग्राम में जो परमारकालीन शैव मन्दिर था, उसका अस्तित्व अब केवल कुछ अवशेषों एवम् प्रतिमाओं से ही ज्ञात होता है।

हरसोला का प्राचीन नाम हर्षपुर था। यहां से ९४९ ई० का सीयक द्वितीय का जो ताम्रपत्र मिला है, उससे ज्ञात होता है कि यह उस समय अमरनाथ महादेव का मन्दिर था। बस्ती में कुछ परमारकालीन शैव मूर्तियां अभी भी देखी जा सकती हैं।[2]

बेटमा में राजा भोज का सन् १०२० ई० का एक ताम्रपत्र मिला है।[3] साथ ही नगर में परमारकालीन कई शैव प्रतिमाएं भी मिली हैं, जो यह प्रमाणित करती हैं कि यहां परमारकाल में कोई शैव मन्दिर विद्यमान था।

उज्जैन में सर्पबन्ध अभिलेख की उपलब्धि इस दृष्टि से विशेष महत्व रखती है। यह सर्पबन्ध भोज एवम् उदयादित्य का प्रिय रहा है। यह धार की भोजशाला, ऊन के चौवारा डेरा, उदयपुर के नीलकंठेश्वर की ही भांति प्राचीन महाकाल मंदिर में भी उत्कीर्ण किया गया जा। अतः इस संभावना से इन्कार नहीं किया जा सकता कि महाकालेश्वर का एक विशाल मन्दिर उदयादित्य ने यहां बनवाया हो तथा उसके उपरान्त पुराना मंदिर का नरवर्मन ने या तो पुनर्निर्माण करवाया हो या उसमें विस्तार किया हो।

महाकालेश्वर का यह मंदिर अत्यन्त भव्य एवम् विशाल रहा होगा। वस्तुत: आज की ही भांति महाकाल मंदिर का पूरा परिसर उद्यान एवम् मंदिरों से युक्त था। अभिलेखीय प्रमाणों से प्रतीत होता है कि महाकालेश्वर के पास धनेश्वर का मंदिर भी था।* वर्तमान में उज्जैन में जो कोट मोहल्ला है, उसे यह प्रतीत होता है कि महाकाल मन्दिर परिसर के इर्द-गिर्द विशाल परकोटा था, जिसके प्रमाण अभी भी उपलब्ध हैं। इस परकोटे का प्रवेश द्वार चौबीस खम्बा नामक स्थान निरूपित किया गया है।

पुराविदों ने यह धारणा प्रकट की है कि चौबीस खम्बा ११वीं सदी में निर्मित एक मण्डपनुमा द्वार था, जहां से महाकाल मन्दिर परिसर में प्रवेश किया जाता था। समय-समय पर हुए जीर्णोद्धार के बावजूद भी यह परिसर अभी भी प्राचीन परमार वास्तुकला को सहज हुए हैं। चौबीस खम्बा के स्तम्भों को देखने पर परमार स्थापत्य के सौष्ठव व विशालता का सहज ज्ञान हो जाता है। यही स्थिति बिना नीव की मस्जिद को देखने से

---

१ स०सू० ४०।१३.
२. इ०ई०, १९, पृ० २३६.
३. वही, १८, पृ० ३२०.
*संबंधित विवरण सन्दर्भ अध्याय में पूर्व में दिया जा चुका है।

भी ज्ञात होती है। यह प्रस्तरशाला प्रारम्भ में एक परमार निर्मित थी । धार की भोजशाला की भांति मुस्लिम काल में मस्जिद में परिवर्तित कर दी गयी।

उज्जैन के परमारकालीन शैव मंदिर, जिनमें विशाल महाकालेश्वर मंदिर सम्मिलित था, अत्यन्त ही उच्च श्रेणी के स्थापत्य का प्रतिनिधित्व करते रहे होंगे। वे अत्यन्त अलंकृत तथा विभिन्न देवी-देवताओं की प्रतिमाओं से खचित रहे होंगे। ये प्रतिमाएं एवम् अलंकरण महाकालेश्वर के वर्तमान मंदिर से लगाकर क्षिप्रा तट पर बने घाटों तक अवशिष्ट रूप में प्राप्त होते हैं। इन प्रतिमाओं में नृत्य करते हुए शिव, उमा-महेश्वर, भैरव, गजासुरन्हन्ता, शिव-पार्वती आदि की अनेक अद्वितीय प्रतिमाएं हैं। साथ ही गणेश, महिसापुर मर्दिनी, त्रिपुरान्तक, चामुण्डा, भैरवी आदि की अनेक प्रतिभाएं भी देखी जा सकती हैं।[1]

मन्दिरों का वस्तुतः उज्जैन में साम्राज्य ही था। इस साम्राज्य के अवशेष आज भी उज्जैन के पुराने मोहल्लों के निवासों की नीव एवम् अधिष्ठानों में लगे दिखाई देते हैं। उज्जैन में एकाधिक स्थानों पर परमार-कालीन शैव मन्दिरों के अवशेष प्राप्त होते हैं। निकटवर्तीय उंडासा ग्राम से एक परमारकालीन अभिलेख मिला है। वहां स्थित प्राचीन रत्नाकर सागर के किनारे पर शिव, भैरव, कीचक और पार्वती की ११वीं शताब्दी की मूर्तियां उपलब्ध होने से यह प्रमाणित होता है कि वहां परमारकाल में शिव मंदिर रहा होगा। उज्जैन में काल भैरव मन्दिर के निकट स्थित ओखलेश्वर नामक स्थान पर शिव, कार्तिकेय, चामुण्डा, दुर्गा, शिव-पार्वती आदि की परमारकालीन मूर्तियां उपलब्ध हुई हैं, जो वहां परमार शैव मन्दिर के विद्यमानता का सक्षम सन्देश देती हैं।

उज्जैन के कई ऐसे स्थलों, जिनका वर्णन स्कन्दपुराण में आया है और जिनमें ८४ ईश्वर, चार द्वाराधिपति एवम् अन्य कई स्थल सम्मिलित हैं, पर अभी भी परमारकालीन लघु मन्दिरों व शैव धर्म से सम्बन्धित प्रतिमाओं के उनके परमारकालीन होने के साक्ष को प्रस्तुत करते हुए दर्शन हो जाते हैं। इनमें से अनेक मन्दिरों का जीर्णोद्धार और पुन-निर्माण मराठाकाल में होंने से अब वे मन्दिर वास्तुकला की दृष्टि से अध्ययन हेतु बहुत कम सहयोगी होते हैं।

महिदपुर निश्चित ही परमारकालीन बस्ती रही है। यहां प्राप्त प्रतिमाओं से यह ज्ञात होता है कि यहां परमारकाल में एक शैव मन्दिर विद्यमान था।

इन्दोख ग्राम में ११वीं-१२वीं शताब्दी की अनेक शैव प्रतिमाएं परमारकालीन दिखायी देती हैं। इसके साथ ही मन्दिर के अवशेष भी हैं, जो यह सिद्ध करते हैं कि यहां परमारकाल में शिव मन्दिर रहा होगा।[2]

---

१. उज्जैन सम्बन्धी उपर्युक्त विवरण निम्न सामग्री पर आधारित है:
बाकरणकर वि० श्री०: उज्जैन के अतीत पर विहंगम दृष्टि (उज्जयिनी दर्शन, १९८०) पृ० ३२-३३.
निगम श्यामसुन्दर: मालवा की हृदय स्थली अवन्तिका, पृ ५५-५६, ६१, ६९.

२. मा०प्र० क०, पृ० ७०.

मालवा की सबसे प्राचीन बस्तियों में से एक कायथा नामक ग्राम है, जो ताम्राश्मयुगीन टीलों पर स्थित है। १९६८ में यहां हुए उत्खनन के परिणाम स्वरूप यहां परमारकाल के मन्दिरों के अवशेष मिले हैं। जो मूर्तियां उपलब्ध हुई हैं उनमें से कुछ शैव मत से संबंधित हैं। इनमें चामुण्डा, महिषासुर-मर्दिनी, नृत्य करते हुए गणेश, वीणाधारी शिव की प्रतिमाएं विशेष उल्लेखनीय हैं।[1]

मन्दसौर अपनी स्थापना के समय से ही शैव मत का केन्द्र रहा है। आज यद्यपि कोई परमारकालीन शैव मन्दिर वहां उपलब्ध नहीं है किन्तु परमारकालीन अनेक शैव मूर्तियां जिनमें नन्दी पर शिव-पार्वती, शिव लकुलीश, चामुण्डा आदि की प्रतिमाएं सम्मिलित हैं, वहां इस काल में शैव मंदिर होने का प्रमाण देती हैं। मन्दसौर जिले में स्थित छोटे से ठकुराई ग्राम के पश्चिम में एक शैव मन्दिर भग्नावस्था में विद्यमान है। यहां पर परमारकालीन, गणेश, गजासुर-मर्दक, शिव आदि शैव प्रतिमाएं दिखाई देती हैं।[2]

हिंगलाजगढ़ मन्दसौर जिले का एक महान कलातीर्थ सुविधा से माना जा सकता है। यहां १०वीं-११वीं शताब्दी में एक विशाल परमारकालीन दुर्ग युक्त नगर था। इसमें शिव, वैष्णव, शाक्त एवम् जैन मतों से संबंधित अनेक मन्दिर विद्यमान थे। इस समय हिंगलाजगढ़ पूरी तरह उजड़ चुका है। यत्र तत्र बिखरी पुरा-सामग्री ही परमारकालीन कला और स्थापत्य का परिचय देती हुई दिखायी देती है। इन सामग्रियों में प्रतिमाओं का विशिष्ट महत्व है। यहां की अधिकांश प्रतिमाएं इन्दौर संग्रहालय और भोपाल के बिरला संग्रहालय में पहुंचा दी गई हैं। यहां उपलब्ध प्रतिमाओं में से कुछ ४थी-५वीं शताब्दी से लेकर राष्ट्रकूट-प्रतिहार काल तक की हैं, किन्तु अधिकांश प्रतिमाएं परमारकालीन हैं।

हिंगलाजगढ़ की प्रतिमाएं कला की दृष्टि से इतनी आकर्षक, विविधा पूर्ण एवम् अद्वितीय हैं कि भारत की महानतम प्रतिमाओं के मुकाबिले में सुविधा से रखी जा सकती हैं। हिंगलाजगढ़ की शैव प्रतिमाओं में लकुलिश, सदाशिव, वीणाधर, हरिहर, उमा-महेश्वर आदि की तथा गौरी के विभिन्न स्वरूपों महिषासुर-मर्दिनी, दुर्गा, चामुण्डा आदि की प्रतिमाएं विशेष उल्लेखनीय हैं।

आर० एस० गर्ग का यह कथन उचित ही है कि हिंगलाजगढ़ शैली की कला-कृतियां पूर्वी मालवा और निमाड़ की परमारकालीन कलाकृतियों से कम नहीं हैं। कुछ कलाकृतियां तो भारत की श्रेष्ठतम मध्यकालीन कलाकृतियों के सदृश्य हैं। ऐसा लगता है कि मानों परमारों का सारा शिल्प-वैभव हिंगलाजगढ़ की घाटी में ही बिखर गया था।[3] मूर्तिकला के इन प्रमाणों से परमारकालीन शैव-मन्दिर वास्तुकला की उदारता एवम् आकर्षण की सहज ही कल्पना की जा सकती है। इसे दुर्भाग्य ही कहा जावेगा कि हिंगलाजगढ़ के परमारकालीन स्थापत्य को मूर्तिकला की भांति प्रकाश में लाने का कोई सुनियोजित प्रयास अभी तक नहीं हो पाया है।

मोड़ी में शैव धर्म से संबंधित अनेक मूर्तियां उपलब्ध होती हैं। यहां की मूर्तियों में कलात्मक

---

१. विक्रम विश्वविद्यालय : कायथा एक्सकेवेशन रिपोर्ट, पृ० २२.

२. मा० प० क०, पृ० ६६.

३. आ० प० मा०, पृ० ९३-९८.

सौन्दर्य के साथ साथ कला प्रयोगों का भी सामंजस्य है। इस दृष्टि से नग्न भैरव, महिषासुरमर्दिनी, त्रिपुरारि, शिव, चतुर्हस्त शिव आदि की प्रतिमाएं अत्यन्त ही उल्लेखनीय हैं। मोडी कों कला की दृष्टि से बिना संकोच के हिंगलाजगढ के निकट रखा जा सकता है।

खोर नामक स्थान अनेक परमारकालीन अवशेषों को अपने अन्तराल में छिपाए हुए है। कुछ अवशेषों से यह निर्णय लिया जा सकता है कि उस समय यहां कतिपय शिव मन्दिर रहे होंगे।[१]

मानपुरा के निकट दूदाखेड़ी में भी कुछ शैव प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं, किन्तु यह कहना कठिन है कि परमारकाल में यहाँ कोई शैव मन्दिर रहा होगा। संभव है यहां के वैष्णव मन्दिर में शिव की प्रतिमा लगाई गई होगी।[२]

मानपुरा तहसील में मालव-जन का अत्यधिक प्रिय तीर्थ शंखोद्धार था। यहां अनेक प्राचीन मन्दिरों के अवशेप थे। इन मन्दिरों में अनेक प्रतिमाएं भी थीं। यह इतिहास का दुर्भाग्य ही माना जावेगा कि मन्दिर वास्तुकला की दृष्टि ने अत्यधिक महत्वपूर्ण ये स्थान अब चम्वल बांध की डूब में आ गया है। नावली में दो प्राचीन मन्दिर विद्यमान हैं, जिनमें से एक नन्दीकेश्वर का मन्दिर है। यह नावली ग्राम के दक्षिण में एक विशाल चौपड़े के पास है। इस मन्दिर का मण्डल एवम् शिखर फा ऊपरी भाग लुप्त हो चुका है किन्तु उसका सादा गर्भगृह एवम् अलंकृत चौखट विद्यमान हैं। नन्दीकेश्वर मन्दिर का लिंग नीचे से अष्टकोणी और ऊपर गोल है। चौखट के दोनों ओर शिवगण उत्कीर्ण हैं, जो खट्वांग युक्त हैं। मन्दिर के गर्भगृह के प्रवेश द्वार पर ब्रह्मा, सूर्य एवम् विष्णु की मूर्तियां उत्कीर्ण हैं। गर्भगृह में अनेक मूर्तियां हैं। एक सुसज्जित नन्दी पर आसीन शिव और पार्वती की प्रतिमा अत्यधिक आकर्षक है। ऐसा लगता है कि नावली का सम्वन्ध किसी प्रकार नागों से अवश्य रहा होगा। क्योंकि वहां एक प्रस्तर स्तम्भ पर नागराज तक्षक की प्रतिमा उत्कीर्ण है। अब तो इससे अधिक कहने का कुछ रह ही नहीं गया है।[३]

परमारकाल में झालरापांटन में भी अनेक भूमिज शैली के मन्दिर वनाये गये। शैवधर्म से संबंधित कतिपय प्रतिमाओं की वहां उपलब्धि से यह कहना युक्तियुक्त ही है वहां परमारकाल में शिव मन्दिर रहा होगा।[४]

प्रत्यक्ष प्रमाण : परमार शैली के मन्दिरों का उद्भव केन्द्र निमाड़ जिले के ओंकार मांधाता का अमरेश्वर मन्दिर है। इसका निर्माण काल १०वीं शताव्दी का है। इस मन्दिर से जो शैली प्रारम्भ होती है, वही कालान्तर में न्यूनाधिक रूप में परमारशैली कहलाकर मालवा, राजस्थान, महाराष्ट्र और गुजरात में विभिन्न भागों तक फैल जाती है।

---

१. दशपुर दर्शन ("सौर" शीर्षक लेख दृष्टव्य).
२. इ० स्टे० ग०, पृ० २३.
३. वही, पृ० ४६-४७.
४. कृष्णदेव : टेम्पल्स आफ नार्थ इंडिया, पृ० ६९.

परमार मन्दिरों की भूमिज शैली के शिखर के चार मेरुदण्ड जो केन्द्र में ढालू चैत्यों से जाल रंध्र से युक्त होते रहे, अपने प्रारंभिक रूप में शुकवासा एवम् मूर्ति-फलकों सहित अमरेश्वर के मन्दिर में दिखाई पड़ते हैं।

ओंकार-मांधाता में ही और भी आधे दर्जन मंदिर इसी समय के विद्यमान हैं। वे सब भूमिज शैली में हैं और बुरी तरह ध्वस्त हो चुके हैं। इनके शिखर भी अब पूरी तरह लुप्त हैं। इनके मण्डोवर से ज्ञात होता है कि ये तारकाकृति स्वस्तिकार थे, जिनके शिखर या तो पंच भूम्यात्मक या सप्तभूम्यात्मक थे।

अमलेश्वर का मन्दिर १० वीं शताब्दी के मध्य बना था, किन्तु ११वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उसका पुनर्निर्माण किया गया। मूल मन्दिर का मण्डोवर अभी भी विद्यमान है जिससे उस समय के वेदिबन्धकोण, भद्र, जंघा आदि का ज्ञान हो जाता है। यह मन्दिर तारक योजना का था। इसका मूल शिखर कूट-स्तम्भों से युक्त रहा है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि ओंकार-मांधाता के जो भी इसके समकालीन मन्दिर अभी विद्यमान हैं, वे न्यूनाधिक रूप में अमरेश्वर (अमलेश्वर) के ही प्रतिरूप हैं।[१]

मांधाता का सिद्धनाथ मंदिर शिव को समर्पित है। तर्क दिया गया है कि यह मंदिर एक सर्वतोभद्र प्रासाद माना जा सकता है। ऐसे प्रासाद एक बड़ी वर्गाकार जगती पर खड़े किये जाते थे तथा चारों ओर प्राकारों से घिरे रहते थे। इन प्राकारों में चारों प्रमुख दिशाओं से प्रवेश होता था। मध्य में जो मन्दिर होते थे, उनमें अनेक गर्भगृह थे। इन प्रसादों के ही अनुरूप मांधाता का सिद्धनाथ का मन्दिर था। इसका गर्भगृह मन्दिर में है। गर्भगृह का मध्य भाग चार अन्तरालों से युक्त है। इन अन्तरालों से चन्द्र-शिलाओं द्वारा गर्भगृहों में प्रवेश किया जाता था। गर्भगृह और अन्तराल के आसपास चारों ओर मण्डप थे। इस सारे निर्माण में ७६ स्तम्भों का प्रयोग हुआ। इन स्तम्भों के आस-पास चारों ओर प्राकार थे। चारों दिशाओं पर सोपान पथ, स्तम्भ योजना, अन्तराल, चैत्य, शिला और अन्ततः संयुक्त गर्भगृह लगभग समान थे। ऐसा लगता है कि चार पृथक् पृथक् परमार मंदिर किसी एक योजना के तहत इकट्ठे किए गए हों। इसे महाघोष मंदिर का नाम भी दिया जा सकता है। शिखर-विहीन रह जाने से सिद्धनाथ मंदिर के शिखरों के बारे में निश्चित रूप से कुछ कहना संभव नहीं है।[२]

नेमावर का विशाल सिद्धेश्वर मंदिर : यह मन्दिर तारकाकृत एवम् सप्तरथ योजना का है। इसे कई विद्वानों ने ११वीं अथवा १२वीं शताब्दी का माना है। प्रस्तुत शोधकर्ता ने अनेक कारणों से उसे १०वीं शताब्दी का मानकर मालवा से उसे परमार मंदिरों का प्रेरणास्रोत कहा है। अपनी इस विशिष्ट दृष्टि के कारण इस मंदिर का विवेचन एवम् उसके निर्माण-समय विषयक तर्क पूर्व अध्याय में प्रस्तुत किये गये हैं।

उदयपुर में उदयादित्य द्वारा नीलकण्ठेश्वर नामक महादेव मंदिर का निर्माण कार्य १०५६ ई० में प्रारम्भ किया गया। १०८० ई० में मंदिर पूर्ण रूपेण निर्मित हुआ। उदयादित्य के ही नाम पर इस मन्दिर का नाम उदयेश्वर भी मिलता है। उदयपुर का नीलकण्ठेश्वर मंदिर परमार वास्तुकला का एक भव्यतम उदाहरण है। इस मंदिर में वास्तुकला एवम् मूर्तिकला का सुन्दर समन्वय हुआ है।

---

१. आ० प० मा०, पृ० (ii) (श्री कृष्णदेव का अध्यक्षीय भाषण).
२. वही, पृ० ५६ (श्री ए० पी० सागर का लेख).
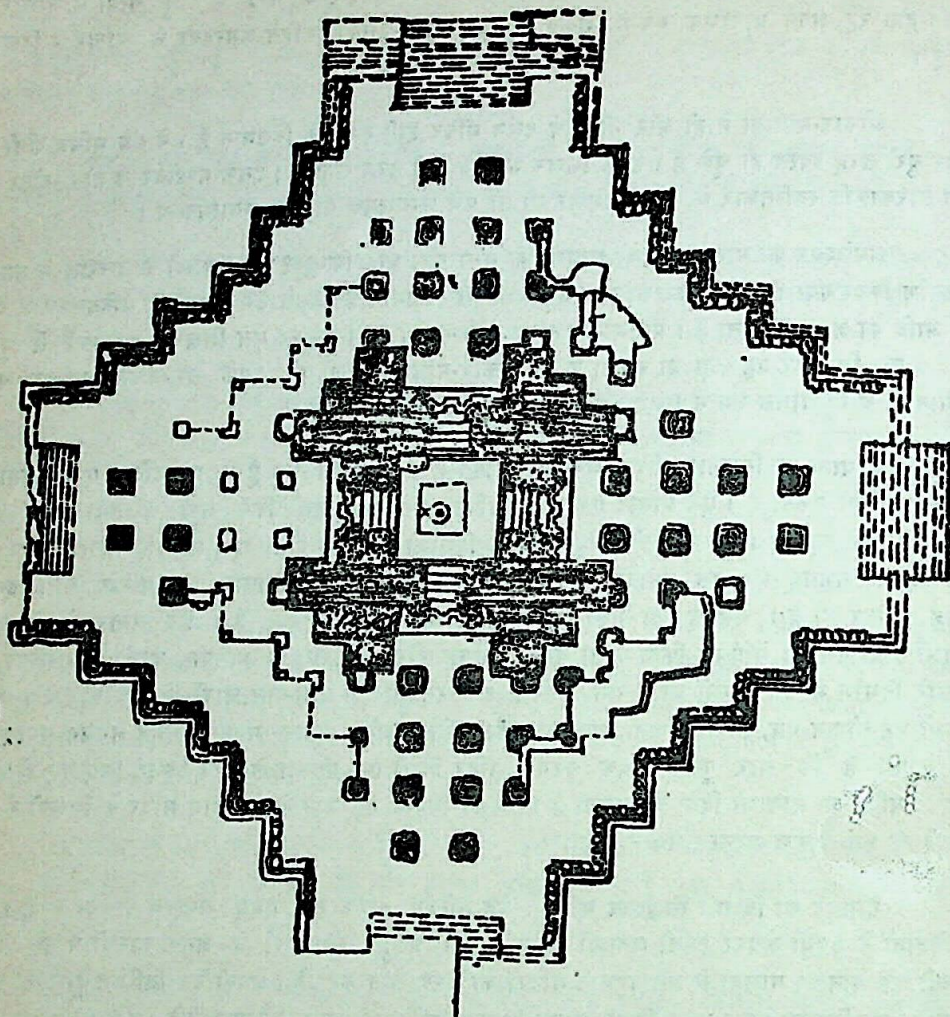
MĀNDHĀTĀ — Plan of Temple of Siddhanātha

Fig. 2

सिद्धनाथ मन्दिर, मांधाता (एक काल्पनिक योजना)
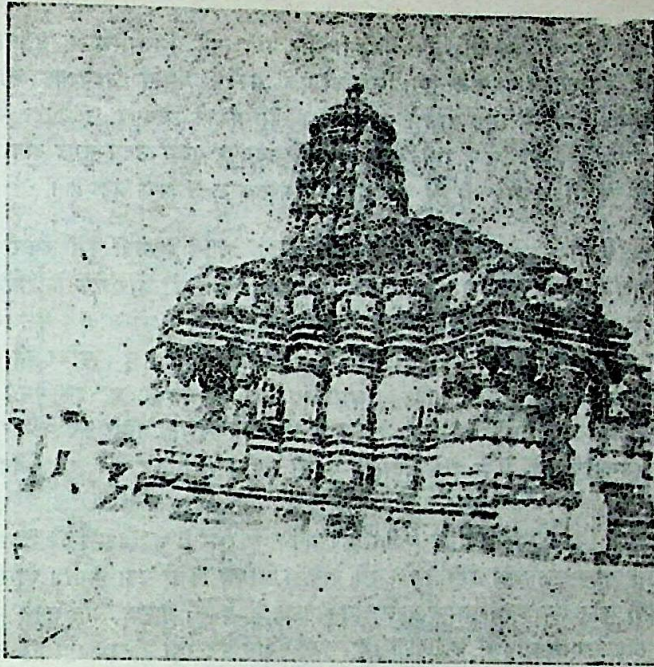
नीलकंठेश्वर मन्दिर, उदयपुर

इस मन्दिर की योजना ताराकार है। इसका गर्भगृह सप्तस्थ प्रकार का है। इस मन्दिर में अन्तराल, मण्डप तथा तीन द्वारमण्डपों का समावेश है। इस मन्दिर के प्रांगण में प्रारंभ से सात छोटे छोटे मन्दिर थे, जिनमें से दो पूर्ण-रूपेण नष्ट हो गये हैं। शेष अभी भी विद्यमान हैं। इनमें दर्शनीय केवल स्तम्भ ही हैं। मन्दिर एक सुविस्तृत जगती पर निर्मित है जिस पर सोपान क्रम के द्वारा पहुंचने की व्यवस्था है। इसके पार्श्वों में उच्चाकार की शैव-द्वारपालों की मूर्तियां हैं। गर्भगृह के शिखर की आकृति के विन्यास में उच्चकोटि की निपुणता का समावेश किया गया है। इसके लघु शिखरों की सात ऊर्ध्वाकार तथा पांच क्षेतिजाकार पंक्तियों में प्रत्येक वृतपाद को अलंकृत किया गया है। इसके साथ छाया एवम् प्रकाश की बड़ी ही सुरम्य व्यवस्था भी है। शिखर मूर्तिकला से सुसज्जित है और कुछ दूर तक विभिन्न देवी-देवताओं की अनेक मूर्तियां है। मध्यभाग में तांडवस्थ शिव तथा अनेक देवी-देवताओं की मूर्तियां हैं, जो उत्कृष्ट सौन्दर्य तथा सजीवता को प्रतिध्वनित करती हैं। मन्दिर का प्रमुखद्वार पूर्व की ओर है। इसके साथ ही साथ तीन द्वारों के मंडपों की बड़ेरियों पर उत्कीर्णकों की मूर्तियां है जो अपने सौन्दर्य एवम् भावाभिव्यक्ति के लिए प्रख्यात हैं। उदयपुर का नीलकण्ठेश्वर मन्दिर अपने समृद्ध अलंकरण, शिखर-आकृति के प्रतिम रूप तथा उसकी अवयवों की आनुपातिकता के लिये प्रख्यात हैं। वह मन्दिर परमारशैली के अन्तर्गत निर्मित मन्दिरों में विभिन्न दृष्टियों से विशिष्ट महत्वपूर्ण है तथा परमार शैली के विकास का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण कहा जा सकता है। यह कथन उचित ही है कि नीलकण्ठेश्वर मंदिर परमार-

शैली के मन्दिरों के मध्य रतन के सदृश्य है ।[1]

प्रमुख मन्दिर के पूर्वी प्रवेश द्वार की दाहिनी ओर पाये गये शिलालेख से सूचना मिलती है कि परमार नरेश उदयदित्य ने उदयपुर नगर बसाया, शिव का एक मंदिर अर्थात् उदयेश्वर का मंदिर निर्माण करवाया तथा उदय-सुमद्र नाम से एक तालाब बनवाया । इस प्रकार उदयपुर, उदयेश्वर मंदिर तथा उदय-समुद्र परमार शासक उदयादित्य की देन है । वर्तमान समय में उदयपुर एवम् उदय-सुमद्र दोनों हीं क्षीणता को प्राप्त हो चुके हैं, परन्तु यह मंदिर आज नौ सौ वर्षों बाद भी मस्तक ऊंचा किए खड़ा है ।

यह मन्दिर ६३ मीटर × ६३ मीटर के विस्तृत चौकोर प्रांगण में ऊंची कुर्सी देकर लाल बलुआपत्थर से निर्मित है । यह प्रांगण प्राकार से घिरा हुआ है, जिसमें पश्चिम दिशा की ओर एक मेहराबदार दरवाजा है । दरवाजे से लगी हुई एक मस्जिद है । प्राप्त शिलालेखों से प्रतीत होता है कि इसे बाद में मुसलमानों ने मुहम्मद बिन तुगलक के आदेश से बनाया । इसमें प्रयुक्त सामग्री मंदिर का ही अंश है । मंदिर की प्राकार भित्ति के बाह्य भाग में कलात्मक उत्कीरण है । मुख्य मंदिर के आसपास छोटे देवालय हैं, जो इस समय संख्या में छः हैं । ऐसा अनुमान हैं कि इनकी संख्या निर्माण के समय अवश्य ही आठ या नौ रही होगी । ये मन्दिर वर्गाकार तथा चार स्तम्भों युक्त हैं । इन देवालयों में से पांच देवालय समान रूप व गुण वाले हैं । छठा देवालय जो मुख्य मंदिर के पूर्वी द्वार के ठीक समाने बीचों-बीच बना हुआ है, अपने आकार व कलात्मक स्तर में अन्य पांचों देवालयों से भिन्न है । कुछ विद्वान इसे नंदीगृह मानते हैं । अनेक कारणों से यह देवालय अन्य लघु देवालयों का समकालीन प्रतीत नहीं होता । संभावना यही है कि इसे बाद में निर्मित किया गया होगा । मन्दिर के प्रांगण में ही मुख्य प्रवेश द्वार के बायीं ओर एक ध्वज-स्तम्भ टूटी दशा में लगा हुआ है । संभवतः वह अपने मूल रूप में मन्दिर के पूर्वी प्रवेश द्वार के ठीक समाने प्रांगण के मध्य में उसी स्थान पर रहा होगा, जहां इस समय वेदी निर्मित है ।[2]

मुख्य मन्दिर में एक सप्तरथ गर्भगृह, एक सभा मंडप, अन्तराल एवम् तीन प्रवेश मंडप हैं । मंदिर का शिखर ११.३२ । मीटर व्यास के वृताकार आधार पर ४८.६० मीटर ऊंचा है । उदयेश्वर मन्दिर का यह शिखर अंग-शिखरों को एक दूसरे पर संतुलित रूप से आधारित कर विकसित किया गया है । इस प्रकार इन लघु शिखरों की सात ऊर्ध्वाकार और पांच क्षैतिज पंक्तियों से सम्पूर्ण शिखर का निर्माण हुआ है । शीर्ष पर आमलक एवम् कलश शोभित है । इस शिखर-संतुलन की विशेपता शिखर अंग से कुछ ही नीचे अधर में खड़ी एक मानव मूर्ति से विदित होती है । इस मूर्ति का सम्पूर्ण शरीर अधर में टंगा हुआ है । केवल उसके दाहिने घुटने ने शिखर का नाम मात्र का आधार ग्रहण किया है । संतुलन का यह उदाहरण अपने आप में विशिष्ट है । इस मूर्ति के विषय में अनेक अटकलें लगायी गयी हैं । कुछ लोग इस मूर्ति को मंदिर निर्माणकर्ता स्थापति या कलाकार की मानते हैं । स्वर्गीय जायसवालजी के अनुसार यह स्त्री मूर्ति है, जो ध्वज दंड वहन करने के लिए बनाई गई है । यह मूर्ति वेशभूषा आदि के कारण किसी देवदूत अथवा पुरोहित की भी हो सकती है । पूर्वी दिशा में शिखर के नीचे मध्य में अर्थात् शुकनासा में स्थापित नटराज शिव की नृत्य मुद्रा मनोहारी है । नटराज शिव की नृत्य मुद्रा में स्थापित मूर्तियां उदयेश्वर मंदिर की प्रमुख विशेपता है । मन्दिर के जंघा भद्रालयों के उमा-महेश्वर, नृत्य मुद्रा में

---

१. आ० प० मा०, पृ० १०६-१० (श्री सुल्लरे का लेख).
२. मित्तल कमला : उदयपुर का उदयेश्वर मंदिर, आ० प० मा०, पृ० ११३-११५.
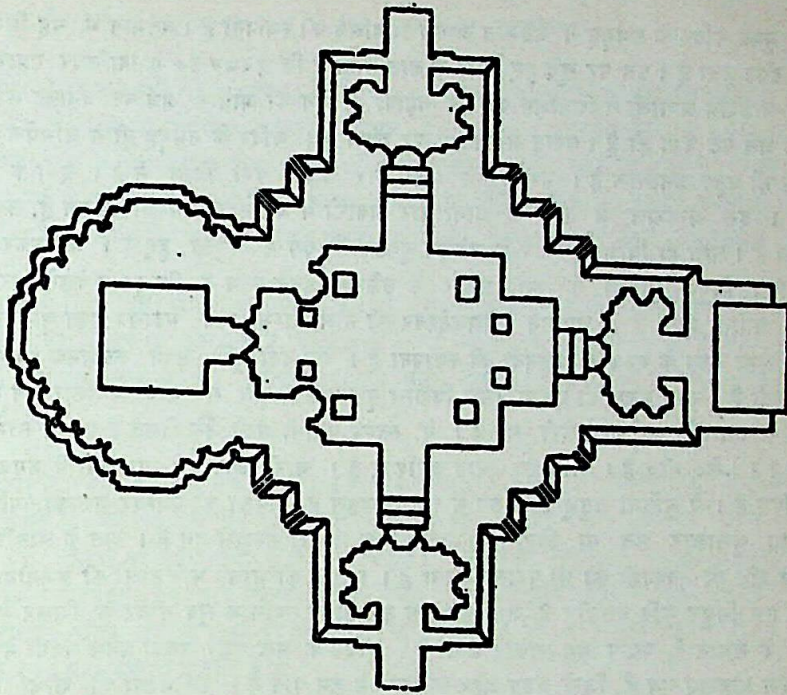
Fig. 31
Udayapura, Nilakaṇṭheśvara temple: Plan

नीलकंठेश्वर मन्दिर, उदयपुर (म० प्र०) योजना

गणेश एवम् गणेशानि, शक्ति के विभिन्न अवतारों की षोडष भुजा एवम् आयुध युक्त मूर्तियां महामुद्रा में जड़ी गई हैं। विविध रूपों में उकेरी गई अप्सरायें और यक्षणियां अपनी आकर्षक भाव भंगिमाओं के कारण विशेष दर्शनीय हैं। सूक्ष्मता के अनुपात से गढ़े गये अंग संतुलित और मनोहर हैं। उनकी मुख-मुद्राएं आन्तरिक तीव्र मनोवृत्तियों और उद्वेलित भावों की परिचायक हैं। भावों के अनुकूल शरीर के विभिन्न अंगों को कलाकार ने जिस तरह से जोड़ दिया है उससे प्रतीत होता है कि ये मूर्तियां पत्थर की नहीं है। उदयेश्वर मंदिर की मूर्तिकला को देखकर प्रतीत होता है कि भारतीय कलाकार पत्थर के काम में इतना दक्ष हो गया था कि वह इसे मोम की की तरह कांट छांटकर इच्छित भाव की अभिव्यक्ति पत्थर में कर सकता था। पत्थर की अत्यन्त सुन्दर मूर्तियों से मंदिर के अलंकरण की भारतीय वास्तु की अपनी निराली पद्धति है। उदयेश्वर मन्दिर में हमें इसका उत्कृष्ट रूप देखने को मिलता है। मंदिर की विशेषता यह है कि जहां हमें मन्दिर के अन्दर सूक्ष्म रूप में मिथुन मूर्तियों के उकेरण मिलता है, बाहर उनका कोई चिन्ह नहीं मिलता है जैसा कि हमें खजुराहो, जगन्नाथपुरी

अथवा कोणार्क में मिलता है।[1]

मुख्य मंदिर के गर्भगृह में भद्रमूर्ति अथवा शिवलिंग की स्थापना है। वर्तमान में यह शिवलिंग पीतल के खोल से ढंका हुआ है। इस पर खुदे हुए लेखों से ज्ञात होता है कि १०८४ ई० में ग्वालियर महाराज सिंधिया के सेनापति खांडेराव अप्पाजी ने शिवलिंग पर इसे चढ़ाया। लिंग का आधार अर्ध पट बनावट में भोजपुर के शिवलिंग के अर्ध पट जैसा ही है। परन्तु आकार में यह छोटा है। मंदिर के गर्भगृह ही से अभिषेक जल निकास की व्यवस्था भी बहुत कलात्मक है। गर्भ-गृह में प्रवेश द्वार केवल पूर्वी दिशा से है। इसी के ठीक बाहर अन्तराल है। इस अन्तराल में द्वार के दोनों ओर दीवारों में अर्ध स्तम्भों में जो उकेरण है, उसमें ब्रह्मा के उकेरण मुख्य हैं। साथ ही विभिन्न प्रकार के उकेरण मुक्तक के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। यह उकेरण लम्बवत पंक्तियों में है। मिथुन मूर्तियों के इसी प्रकार के उकेरण इतने सूक्ष्म हैं कि दूर से देखने पर ज्यामितीय रेखाकृति से प्रतीत होते हैं। भगवान नीलकंठेश्वर की गोल स्तम्भों वाले भद्रालय युक्त मूर्तियां लंबवत ही उत्कीर्ण हैं। सभा मंडप के मध्य में शिवनंदी की स्थापना है। यह नंदी मूर्ति अपने कलात्मक स्वरूप के कारण अर्वाचीन लगती है। सभा मंडप की शोभा उसके विशाल वृत्ताकार ८२.५ से० मी० वर्गाकार तल वाले स्तम्भों से है। इनमें सांकल और घटिका उकेरी गई है। ये स्तम्भ यूनानी शैली जैसे दिखते हैं। इन स्तम्भों की कुल ऊंचाई ३.१२।। से० मी० है। नीचे का भाग वर्गाकार है। चारों ओर वर्ग मुद्रालयों में भगवान शिव की मूर्तियां स्थापित हैं। ये मूर्तियां चतुर्भुज स्वरूप में तथा अलंकृत है। मंडप की उदम्बर शलाका पर्याप्त अलंकृत है। मंडप का वृत्ताकार छत या वितान को शालभंजिक अप्सरा सम्हाले हुए हैं। छत के आंतरिक भाग का उकेरण हाथी दाँत की नक्काशी को भी परास्त करता है। वितान की शाल भंजिकाओं की कमनीयता दर्शनीय है। इन्हीं में एक मिथुन मूर्ति दर्शनीय है, जो बहुत कुछ उड़ीसा के कोणार्क सूर्य मंदिर के शिखर में उकेरी गई मिथुन मूर्ति के समान है, यद्यपि यह आकार छोटा है। मंदिर के मुख मंडप अथवा प्रवेश मंडपों में भी लगभग वे ही अलंकरण दोहराए गये हैं, जिन्हें मंडप और धरातल में हम पाते हैं। इन मंडपों की शोभा उनमें बनाये गये झरोखे या छज्जे बढ़ा रहे हैं, जिन्हें हम वातायन भी कह सकते हैं। पूर्वी मुख-मंडप में अनेक लेख पाये जाते हैं जिनसे प्रतीत होता है कि समय समय पर लोग वहां आते रहे हैं व मंदिर में अर्चना होती रही है।[1]

उदयेश्वर मंदिर को हम पाषाण पर लिखी एक धार्मिक कविता कह सकते हैं। प्राचीनकाल में सत्यं-शिवं-सुन्दरं के जिस जिस सिद्धान्त का कला के रूप में विकास हुआ, परमार नरेश महाराणा उदयादित्य का यह मन्दिर उसका साक्षात स्मारक है। "अपराजितपृच्छा" एवम् 'समरांगण सूत्रधार' सौन्दर्यशास्त्र के आधार पर बनाये गये वास्तुशास्त्र के निश्चित तालमानों के समुचित पालन में ही उदयेश्वर मंदिर की वास्तुकला का रहस्य छिपा हुआ है। भूमिज शैली का यह उत्कृष्ट उदाहरण है एवम् समस्त समकालीन भारतीय मदिन्रों में यह अद्वितीय है। वस्तुतः यह एक वास्तुरत्न है। मुक्तक के रूप में जहां तहाँ प्रयुक्त फुलवारी अलंकरण में इस मंदिर ने अन्य सभी समकालीन मन्दिरों को पीछे छोड़ दिया है क्योंकि उनका प्रयोग बहुत ही मुक्त या स्वच्छन्द

---

१. मित्तल कमला : उदयपुर का उदयेश्वर मंदिर, आ० प० मा०, पृ० ११३-११५.

रूप में बड़ी चतुराई से हुआ है तथा कोणार्क के मंदिर की तरह बोझिल नहीं हो पाया है। कलाकार द्वारा तराशा गया यह हीरा, समतल एवम् वृत्ताकार रेखाओं का संतुलित उदाहरण है।[1]

उदयपुर से ही कुछ दूरी पर सुहानियां में, जो लगभग मालवा की सीमा पर है, कछवाहरानी काकन्वती का बनवाया गया मंदिर है जो महाराज ऋतुराज के समय १००० ई० में बनवाया गया था। कांकन मंदिर एक ऊंचे चबूतरे पर खड़ा है तथा अब लगभग स्तम्भों की बनावट ही का ढांचा मात्र रह गया है। शिखर अत्यधिक जीर्ण-शीर्ण हो गया है। आसपास के सहयोगी लघु मंदिर नष्ट हो चुके हैं। पोर्च भी लगभग ध्वस्त है किन्तु मण्डप और गर्भगृह अपने स्तम्भों सहित प्रतिमा खचित एवम् अलंकृत है। शिखर पर्याप्त ऊंचा व आकर्षक है।[2]

गुना जिले में पधावली में लगभग १००० ई० का एक मंदिर है। यह भी लगभग ध्वस्त सा है किन्तु मूल रूप में इसमें गर्भगृह, मण्डप एवं द्वार मण्डप विद्यमान थे। इस मंदिर के अलंकरण व प्रतिमाएं निश्चित ही आकर्षक हैं। रामायण और भागवत संबंधी दृश्य, सूर्य, ब्रह्मा, विष्णु और महेश की प्रतिमाएं निश्चित ही ध्यान खींचती हैं।[3]

कड़वाह का महादेव मंदिर एक दर्शनीय कृति है। कड़वाह में पूर्व में जो शैवमठ रहा उनके अवशेष अभी भी देखे जा सकते हैं। यह मठ मत्तमयूर संप्रदाय से संबंधित रहा। यहां मठ के इर्दगिर्द १०वीं और ११वीं शताब्दी के १४ मन्दिरों का पता लगा है जिनमें महादेव का मंदिर सर्वाधिक सुरक्षित है। मंदिर एक ऊंचे चबूतरे पर विशाल गर्भगृह और द्वार मण्डप सहित खड़ा है। द्वार-मण्डप शिखर तथा लघु शिखर युक्त है। गर्भगृह का शिखर अधिक ऊंचा है। यह शिखर पिरामिड के आकार का है। मंदिर की भित्तियां एवम् स्तम्भ अलंकरण से युक्त तथा प्रतिमा-मण्डित हैं।[4]

गुना जिले के ये मन्दिर परमार-पूर्व और परमारकाल के संधिकाल के हैं। ये भूमिज शैली में नहीं हैं। साथ ही इनकी शिखर योजना भी भिन्न प्रकार की है। परमारकालीन होने पर भी ये परमार मंदिर वास्तुकला से मुक्त हैं औद यह सिद्ध करते हैं कि परमारों के प्रभावों से न केवल यह क्षेत्र मुक्त रहा है अपितु यह क्षेत्र मंदिर स्थापत्य की दृष्टि से प्रतिहार-कछवाह कला का अधिक प्रतिनिधित्व करता है।

गुप्तोत्तर वास्तुकला में गर्भगृह के सामने मण्डप होना आवश्यक नहीं था। इस आवश्यकता से मुक्ति का अन्तिम प्रमाण कड़वाहा का मन्दिर है क्योंकि लगभग इसी काल के इस क्षेत्र और मालवा क्षेत्र

---

१. वही.
* जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है कि यह भारत प्रसिद्ध मंदिर लगभग पूरी तरह सुरक्षित है तथा परमार मंदिर-वास्तु एवं भूमिज शैली का प्रतिनिधित्व करनेवाला सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। इस कारण जान-बूझकर इसका पर्याप्त विस्तार से विवरण दिया गया है।

२. क०हे०म०भा०, पृ० ८४.

३. वही, पृ० ८६.

४. आर्कोलाजी इन ग्वालियर, पृ० ६४.

के अन्य मन्दिरों के लिए सभा मण्डप का होना अत्यधिक अपरिहार्य हो गया था। कड़वाहा का महादेव का मन्दिर मण्डप-मय मन्दिर विश्व में अमण्डप-मय सौन्दर्य है।

राजा भोज का बनाया हुआ भोजेश्वर का शैव मन्दिर भोजपुर में है। यह १०वीं शताब्दी का है और वर्गाकार योजना का है। भोजपुर की मनोरम झील के किनारे एक छोटी पहाड़ी पर यह दर्शनीय मंदिर अवस्थित है। मन्दिर की छत चार विशाल अलंकृत एकाश्म स्तम्भों पर आश्रित है। छत के नीचे उभरे हुए गोलाकार स्तम्भों पर पुष्प, गायक और देवताओं की मूर्तियां उत्कीर्ण की गई हैं। इसके प्रवेश द्वार पर स्त्री, पुरुष व कुबेर अंकित हैं। यहां के अवशेषों के अध्ययन से विदित होता है कि यहीं पास में एक शिव-मन्दिर और था। इस अवशिष्ट शिव मंदिर का प्रमुख प्रवेश द्वार ३० फीट (९ मीटर) ऊंचा व ४.५० मीटर चौड़ा था। ब्राह्मण मन्दिरों के लिए इतने विशाल द्वार की कल्पना निश्चित ही मन्दिर वास्तुकला में मौलिकता का प्रदर्शन माना जावेगा। इस मन्दिर का शिखर १९.५० मीटर से २१.०० मीटर तक ऊंचा होगा। ऐसी धारणा व्यक्त की गयी है कि यह मन्दिर भी अपने अभिलेखीय प्रमाणों द्वारा राजा भोज द्वारा निर्मित माना गया है।[1]

भोजपुर के भोजेश्वर मन्दिर के बारे में गांगुली ने लिखा है कि उसका गर्भगृह और प्रवेश द्वार अत्यन्त आकर्षक है। गर्भगृह के चारों ओर १९.८० मीटर वर्गाकार स्थान प्रदक्षिणा पथ के लिये छोड़ा गया है। इस मन्दिर की गुम्बदनुमा छत के नीचे २.२५ मीटर ऊंचा एक विशाल शिवलिंग है। उसकी जलाधारी का व्यास लगभग ६.६० मीटर है। यह सारा दृश्य खजुराहो के चन्देल मन्दिर मंतगेश्वर की याद दिलाता है।[2] इन मन्दिरों में व अन्यत्र प्रतिमाओं और अलंकरण का भव्य उकेरण हुआ है।

राजा भोज द्वारा निर्मित यह वास्तु वस्तुतः मालवा के मन्दिर शिल्प में नये प्रयोग का साक्षी है। भूमिज शैली प्रारम्भ की जा चुकी थी किन्तु परमारकालीन पूर्व के मन्दिर की वर्गाकार रथ योजना का आग्रह अभी शेष था। स्तंभों की विशालता और एकाश्मता का अनुसरण किया जा रहा था। उस शैली के विकास की ओर आगे बढ़ा जा रहा था जो एक ओर ओंकार-मांधाता में अमरेश्वर के मन्दिर के रूप में, दूसरी ओर महाराष्ट्र के अंबरनाथ मंदिर के रूप में तथा तीसरी ओर राजस्थान के सेवारी में महावीर मंदिर के रूप में अभिव्यक्त हो रही थी। इसी शैली का मालवा में नेमावर के मंदिरों के रूप में प्रारंभिक एवम् उदयेश्वर के मंदिर के रूप में विकसित स्वरूप दिखाई देता है।

ग्यारसपुर में जो अठखम्बा है,[3] उसके बारे में यह धारणा व्यक्त की गयी है कि मूल रूप में यह एक शैव मन्दिर था किन्तु अभी तक इस धारणा को पूर्णता देने वाला कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

परमारकला एवम् वास्तुकला का प्रमुख केन्द्र ऊन में जैन धर्म की ही भांति ब्राह्मण धर्म से संबंधित अनेक मन्दिर हैं। जहां तक शैव मंदिरों का प्रश्न है, ऊन में नीलकंठेश्वर, बल्लालेश्वर, महाकालेश्वर तथा चौबारा डेरा क्रमांक १ विशिष्ट उल्लेखनीय है। मन्दिर अभी भी विद्यमान हैं तथा अध्येताओं के लिये पर्याप्त आकर्षण रखते हैं। मन्दिरों का अपना सौन्दर्य तथा सौष्ठव रहा है। आर० डी० बनर्जी ने तो यहां तक कहा है

---

१. आ०स०इ० (१९२६-२७), पृ० ४८; मा०प०क०, पृ० ३३२-३३.
२. गांगुली डी०सी० : हिस्ट्री आफ परमार डायनेस्टी, पृ० २७०.
३. क०हे०म०भा०, पृ० १०६.

कि सारे उत्तर भारत में खजुराहो और भुवनेश्वर के बाद ऊन के समकक्ष ऐसा कोइ स्थान नहीं है जहां मन्दिरों का इतना बड़ा समूह उपलब्ध हो।[१] वास्तुकला की दृष्टि से यहां के ब्राह्मण और जैन धर्म के बीच कोई विशेष अन्तर नहीं है। फिर भी इतना कहना पड़ेगा कि जैन मन्दिर के शिखर संभवतः चालुक्य शैली से प्रभावित होकर कुछ ब्राह्मण मंदिरों के शिखर से विभिन्नता रखते रहे होंगे।

ऊन के ये शैव मंदिर स्थनीय बलुआ पत्थर से निर्मित हैं। साधारणतः मंदिरों के गर्भगृह के सामने मण्डप होते हैं। गर्भगृह और मण्डप के मध्य अन्तराल होता है। महा-मण्डप स्तम्भयुक्त हैं और स्थानीय भाषा में चौवारा डेरा कहलाते हैं। ये मण्डप गर्भगृह की दिशा से अतिरिक्त तीन ओर से मुख-मण्डप से युक्त हैं। ये मन्दिर भूमिज शैली के हैं। इनमें प्रदक्षिणा पथ हैं। प्रदक्षिणा पथ ढंका हुआ है। वे पाद जिन पर मन्दिर खड़ें हैं, बहुत विशाल, ऊंचे और प्रस्तर निर्मित रहे हैं। मन्दिरों के अधिष्ठान और जंघा अलंकृत कोणों वाले हैं तथा देवी-देवताओं, अप्सराओं और मिथुन- मूर्तियों से युक्त हैं। भद्रों पर चामुण्डा, नटराज और त्रिपुरारि की प्रतिमाएं हैं। गर्भगृह पर जो शिखर हैं, वे योजना में परमारकालीन शिखरों से भिन्न नहीं है। इन्हें चार कोने पर चैत्यमुखी शुकनासाओं, ग्रासमुखों से ऊपर उठती हुई शिखर तक चली गई लताओं एवम् मध्यवर्ती स्थानों पर ऊरू-शृंगों से युक्त किया गया है। शृंगपरम्परा आमलक तक पहुंच कर समाप्त हो जाती है।

मन्दिरों के अन्तर्भाग में स्तम्भ, आड़े स्तम्भ, चौखट और छत हैं। ये सब अत्यधिक अलंकृत हैं और आबू के देलवाड़ा मन्दिर की याद दिलाते हैं। मंदिर की जंघाओं और भद्रों पर मुख्य देवता के पारिवारिक देवगण तथा महिला प्रतिमाओं का अभूतपूर्व अंकन किया गया है, जो निश्चित ही आकर्षक का केन्द्र बिन्दु है।[२] ऊन के मन्दिर शैली तथा समय के मान से नीलकंठेश्वर उदयपुर के निकट बैठते हैं किन्तु शिखर व रथ योजना में पर्याप्त स्वतंत्रता लेते हैं। वे सप्तायतन न होकर पंचायतन हैं। ऊन के प्रत्येक शैव मन्दिर का अध्ययन अन्यथा न होगा।

नीलकंठेश्वर मन्दिर : यह मन्दिर योजना और निर्मित में उदयपुर के मन्दिर के समान है। यह मन्दिर भव्य किन्तु अपेक्षाकृत सादगी लिये हुए है। गर्भगृह के सामने द्वार, पार्श्व और ऊपर के आलिन्द पूरी तरह अलंकृत थे। एक दरवाजे के ऊपरी भाग पर एक नृत्य दृश्य अंकित है, जिसमें शिव को सप्त-मातृकाओं के साथ नृत्य करते हुए बताया गया है। गर्भगृह के मध्य में शिवलिंग है। मन्दिर में अन्यत्र विष्णु, सूर्य, वराह, पार्वती, चामुण्डा, त्रिपुरारि आदि की प्रतिमाएं सज्जित की गई हैं।[४] (छायाचित्र : अग्रिम पेज १९६)

चौवाराडेरा क्रमांक १ : ऊन के मन्दिरों में सबसे महत्वपूर्ण एवम् विशाल मन्दिर चौबाराडेरा क्रमांक एक है। ऊन के मन्दिरों की जो विशेषताएं सामान्य रूप से ऊपर बताई गई हैं, वे सब यहां देखी जा सकती हैं। गंगोली के अनुसार ग्वालियर के सास-बहू मंदिर की तरह यह अलंकृत शिल्पोत्कीर्ण मन्दिर है।[५]

---

१. माडर्न रिव्यू, क्र० XLVIII, २४९-५४.

२. आ०प०मा०, पृ० ४७ (श्री खरे का ऊन पर लेख),

३. वही.

४. इं०स्टे०ग०, पृ० ७०; क०हे०म०भा०, पृ० १३३.

५. गांगुली डी०सी० : हिस्ट्री आफ परमार डायनेस्टी, पृ० २६४.

पार्श्व भागों में मुख-मण्डपों का विशिष्ट संयोजन इस मन्दिर की विशेषता है। गर्भ-गृह का शिखर टूट चुका है, किन्तु जो कुछ प्रमाण उपलब्ध हैं, उनसे ज्ञात होता है कि इसका शिखर परमारों की भूमिज शैली का ही था। मण्डप के चार वर्तुल उत्कीर्णस्थल चार विशाल प्रस्तरीय धरिणकाओं का भार वहन किये हुए हैं जिन पर अलंकृत शिखर आधारित है। मन्दिर के बाहरी भाग के सामने का पोर्च तथा मण्डप का आन्तरिक भाग उत्कृष्ट अलंकरणता को प्रस्तुत करते हुए देलवाड़ा (आबू) के मन्दिरों की याद दिलाते हैं।[1]

नीलकंठेश्वर मन्दिर, ऊन
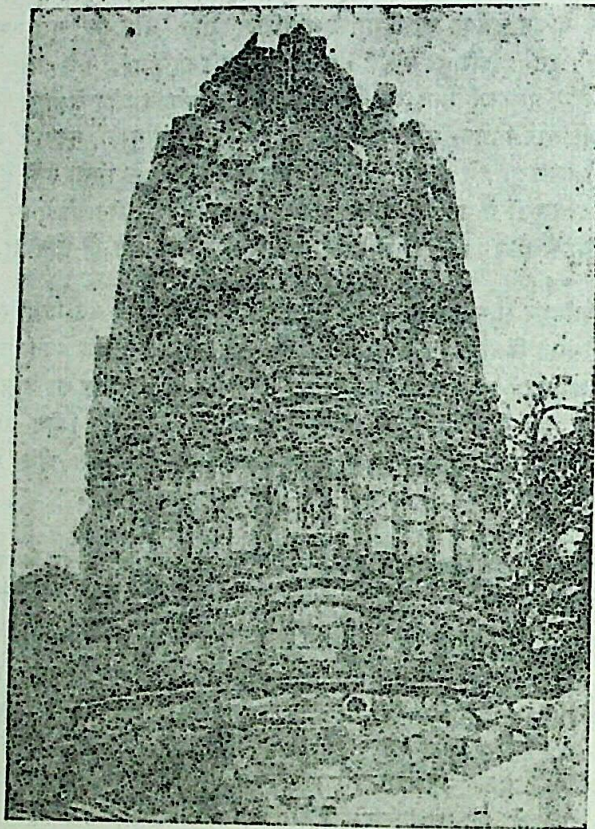
दरवाजों की सज्जा व बड़ेरियों का अलंकरण करते हुए मण्डप को प्रतिमाओं द्वारा उत्कीर्ण करते हुए बहुत ही सुन्दर ढंग से सजाया गया है। उस मण्डप पर गणेश, ब्रह्मा, शिव-विष्णु और सरस्वती का अंकन किया गया है जो दर्शनीय है। विभिन्न सम्प्रदायों के देवी-देवताओं का अंकन पंचायतन प्रकार में किया गया है। सभी देवताओं को मान्यता दी गयी है। सूर्य, गणेश, विष्णु, शिव, शक्ति आदि सभी का पृथक अस्तित्व है। इस मन्दिर की उत्तरी दीवार पर दो छोटे छोटे अभिलेखों में मालव नरेश उदयादित्य का उल्लेख है। यहां सर्पबन्ध अभिलेख भी है, जो धार की भोजशाला के सर्पबन्ध की भांति है।

१. मा०प०क०, पृ० ११८.

इसी दीवार के दूसरे भाग में जिन अन्य प्रतिमाओं का अंकन है, उनमें शिव के साथ सप्तमातृकाएं भी हैं। बीच में शिव है। चारों ओर मातृकाएं नृत्य कर रही हैं। इसका दूसरा द्वार जो गर्भगृह के पार्श्व में है, बन्द कर दिया गया है। गोलाकार छत, उन्मुक्त उद्दाम दृश्यों के द्वारा सजाई गई हैं। छत वर्गाकार है। छत को छूती हुई कुछ प्रतिमाएं भी हैं। शिखर लुप्त है किन्तु वास्तु की दृष्टि से अनुपम विन्यास का प्रदर्शक है। इस के आठ अत्यन्त अलंकृत स्तम्भों पर छत आश्रित हैं।[1]

महाकालेश्वर मन्दिर : यह मन्दिर चौवारा डेरा क्रमांक १ के उत्तर में स्थित है। यह भी एक विशाल मंदिर है। किन्तु चौवारा डेरा के मुकाबले अपेक्षाकृत छोटा है। यह मंदिर बहुत कुछ भग्न है फिर भी अध्ययन योग्य काफी सामग्री यहां पर है। मालवा में महाकालेश्वर के मंदिरों की अपनी परम्परा रही हैं। ये मन्दिर कहीं कहीं एक तलीय तथा कहीं त्रितलीय होते हैं। ऐसे मंदिर मालवा में उज्जैन, ऊन, मकला और धराड़ में उपलब्ध हैं।

ऊन का महाकालेश्वर मन्दिर अपनी योजना में चौवाराडेरा के समान है। मण्डप और गर्भगृह के द्वार पर मूर्ति-चित्र अंकित किये किये गये हैं। शिखर का ऊपरी भाग सुरक्षित है, जिस पर चारों ओर परमार-कालीन शिखरों की प्रस्तर लतिकाएं अलंकृत हैं।

महाकालेश्वर मन्दिर के स्थापत्य के अध्ययन में एक पक्ष यह भी है कि मण्डप के गिर जाने से दो मेहरावें जो मण्डप और गर्भगृह के मध्य थीं, दिखाई देती हैं। एक ऐसी ही मेहराव आंतरिक द्वार के ऊपर भी दिखाई देती है। इस आधार पर ऐसा कहा गया है कि बिहार के गया जिले में कोंच के विशाल मंदिर या उड़ीसा के मन्दिरों में जो निर्माण शैली अपनाई गई, वह यहां भी प्रयुक्त की गयी थी। मण्डप के गिर जाने पर भी खुले आकाश के नीचे भग्न नन्दी विद्यमान हैं। अन्तराल के ताकों पर ब्रह्मा और शिव की प्रतिमाएं हैं।

महाकालेश्वर मन्दिर का शिखर बुरी तरह दरार खा चुका है। गर्भगृह के पार्श्व भी बाहर की ओर टूट कर गिरने को व्यग्र दीख रहे हैं। इस कारण मंदिर के जीर्णोद्धार की सम्भावना या उसे सुरक्षित रखने के प्रयत्न अब बे-असर ही दिखाई पड़ते हैं। फिर भी गर्भगृह के तीन ओर ताकों में चमुण्डा व नृत्येश-त्रिपुरारि की आकर्पक प्रतिमाएं हैं।[2]

वल्लालेश्वर मन्दिर : महाकालेश्वर के उत्तर-पश्चिम में एक विचित्र स्थापत्य वाला वल्लालेश्वर का मन्दिर है। ऐसी अनुश्रुति है कि इसे राजा वल्लाल ने निर्मित करवाया था। कई विद्वान इस वल्लाल को एक होयसल राजा मानते हैं जिसका कुछ समय तक मालवा में शासन रहा। मूल मंदिर के स्थापत्य में अब आमूल परिवर्तन आ चुका है। शिव का मूल मन्दिर ध्वस्त हो चुका है। मध्यकाल में उस पर एक दूसरा मन्दिर बनवाया गया जिसमें शिखर के स्थान पर गुम्बद स्थित है। इस पुनर्निर्माण में प्राचीन मन्दिर की अवशिष्ट सामग्री का प्रयोग किया गया। द्वार के ऊपर की पट्टिकाओं और प्रवेशद्वार के रूप में मूल मन्दिर के अवशेष दिखायी देते हैं।[3]

---

१. प्रोग्रेस रिपोर्ट आफ आर्को० सर्वे, वेस्टर्न सर्कल, १९२१, पृ० १०६.
२. इ०स्टे०ग०, पृ० ७०; मा०प०क०, पृ० ११९-२०.
३. धुर्ये : राजपूत आर्किटेक्चर, पृ० ४१; मा०प०क० पृ० ११९-२०.

गुप्तेश्वर मन्दिर (ऊन) : नीलकण्ठेश्वर मन्दिर के पास गुप्तेश्वर का छोटा सा शिव मंदिर है। एक छोटे से गर्भगृह में शिव की छोटी प्रतिमा विद्यमान है। गुप्तेश्वर का शिवलिंग धरती की सतह से ६ मीटर नीचे एक कोठरी में है।[१] इससे ऐसा ज्ञात होता है कि धराड़ के ही मंदिर की भांति यह मंदिर भी अधिक तलीय होगा किन्तु सतह पर स्थित मंदिर के बारे में कुछ विशिष्ट कहना संभव नहीं है।

सोनकच्छ में नागचन्द्रेश्वर का मन्दिर अपने भग्न रूप में परमार मन्दिर वास्तुकला का प्रतिनिधित्व करता है। मन्दिर का गर्भगृह तारकाकृति का है। इस भूमिज मन्दिर का शिखर टूट चुका है। मन्दिर के स्तम्भ स्पष्ट ही परमारकालीन कला और अलंकरण से युक्त हैं। इस मन्दिर के आसपास से शिव-पार्वती, नन्दी कार्तिकेय, गणपति, सप्तमातृकाएं आदि की प्रतिमा उपलब्ध हुई हैं।[२]

सोनकच्छ में ही पिपलेश्वर का एक छोटा शिव मंदिर और जहां के कुछ अवशेष एवम् प्रतिमाएं अपने परमारकलीन होने का संकेत देते हैं।[३]

गंधवल वस्तुतः परमारकाल में मन्दिरों का नगर रहा होगा। चारों ओर जैन और ब्राह्मण मन्दिरों के अवशेष बिखरे पड़े हैं। जो भी मन्दिर यहां पुनर्निमित किये हैं, उनमें अवशिष्ट सामग्रियों का पता लगाना बड़ा कठिन हो गया है। यह निष्कर्ष निकलना सहज है कि परमारकाल में जैन मन्दिरों की भांति अनेक शैव मन्दिरों का निर्माण हुआ होगा। गंधावल से जो शैव मूर्तियां उपलब्ध हुई हैं उनमें शिव, महिषासुर-मर्दिनी, भैरव आदि की प्रतिमाएं यह निष्कर्ष प्रमाणित करती हैं।

गंधावल के पास भौंरासा नामक एक बड़ा कसबा है। जहाँ एक प्राचीन शिव मंदिर के कुछ अवशेष उपलब्ध हुए हैं।

शाजापुर जिले में परमारकाल में काफी निर्माण कार्य हुए। इनमें प्रमुखतः शैव मत से संबंधित निर्माण कार्यों के कई प्रमाण आज भी उपलब्ध हैं। करेड़ी ग्राम में जो महाकाली के मन्दिर के लिए प्रसिद्ध है संवत १०५५ जो अभिलेख वहां विद्यमान है, वह सिद्ध करता है कि परमार में यहां एक शिव मंदिर था।[४]

सुन्दरसी में जैन धर्म की ही भांति शैवमत से संबंधित मंदिर विद्यमान थे। इनके अवशेष यत्र तत्र दिखाई देते हैं।

आगर में वैद्यनाथ महादेव का मंदिर परमारकालीन माना गया है। समय समय पर जीर्णोदार होने से उसका मूल स्वरूप बहुत कुछ बदल गया है। वैद्यनाथ मंदिर के पास से शैव मत से संबंधित जो प्रतिमाएं उपलब्ध हुई हैं, वे परमारकालीन मानी गई हैं। इन प्रतिमाओं में नन्दी पर आसीन शिव-पार्वती की जो प्रतिमा पायी गई है, यह संभवतः ११वीं या बारहवीं शताब्दी के मूल मंदिर में स्थित रही होगी। शाजापुर

---

१. इ० स्टे० गवा०, पृ० ७१.
२. मा० प० क०, पृ० ६७-६८.
३. विक्रम पुरातत्व संग्रहालय बुलेटिन, क्र० १३, पृ० ६-७.
४. इ०स्टे०ग०, पृ० २६८.

के पास सखेड़ी नामक एक ग्राम है। वहां भी एक परमारकालीन शैव मंदिर के अवशेष मिले हैं। इस आधार पर कतिपय विद्वानों ने यह मत व्यक्त किया है कि यह ग्राम परमारकालीन शाकपुर नगर है जबकि अन्य अनेक विद्वान वर्तमान शुजालपुर को प्राचीन शाकपुर मानते हैं। सखेडी के इस मंदिर के आधार पर कुछ स्थापत्य पर प्रकाश डालना संभव नहीं है।

निमाड़ में वजर और पससूद नामक ग्रामों में दो शैव मंदिर हैं। जो पुरातत्वीय सामग्री वहा लगी है, वह बहुत कुछ परमारकाल होने का आभास देती है मांधाता के मुख्य दीप पर ओंकारेश्वर का वर्तमान में जो मन्दिर है, वह परमारकालीन भव्य मन्दिर का ही अवशेष है। मंदिर का शिखर अब लुप्त हो चुका है। मूल मन्दिर भी बहुत कुछ ध्वस्त हो चुका है। किन्तु परमारकालीन मण्डप अभी भी वहां सुरक्षित रूप में विद्यमान है। यह मण्डप स्तम्भों से भरपूर है। स्तम्भों के अलंकरण इतने कलात्मक और अलंकरण युक्त हैं कि उन्हें देखने पर एक ओर आबू के देलवाड़ा मन्दिर और दूसरी ओर उदयपुर के नीलकण्ठेश्वर मंदिर के स्तम्भों की बरबस याद आ जाती है। इस निर्माण को देखकर यह मान लेना सहज है कि संभवतः इसका निर्माण भी उदयादित्य के समय में हुआ होगा।

महेश्वर में परमारकालीन अनेक शैव मूर्तियां प्राप्त हुई हैं, जो यह प्रमाणित करती हैं कि परमार-काल में वहां कुछ दर्शनीय शैव मंदिर विद्यमान थे।[1]

धार परमारों की अत्यन्त प्रिय नगरी और राजधानी रही है। निश्चित ही मुंज, भोज, उदयादित्य एवम् देवपाल जैसे शासकों ने यहां अपने आराध्य शिव के मन्दिर निर्मित करवाये थे। दुर्भाग्यवश मुस्लिम आक्रान्ताओं की हथौड़ियों ने सब कुछ नष्ट कर दिया। यत्र तत्र बिखरे मंदिर अवशेषों एवम् टूटी प्रतिमाओं की उपलब्धियों से तह धारणा पुष्ट हो जाती है।

जामली में एक छोटा किन्तु महत्वपूर्ण शैव मंदिर है जिसे महादेव मन्दिर कहा जाता है। मन्दिर वास्तुकला की दृष्टि से इस मन्दिर के अध्ययन का बड़ा महत्व है क्योंकि यह अपने समकालीन अन्य परमार-कालीन मन्दिरों की शृंखला में होते हुए भी उनसे कई दृष्टियों में स्पष्ट विभिन्नता रखता है। मंदिर निश्चित ही भूमिज शैली में है किन्तु गर्भगृह का आकार तारकाकृत नहीं होकर वर्गाकार है। इस दृष्टि से परमारकालीन परम्पराओं को तोड़कर गुप्त गर्भगृह के आधारों को अपना आधार बना लेता है। इस दृष्टि से यह परमार और गुप्त मंदिर वास्तुकला शैली का समन्वय स्थापित करता है। एक ओर भी महत्वपूर्ण अन्तर जामली का यह मन्दिर समकालीन परमार मन्दिरों से रखता है। यहां मालवा के इस काल के अन्य मन्दिर सप्त-रथ शैली में है, वहां यह मन्दिर पंचरथ शैली में निर्मित हुआ है। मन्दिर छोटा है और शिखर की दृष्टि से पंच भूमि वाले परमार शिखरों के समान है। मन्दिर ११वीं शताब्दी का है।[2]

बदनावर में नागचन्द्रेश्वर और बैजनाथ महादेव के मन्दिर परमारकालीन हैं। और शैव मत से संबंधित हैं। ये मन्दिर बहुत कुछ ध्वस्त हो चुके हैं किन्तु स्थापत्य की दृष्टि से हमें अध्ययन की पर्याप्त सामग्री

---

१. इ० स्टे० ग०, पृ० ३११.
२. आ०प०मा०, पृ० (i).

दे देते हैं ।[1] मूल मन्दिर भूमिज शैली के रहे हैं । इनकी योजना सप्तरथ प्रकार रही है । मन्दिर के शिखर, पांच या सात भूमियों से युक्त रहे हैं । ये शिखर लतिकाओं के द्वारा चार भागों में विभक्त रहे हैं । ये लतिकाएं शुकनासा अथवा चैत्य प्रकोष्ट से उठती हुई शिखर तक जाती हैं । शिखर तक आमलकं व कलश थे । गर्भगृह, तारकाकृति के थे । मन्दिरों के पार्श्वों में ताक थे । इन ताकों में शैव मत से संबंधित मूर्तियां विद्यमान थीं । इन मूर्तियों में ताण्डव नृत्य करते हुए शिव, भैरव, महिषासुर-मर्दिनी, गणेश, त्रिपुरान्तक आदि की प्रतिमाएं थीं, जिन्हें इन मन्दिरों के आसपास अभी भी देखा जा सकता है । इन मन्दिरों के सामने एक अर्ध मण्डप, उपरान्त मण्डप, फिर अन्तराल और फिर गर्भगृह होता था । ऐसा लगता है कि इन मन्दिरों के मण्डप और स्तम्भ सादे ही थे । इस कारण इनके परमारकालीन होने की भ्रान्ति हो सकती है, किन्तु पुष्ट अभिलेखीय प्रमाणों के कारण निर्मूल सिद्ध होती है ।

धार जिले में जहां मूल रूप से मालवा के महान कला-प्रेमी नगर माण्डव, धार और नालछा अपना प्राचीन कला गौरव लुप्त कर चुके हैं, जामली और बदनावर के शैव मन्दिर बहुत कुछ उस गौरव को प्रदर्शित करने में समर्थ सिद्ध होते हैं ।

बिलपांक में बिलकेश्वर का पंचायतन शैली का एक शैव मंदिर है । ऐसा ज्ञात होता है कि यह मंदिर शिव के वीरुपाक्ष स्वरूप का है । अब इसी वीरुपाक्ष शब्द का अपभ्रंश बिलपांक के रूप में विद्यमान है । मन्दिर के पास ही इसी ग्राम में कुछ वर्ष पहले ग्रामवासियों को खुदाई में गुजरात के चालुक्यराज जयसिंह सिद्धराज का संवत् ११९८ का एक पूर्ण अभिलेख प्राप्त हुआ है । विद्वानों की धारणा है[2] कि यह अभिलेख जो आजकल इस मन्दिर के अन्तराल में लगा दिया गया है, इसी मंदिर के संबंध में होगा । ग्राम में आसपास और कोई मंदिर अवशेष नहीं होने से यह धारणा अत्यन्त ही सहज है । आज जो मंदिर है, उसका गर्भगृह वर्गाकार है । गर्भगृह की लम्बाई ५.२५ मीटर है । गर्भगृह का शिवलिंग टूट चुका है । शिवलिंग के आसपास स्वतन्त्र स्तम्भ हैं । गर्भगृह के चारों कोनों पर चार अर्ध-स्तम्भ हैं । इन स्तम्भों पर छत आधारित है । गर्भगृह की दक्षिण भित्ति का ब्रेकेट अलंकृत है । पूर्वी दीवार पर दो लघु प्रतिमाएं उत्कीर्ण हैं । मंदिर के आसपास चामुण्डा, गंगा, जमुना, हरिहर, विष्णु, शिव, गणपति, पार्वती आदि की प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं । मन्दिर के गर्भगृह से अन्तराल में तीन सोपानों द्वारा पहुंचा जाता है । अन्तराल ५.२५ मीटर लम्बा, १.६ मीटर चौड़ा है । अन्तराल की छत पर उमा-महेश्वर, ब्रह्मा-ब्रह्माणी, विष्णु-वैष्णवी, अर्धनारीश्वर शिव आदि की प्रतिमाएं विद्यमान हैं । मन्दिर का मण्डप अत्यन्त दर्शनीय है । उसका स्तंभ-संयोजन अत्यन्त आकर्षक है । इस मण्डप में २२ अलंकृत स्तम्भ हैं । पूर्व, उत्तर और दक्षिण दिशा में कक्षासन से ऊपर चौबीस अन्य स्तम्भ हैं ।[3]

सभामण्डप में पूर्व की ओर से ही जाया जा सकता है । उत्तर और दक्षिण की ओर सभा-मण्डप में छज्जे हैं । यह ऐसी विशेषता है, जो मालवा के अन्य परमार मन्दिरों में नहीं है । इस कारण ऐसा ज्ञात होता है कि यह मन्दिर निश्चित ही एक चालुक्य निर्मिति है ।

---

१. ए० रि० डि० आ० ग्वा० स्टे० (१९४८-४९), पृ० २२.
२. मा० थ्रू० ए०, पृ० ४४३-४४.
३. आ० प० मा०, पृ० ६४; जोशी भारती : रतलाम जिले का परमारकालीन स्थापत्य व मूर्तिकला, पृ० १.

मन्दिर के बारे में कुछ पहलू ऐसे भी हैं, जो विवादास्पद हैं। वैसे सामान्य रूप से स्तम्भ षट्कोणीय हैं। किन्तु इन स्तम्भों में एक स्तम्भ कक्षासन के उत्तर-पूर्वी कोने में है। उसमें एक कमल अंकित है। उसके आसपास दो हंस उत्कीर्ण हैं। इस आधार पर डा० वाकणकर ने यह माना है कि यह एक शुंगकालीन स्तंभ है जो अन्यत्र से लाकर यहां लगा दिया गया है। इन उत्कीर्णों के कारण यह बौद्ध त्रिरत्नों का प्रतीक है।[1]

किन्तु शोधकर्ता का अभिमत यह है कि यह उत्कीरण मात्र एक संयोग है। यह मन्दिर का ही एक अनिवार्य भाग है। शुंगकालीन वास्तुकला का वर्णन करते हुए शोधकर्ता ने इस पहलू का विवेचन किया है। उसे पुनः देख लेना असमीचीन न होगा।[2]

एस० के० सिन्हा ने यह मत व्यक्त किया कि इस मंदिर का निर्माण दो कालों में हुआ। प्रथमतः परमारकाल में यह मन्दिर ३० मीटर लम्बा (पूर्व से पश्चिम तक) तथा १८.०५ मीटर चौड़ा (उत्तर से दक्षिण तक) था। इसका गर्भगृह पंचरथ योजना में बनाया गया जिसकी बाहरी नाप १५.०५ मीटर की वर्गाकार थी। इससे जुड़ा हुआ अन्तराल व मण्डप था।

इसके बाद जयसिंह सिद्धराज ने लगभग १०० वर्षों के बाद इस मंदिर का पुनर्निर्माण करवाया। मण्डप को छोड़कर प्राचीन मन्दिर का निर्माण पुनः करवाया गया। गर्भगृह को छोटा बनाया गया और शिखर को पिरामिड का आकार दिया गया। मंदिर का स्वरूप पंचायतन किया गया।

सिन्हा यह मत भी व्यक्त करते हैं कि मूल मन्दिर का निर्माण १०५५ई० में परमार नरेश भोज के समय हुआ। यही सही है कि जयसिंह सिद्धराज के त्रिलपांक अभिलेख में मन्दिर के पुनर्निर्माण की बात आई हो। किन्तु इससे मन्दिर के भोज-कालीन होने की कल्पना को बल नहीं मिलता।

परमारकालीन रेखा-शिखर के कोई अंश आसपास नहीं है। गर्भगृह की योजना भी परमारों की तारकाकृत शैली में नहीं है। मण्डप में परमार भव्यता का अभाव है। साथ ही परमारों से मंदिर को सम्बद्ध करने के कोई निश्चित प्रमाण वहां उपलब्ध नहीं हैं।

पुरातत्वीय दृष्टि से भी ऐसा सिद्ध नहीं होता कि मन्दिर का पुनर्निर्माण हुआ होगा। अतः यह मानना उचित होगा कि यह मन्दिर एक चालुक्य देन है। अभिलेख में इसी मन्दिर के पुनर्निर्माण की व्यवस्था का ही संकेत है न कि वास्तव में पुनर्निर्माण का। इस तरह हम देखते हैं कि बिलपांक का मन्दिर परमारकालीन मालवा में जामली, बड़ोह, कुकड़ेश्वर आदि की ही भांति कुछ विशिष्ट वास्तु अपवाद लिये हुए है।

धराड़ के मन्दिर को इस आधार पर एक विष्णु मन्दिर बताने का प्रयास किया गया है कि वहां

---

१. म० प्र० सन्देश, मार्च १९७५.
२. आ०प०मा०, पृ० ६६.

वराह की एक प्रतिमा शिखर के ललाट-बिम्ब पर दिखायी देती है।[१] ऐसा मानना उचित नहीं है। मन्दिर के गर्भगृह के प्रवेश द्वार पर नवदुर्गा, महिषासुरमर्दिनी, शिव आदि की प्रतिमाएं उत्कीर्ण हुई हैं। वैसे वहां विष्णु की प्रतिमा भी है किन्तु इस प्रतिमा एवम वराह की प्रतिमा होने पर विष्णु मन्दिर मानना उचित नहीं है। परमारकालीन मन्दिरों में सामान्यतः शैव, वैष्णव एवम् शाक्त प्रतिमाओं का सामंजस्य दिखाई देता है।

स्थानीय अनुश्रुति के अनुसार यह मन्दिर महाकालेश्वर का है। अभी अभी ग्रामवासियों ने गर्भगृह के सामने मण्डप का पुनर्निर्माण करवाया है। इससे मंदिर का मूलस्वरूप दब-सा गया है। इस निर्माण के पूर्व मन्दिर का अन्तराल एवम् गर्भगृह मूल रूप में था और उन्हें देखने पर ऊन के महाकालेश्वर मंदिर की कल्पना साकार हो उठती थी। मन्दिर निश्चित ही परमारकालीन मन्दिर वास्तुकला का उदाहरण है। प्रतिमाओं और अलंकरण की कमी इस बात को प्रकट करती है कि मन्दिर १२वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध या १३ वीं शताब्दी का रहा होगा। शिखर का बहुत-सा भाग अभी भी विद्यमान है। यह रेखा-शिखर है एवम् शृंगों से परिपूर्ण है। चारों ओर प्रस्तर-लतिकाएं व चैत्य-गवाक्ष हैं। सामने शुकनासा है। गर्भगृह तारकाकृत है। मन्दिर को मुश्किल से सप्तरथ कहा जा सकता है। मन्दिर का गर्भगृह सादगीयुक्त है। उसमें शिवलिंग विद्यमान है। गर्भगृह में से सीढ़ियों द्वारा एक मार्ग नीचे के तल में जाता है। ऐसी पौराणिक कल्पना है कि महाकालेश्वर का स्वरूप आकाश से लेकर पाताल तक फैला हुआ था। संभवतः भूमितल में उनके पाताली स्वरूप का निरूपण किया गया हो। गर्भगृह के नीचे जो छोटा-सा शिवलिंग है, वह पंचमुखी है। अन्तराल के स्तम्भ सादे एवम् अलंकृत हैं।

निश्चित ही धराड़ का यह मन्दिर रतलाम जिले में परमार मंदिर वास्तुकला का सबल परिचय देता है।

रतलाम जिले में एक डूंगर पर झर नामक स्थान पर एक लघु किन्तु अत्यधिक कलात्मक शैव मंदिर के अवशेष बिखरे पड़े हैं। यह मन्दिर यहां प्राप्त अवशेषों के आधार पर ११वीं शताब्दी का तारकाकृत शिव मन्दिर माना जा सकता है। शिखर पंच भूमि शैली का था तथा मन्दिर सप्तरथ योजना में बनाया गया था। इस मन्दिर का पैमाना अधिक बड़ा नहीं था। सम्भवतः मन्दिर ७.५० मीटर लम्बा, ४.५० मीटर चौड़ा और ६ मीटर ऊंचा था। मन्दिर के प्रवेश द्वार के उपरान्त मण्डप तथा मण्डप के उपरांत गर्भगृह रहा होगा। मंदिर के सामने एक कुण्ड था, जिसका आयाम लगभग ३.६० मीटर था। इसकी स्थिति अब जीर्णावस्था में है। कुण्ड के जल तक पहुंचने के लिये दो ओर से प्रस्तर सीढ़ियां थीं। झर के मंदिर के अवशेषों में शिव एवम् पार्वती के विभिन्न स्वरूपों की मूर्तियां विद्यमान हैं, जिनमें त्रिपुरान्तक, भैरव, महिषासुर-मर्दिनी, दुर्गा आदि की प्रतिमाएं विशेष उल्लेखनीय हैं। वैसे पार्वती, गणपति, भैरवी, चामुण्डा अष्ट दिगपाल, सप्तमातृकाएं आदि की प्रतिमाएं भी यहां हैं।[२]

झर से रामपुरिया मार्ग पर जलोद नामक स्थान पर कुछ वैष्णव एवम् शैव मन्दिर परमारकाल में

---

१. जोशी भारती : रतलाम जिले का परमारकालीन स्थापत्य व मूर्तिकला, पृ० १-२.
२. निगम श्यामसुन्दर : झरचें (नई दुनिया, १८ मार्च १९७३).

निर्मित थे, जिनके कुछ प्रमाण खण्डित मूर्तियों के रूप में अभी भी वहां देखे जा सकते हैं। इसी प्रकार निकटस्थ लुनेरा नामक ग्राम में तालाब के किनारे एक छोटे परमारकालीन शैव मन्दिर के अवशेष दिखाई देते हैं।[1]

खखई का प्राचीन नाम उच्चानगढ़ था। ऐसी अनुश्रुति है कि इसकी स्थापना धार के किसी भोज नरेश ने की थी और यहां धार की ही भांति भद्रकाली का मंदिर बनवाया था। आजकल यह देवी खखई देवी कहलाती है और ग्रामीण जनता, विशेषतः भीलों की, यह देवी आराध्या है।

देवी का वर्तमान मन्दिर बहुत नया है, किन्तु वह जिस बुनियाद पर स्थित है वह निश्चित ही एक परमार मंदिर का गर्भगृह है। वह तारकाकृत है। गढ़ खखई में अन्यत्र कुछ शैव व जैन मन्दिरों के अवशेष बिखरे पड़े हैं। यहां के शैव मंदिर दो भागों में बांटे जा सकते हैं। प्रथम बारहवीं शताब्दी के परमारकालीन मन्दिर जिनकी कई प्रतिमाएं ग्राम से उपलब्ध हुई हैं। इन प्रतिमाओं में शिव-पार्वती, नटराज, उमा-महेश एवम् गजासुर वध की प्रतिमाएं विशेष उल्लेखनीय हैं।[2]

माही के किनारे एक पूरा का पूरा मन्दिर भूसात स्थित में दिखाई देता है। मन्दिर लघु था एवम् अर्ध-मण्डप, मण्डप, अन्तराल एवम् गर्भगृह से युक्त था। मन्दिर की मूर्तियां स्तम्भ और शिखर अत्यन्त ही सादे अलंकरणहीन एवम् अप्रभावी हैं। उनमें स्थानीय स्पर्श बहुत अधिक झांकता है। ऐसा लगता है कि यह शायद मालवा में परमारों के समय की यह अन्तिम निर्मितियों में से एक है। इसका निर्माणकाल १४वीं शताब्दी का माना जा सकता है। इस मान्यता को बल ही मिलता है कि धार से भागे हुए परमारों ने १४वीं शताब्दी में इस एकान्त आदिवासी स्थान में संरक्षण लेकर यह मन्दिर बनवाया था।[3]

बोरदा जावरा से दो किलोमीटर पश्चिम में है, जहां परमारकालीन शैव मंदिर था, जिसका अस्तित्व अब केवल कुछ अवशेषों एवम् प्रतिमाओं से ही ज्ञात होता है।

देपालपुर का प्राचीन नाम देवपालपुर था। इस नगर की स्थापना परमार नरेश देवपाल ने १२वीं शताब्दी में की थी। साथ ही उस देवपाल सागर नामक एक सुन्दर ताल बनवाकर उसके आसपास शैव, वैष्णव और जैन मन्दिरों का निर्माण करवाया था। इनमें अब बनेड़िया का जैन मंदिर ही बदले हुए रूप में विद्यमान है। शेष मन्दिरों का पता तो अवशिष्ट पुरा सामग्री से ही मिलता है।[4]

महिदपुर निश्चित ही एक परमारकालीन बस्ती रही है। यहां प्राप्त प्रतिमाओं से ज्ञात होता है कि यहां परमारकाल में एक शैव मन्दिर था। महिदपुर के निकट ही लगभग ३ किलोमीटर दूर घूजंटेश्वर का एक

---

१. निगम श्याम सुन्दर : झर (नई दुनिया १८ मार्च १९७३).
२. भारती जोशी : रतलाम जिले का परमारकालीन स्थापत्य व मूर्तिकला, पृ० २-३.
३. निगम श्याम सुन्दर : माही का प्रहरी उच्चानगढ़, पृ० ४.
४. इ०स्टे०ग०, पृ० १३.

परमारकालीन मन्दिर है। मंदिर यद्यपि पुनः निर्मित हो चुका है किंतु इसमें लगे पुरावशेष उसके मूल रूप में परमारकालीन होने का बोध करवाते हैं।

धन्वन्तरि में वर्तमान में एक छोटा-सा शैव देवल है, जो उत्तर परमारकालीन दिखाई देता है। यह त्रिरथ शैली में है। इस मंदिर के शिखर एवम् किसी अन्य परमारकालीन शैव मंदिर के पर्याप्त अवशेष वहीं पड़े हैं। वे यह प्रकट करते हैं कि यहां के मंदिर अलंकृत, प्रतिमा खचित, रेखा-शिखर युक्त, सप्तरथ एवम् तारकाकृत थे।

झार्डा में परमारकालीन दो मंदिरों में से एक शिव के प्रति समर्पित था। प्राचीन मंदिर के मण्डप में चार चार स्तम्भों वाली चार प्रतिमाएं विद्यमान हैं। झार्डा में ही शिव-पार्वती, भवानी एवम् महिषासुर-मर्दिनी की परमारकालीन प्रतिमाएं भी प्राप्त हुई हैं।[1]

मकला में परमारकाल से संबंधित बहुतसी पुरा सामग्री प्राप्त होती है। इन सामग्रियों में दो प्रस्तर मंदिरों व एक त्रिमूर्ति की विशाल मूर्तियां विशेष उल्लेखनीय हैं। मकला के मंदिरों का निर्माण काल १०-१२वीं शताब्दी के बीच रखा जा सकता है। जहां तक शैव मत का संबंध है, मकला में महाकालेश्वर का मंदिर अभी भी सुरक्षित स्थिति में है। इसका मण्डप लगभग २५० वर्ष पूर्व गिर गया था और गांव वालों के पुनर्निर्माण के कारण मन्दिर का मूल भाग अब दिखाई नहीं देता। मण्डप से संबंधित महिषासुर मर्दिनी, गणेश, कामधेनु और सूर्य की प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं।[2] मंदिर का गर्भगृह सुरक्षित है। यह ११वीं व १२वीं शताब्दी के परमार निर्माण का प्रतिनिधित्व करता दिखाई देता है। वैसे ऊन और धराड़ में भी महाकालेश्वर मंदिर विद्यमान हैं किन्तु मकला का यह मंदिर मंदिर वास्तुकला की दृष्टि से इनसे निश्चित ही भिन्नता रखता है। जहां ये एवम् परमारकालीन अधिकांश मंदिर सप्तरथ योजना में श्रृंगयुक्त रेखा शिखर वाले हैं, वहां मकला का यह मंदिर निर्माण की दृष्टि से छूट लेता है। मंदिर का गर्भगृह अवश्य तारकाकृत है किन्तु उसकी योजना सप्तरथ के स्थान पर पंचरथ है। मंदिर की विशाल जंघा अनलंकृत एवं सादी है। यह वैभव की कमी होते हुए भी कोणीय विशेषता से युक्त है।

परमार शैली का रेखा-शिखर इस मन्दिर पर है किन्तु अलंकृत लतिकाओं के आसपास लम्ब एवम् आड़े रूप में शृंगावलियां वहां नहीं हैं। इस दृष्टि से उड़ीसा के मन्दिरों के राहा-पगों की भांति मन्दिर का शिखर है। ऊरु शृंगों के स्थान पर अलंकरणों द्वारा शिखर की सप्त-भूमियां योजित की गई हैं। आमलक कलश, व नारिकेल निश्चित ही विशाल एवम् पूर्ण अलंकृत हैं। भूमिज शैली में बना यह मंदिर जगती से लगाकर शिखर तक अपने गर्भगृह क्षेत्र में पूर्ण है। अपनी इस स्थापत्य विशेषताओं के कारण मालवा में यह मन्दिर अपने में अकेला है। परमारों की शैली के परम्परागत मन्दिरों में जामली, कुकड़ेश्वर, पठारी आदि की ही भांति यह भी अनेक स्थापत्य सुविधाएं लिए हुए हैं। यही कारण है कि आर० डी० बनर्जी ने इसे विशिष्ट महत्व दिया है।

---

१. इ०स्टे०ग०, पृ० २५.
२. वही, पृ० ४२; प्रोग्रेस रिपोर्ट आफ आर्को०सर्वे०वेस्टर्न सर्कल (१९१९-२०) पृ० १०१.

मोड़ी प्राचीन काल में मोड़ी पतन नामक नगर रहा है। मोड़ी पतन को परमारों की क्षेत्रीय राजधानी बनने का सौभाग्य मिला है।[1] एकाधिक अभिलेखों की प्राप्ति से तथा अनेक शैव एवम् जैन मन्दिरों के अवशेष मिलने से यह प्रमाणित होता है कि ११वीं से १३वीं शताब्दी के मध्य इस नगर में परमार मूर्ति और स्थापत्य कला को न केवल भरपूर संरक्षण दिया था अपितु उसमें अनेक मौलिक आयाम भी उपस्थित किये थे। दुर्भाग्य से मोड़ी का बहुत सा परिसर चंबल की डूब में आ गया और इस कारण बहुत सी बहुमूल्य पुरा-सामग्री अब कभी न प्राप्त होने की स्थिति में अतीत के गर्भ में चली गई है।

मोड़ी में एक शैव मन्दिर वर्तमान तक सुरक्षित रहा है। यह मंदिर जिसे पूर्व में भूल से जैन मंदिर मान लिया गया था, वस्तुतः पाशुपत संप्रदाय का लकुलेश मंदिर था। यह मन्दिर एक कुण्ड के निकट स्थित था। गर्भगृह ६ मीटर तक सुरक्षित था और अन्तराल से प्रवेश वाले चौखट के ऊपरी भाग पर लकुलेश की प्रतिमा उत्कीर्ण थी। इस प्रतिमा के दाहिनी ओर ब्रह्मा और बायीं ओर विष्णु की प्रतिमा थी। मन्दिर में १२वीं शताब्दी के अभिलेख थे। मन्दिर के निकट ही तीन अन्य मन्दिरों के अवशेष प्राप्त हुए हैं, जिसमें से एक अत्यधिक कलापूर्ण था। मालवा के श्रेष्ठतम मन्दिरों में उसकी गणना की जा सकती है। मण्डप का एक भाग शेष बचा था। उसके चार स्तम्भ अत्यधिक अलंकृत और आकर्षक थे। इन स्तम्भों पर एक छोटा स्तम्भ था जो कि ऊपर से भरणीन्शीर्ष को उठाये हुए था। यहीं पास में और भी दो आयताकार चबूतरे थे, जो किसी मन्दिर के अवशेष थे। परमार नरेश जयवर्मन् द्वितीय का १३वीं शताब्दी का एक अभिलेख तथा १०वीं शताब्दी का हूणों का उल्लेख करनेवाला एक अन्य अभिलेख यहां से प्राप्त हुआ है।

आजकल यह मन्दिर परिसर चम्बल बांध की डूब में आ गया है। वी० एस० वाकणकर ने सन् १९५६ में मन्दिर परिसर का सर्वेक्षण किया था। उनके अनुसार यहां के शिव मंदिर की योजना भूमिज शैली में की थी। उनके अनुसार इसका निर्माण सन् १२५७ में जयसिंह जयवर्मन द्वारा करवाया गया होगा, क्योंकि इसी नरेश को अनेक शैव मन्दिरों के निर्माण का श्रेय दिया गया है। यह भी बताया गया है कि इसने देवपाल-पुर और शाकपुर में शैव-प्रासादों का निर्माण करवाया था।

संघारा मन्दसौर जिले में एक उल्लेखनीय कलाकेन्द्र रहा है। संघारा के शिव मंदिर में से एक चतुर्भुजानाथ का मन्दिर बहुत कुछ सुरक्षित हैं। इस मन्दिर का मण्डप और गर्भगृह बहुत कुछ सुरक्षित है। उसके चौखट अत्यधिक अलंकृत हैं। यह चौखट एक अतिरिक्त आकर्षण रखता है तथा मन्दसौर जिले के अन्य मन्दिरों की चौखटों से परम्परागत रूप में कुछ भिन्न है। अलबत्ता मन्दसौर जिले के कुकड़ेश्वर तथा जावरा के वाईखेड़ा के चौखटों से कुछ साम्य रखता है। मन्दिर का मण्डप १२ स्तम्भों पर आश्रित है। यह स्तम्भ अलंकृत एवम् दर्शनीय है। मण्डप पर छः गुम्बद हैं। इन मण्डपों में से मध्य का मण्डप अत्यधिक आकर्षक है और वास्तुकला के सौंदर्य का प्रतिनिधित्व करता है। गर्भगृह के प्रवेश द्वार यद्यपि अलंकृत हैं किन्तु मण्डप की चौखट जैसा सज्जित और मनोहारी नहीं है। इस चौखट पर भी लकुलेश शिव अपने दाहिने ब्रह्मा और बायें विष्णु सहित उत्कीर्ण है। यह इस बात का प्रतीक है कि वस्तुतः यह मन्दिर पाशुपत मत से संबंधित रहा है और

---

१. मोड़ी सम्बन्धी विवरण के लिए दृष्टव्य : (अ) इं० स्टे०ग०, पृ० ४३-४५; (ब) वाकणकर वि०श्री० मोड़ी के परमार मन्दिरों का स्थापत्य (पुरातत्व बुलेटिन क्रं० २१), पृ० १८.

शिव के लकुलेश अवतार के प्रति समर्पित था।[1] इस समय गर्भगृह में विष्णु की मूर्ति रखी दिखाई देती है। इससे प्रतीत होता है कि आजकल यह चतुर्भुज विष्णु का मन्दिर है और यही कारण है कि स्थानीय रूप से चतुर्भुजानाथ का मन्दिर कहलाता है।

संघारा का यह मंदिर भूमिज शैली में है। सप्तरथ इसकी योजना है। शिखर अब नहीं है किन्तु आसपास के अवशेष संकेत देते हैं कि यह एक शृंगयुक्त रेखा शिखर रहा होगा।

विट्ठलपुर में एक परमारकालीन शिव मन्दिर के अवशेष मिले हैं। यह मंदिर संभवतः किसी विष्णु एवम् शिव मन्दिरों के अवशेषों को मिलाकर पुनर्निर्मित किया गया है। मंदिर शिव को समर्पित है। मंदिर का चौखट अत्यधिक अलंकृत है। इस चौखट पर दाहिनी ओर गंगा और बायीं ओर जमुना की मूर्ति उत्कीर्ण है चौखट की ऊपरी भाग के मध्य में गणेश की प्रतिमा है। स्थापत्य की दृष्टि से यह मन्दिर विशेष और कुछ नहीं कहता।[2]

घुंघेरी में एक चबूतरे पर एक विष्णु मन्दिर के गर्भगृह, शिखर और मण्डप के अवशेष प्राप्त हुए हैं जो परमारकालीन हैं और एक शैव मन्दिर के अवशेष वहां प्राप्त हुए हैं, जिसके शिखर व गर्भगृह ध्वस्त हो चुके हैं। प्राचीन मन्दिर चार स्तम्भों पर खड़ा है। इन स्तम्भों के शीर्ष सुन्दर हैं और गणों से युक्त हैं। अन्तराल के द्वार पर गंगा और जमुना की प्रतिमाएं उत्कीर्ण हैं। ऊपर के भाग पर नवगृह, ब्रह्मा, विष्णु व शिव अंकित हैं।

मालवा के निकट राजस्थान में भूमिज शैली का फैलाव :

मन्दसौर जिले की निर्माण परम्परा राजस्थान के सीमावर्ती क्षेत्र में दिखाई पड़ती है। कोटा के निकट रामगढ़ में १२वीं शताब्दी का शिव मंदिर भूमिज शैली में बनाया गया था। मन्दिर का अधिष्ठान निश्चित रूप से कुछ अधिक अलंकृत है एवम् उस पर राजस्थानी प्रभाव गजधर, अश्वधर, सिंहधर एवम् नरधर के रूप में देखा जा सकता है। मन्दिर पंचायतन था। उस समय केवल एक ही लघु मन्दिर शेष है। इस लघु मन्दिर के शिखर को देखने पर यह कहा जा सकता है कि इसने भूमिज शैली के शिखरों को कुछ नवीन आयाम दिया था।[3]

चित्तौड़ ज़िले में मेनाल में महानालेश्वर का शिव मंदिर भी भूमिज शैली में है। ११वीं शताब्दी का यह मन्दिर काफी अलंकृत व सप्तरथ शैली में है। शिखर पंच-भूम्यात्मक है।

बिजोलिया का ऊंडेश्वर महादेव का मन्दिर इसी शैली में इस समय का है। इसका शिखर नेमावर की भांति नौ भूमियों वाला है।

---

१. इ० स्टे० ग०, पृ० ६०-६१.
२. वही, पृ० ७४.
३. कृष्णदेव : टेम्पल्स आफ नार्थ इंडिया, पृ० ६६.

चित्तौड़ का अद्भुतनाथ का शिव मंदिर भी भूमिज शैली में है, यद्यपि यह बहुत बाद का है।[१]

वैष्णव स्थापत्य

देखा जा चुका है कि ग्यारसपुर, तुमेन, घमनार, आदि स्थानों पर राष्ट्रकूट, मौर्य, नाग तथा प्रतिहार शासन में अनेक वैष्णव मन्दिरों का निर्माण हुआ। पुराणों के प्रभाव से विष्णु के विभिन्न अवतारों के प्रति मान्यता दृढ़ीभूत होने लगी। ऐसा लगता था कि सिद्धान्त रूप में विष्णु के २४ अवतारों एवम् व्यवहार रूप में १० अवतारों को सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में अधिक मान्यता मिली थी। ये दस अवतार नृसिंह, मत्स्य, वराह, कच्छप, परशुराम, राम, कृष्ण, वामन, कल्कि, बुद्ध एवम् ऋषभदेव में से होते थे। विशेषतः नृसिंह, नृवराह, राम और कृष्ण को पुरातत्वीय मालवा में अधिक लोकप्रियता मिली।

परमारकाल में विष्णु-पूजा पर्याप्त लोकप्रिय थी, यद्यपि अधिकांश परमार नरेश शैव धर्म के अनुयायी थे। सीयक द्वितीय का हरसोला ताम्रपत्र,[२] अर्जुनवर्मन का पीपलिय-नगर अभिलेख,[३] जयसिंह जयवर्मन की मांधाता ताम्रपट्टिका[४] एवम् देवपाल का मांधाता ताम्रपत्र[५] इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं कि मालवा में वैष्णव मत पर्याप्त लोकप्रिय था। शैव होते हुए भी परमार नरेशों की राजमुद्रा गुप्त शासकों की भांति गरुड़ांकित थी। वाग्पति द्वितीय के अभिलेख[६] में कृष्ण की ओर हरसोला ताम्रपत्र में नृसिंह की स्तुति की गई है। नरवर्मन के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उसने निर्वाण-नारायण की उपाधि ग्रहण कर वैष्णव मत के प्रति आस्था प्रकट की थी। उसकी नागपुर प्रशस्ति[७] में विष्णु के विभिन्न अवतारों की स्तुति की गई है। परमार नपति अर्जुनवर्मन ने भूमिदान करते समय शेष, परशुराम, राम एवम् कृष्ण के प्रति श्रद्धा प्रकट की थी, ऐसा अभिलेखीय प्रमाण उपलब्ध है।[८] विन्ध्यवर्मन के आश्रित कवि बिल्हण द्वारा रचित मण्डप अभिलेख में विष्णु की प्रशंसा की गई है।[९] राजा सुभटवर्मन ने विष्णु के एक मन्दिर के लिये दो वाटिकाएं दान की थीं[१०] जयतुगिदेव ने तरुण-नारायण की उपाधि ग्रहण की थी।[११] जयवर्मन द्वितीय ने परशुराम, राम और कैटभारि की वन्दना की थी।[१२]

---

१. कृष्णदेव : टेम्पल्स आफ नार्थ इंडिया, पृ० ६८-६९; मा० ग्रू० ए०,पृ० ४४५.
२. इ० इं०, ३२, पृ० ६०.
३. जर्नल आफ एशियाटिक सोसायटी आफ बेंगाल, पृ० ७३६.
४. इ० इं०, ३२, पृ० ६०.
५. मित्तल अ० च० : परमार अभिलेख, पृ० २५७-५८.
६. इंडियन ऐंटिक्वेरी, १४, पृ० १६०.
७. इ० इं, २, पृ० १८२.
८. मित्तल : अ० च०: परमार अभिलेख, पृ० २३६-३७; जर्नल आफ एशियाटिक सोसा०
९. एनल्स आफ दी भण्डारकर ओरि० रिसर्च आफ बेंगाल, ५, पृ० ३७८. इंस्टींच्यूट, ११, पृ० ४६-५३.
१०. इ० इं०, पृ० १०९.
११. वही, ९, पृ० १२१.
१२. वही, ३२, पृ० १४८-४९.

मालवा की वैष्णव वास्तुकला

बहुत से परमारकालीन वैष्णव मन्दिर अब यत्र तत्र बिखरी प्रतिमाओं के रूप में ही दिखाई देते हैं। परमारकाल में विभिन्न ब्राह्मण मतों के बीच अपूर्व सामंजस्य था। अतः किसी भी देवता के मन्दिर में किसी भी ब्राह्मण मत के देवी-देवताओं की मूर्तियां मंदिर के ताकों, चैत्य-गवाक्षों, मण्डपों अथवा मंदिर जंघाओं पर स्थापित की जाती रहीं। अतः जो भी वैष्णव मूर्तियां हमें मालवा में यत्र तत्र प्राप्त होती हैं, वे आवश्यक नहीं हैं कि सभी वैष्णव मंदिरों से ही संबंधित हों। फिर भी वे इस बात को दृढ़ता से प्रकट करती हैं कि मालवा में वैष्णव मत एवम् वैष्णव मन्दिर परमारों के समय पर्याप्त लोकप्रिय एवम् श्रद्धापूर्ण भक्ति के विषय थे।

परमारकाल की समस्त वैष्णव प्रतिमाओं को आलोचनात्मक दृष्टि से निम्नलिखित भागों में विभक्त किया जा सकता है :[1] —

ये विभिन्न प्रकार की वैष्णव प्रतिमाएं अपने पूर्ण तथा खण्डित वैभव को प्रदर्शित करती हुई गुना जिले में तुमेन; रायसेन जिले में रवाहखेड़ी, भोजपुर, आशापुरी; भोपाल व सीहोर जिले में बालाच्वान व शमशगढ़; विदिशा जिले में ग्यारसपुर, बड़हर, बड़ोह, पठारी, कागपुर, वेसनगर और स्वयं विदिशा; देवास जिले में गंधावल व नेमावर; शाजापुद जिले में पीपलरांवा, सुन्दरसी और करेड़ी; इन्दौर जिले में देपालपुर; निमाड़ जिले में ऊन मांधाता और पंथेरा; धार जिले में माण्डव और धार; रतलाम जिले में जलोद और गुणावद; उज्जैन, जिले में उज्जैन, ओखलेश्वर, दंगवाड़ा, कमेड़, उंडासा, कायथा, मकला, महिदपुर और झार्डा; मन्दसौर जिले

१· मा० प० क०, पृ० १७०-१८७.

में कंजार्डा, कंवला, संधारा, कुकडेश्वर, कैथुली, हिंगलाजगढ़, मोड़ी, भानपुरा, मालाहेड़ा व दूदालेड़ी से तथा निकटवर्ती राजस्थान में झालरापाटन व गंगधार से प्राप्त हुई हैं। इस तथ्य से यह बात स्पष्ट होती है कि परमारकाल में मालवा क्षेत्र बिना किसी अपवाद के वैष्णव मत के प्रति समान श्रद्धा से युक्त था। कुछ विशिष्ट स्थल वर्णित करना अन्यथा न होगा।

विदिशा जिले मे ग्यारसपुर एक महत्वपूर्ण वैष्णव केन्द्र रहा है। वहां संप्रति जो अठखम्बा, तोरण, तथा बाजियामठ हैं, वे सब परमार-पूर्वकालीन वैष्णव निर्माण का प्रतिनिधित्व करते हैं*। इसी प्रकार तुमेन, कागपुर तथा बड़ोह के मंदिर भी इसी तथ्य को स्पष्ट करते हैं। इन स्थानों पर परमारकालीन वैष्णव मूर्तियां भी उपलब्ध होने तथा ग्यारसपुर से परमार नृपति महलकदेव के एक खण्डित अभिलेख में विष्णु मंदिर के जीर्णोद्धार के प्रसंग प्राप्त होने से यह निर्णय लेने में सुविधा मिलती है कि इस काल में इन स्थानों पर वैष्णव मंदिरों का निर्माण एवम् जीर्णोद्धार हुआ होगा। इस सारे अध्ययन को खण्डहरों के माया जाल ने धूमिल कर दिया है।

आशापुरी में १०वीं शताब्दी के वैष्णव मंदिर का मलवा मिला है। यहां से उपलब्ध कतिपय दर्शनीय वैष्णव प्रतिमाएं अब भोपाल संग्रहालय की धरोहर हैं। यहा की विष्णु, वैष्णवी, गजलक्ष्मी, वराही आदि प्रतिमाओं को देखने पर उस महान कला सौन्दर्य की कल्पना ही की जा सकती है जो परमारकाल में १०वीं शताब्दी में यहां विद्यमान था।

एक वैष्णव मंदिर के अवशेष दैत्यसूदन मांघाता के निकट मिले हैं। यह अधूरा विष्णु मन्दिर परमार-काल की ही निर्मिति है। विष्णु मन्दिर के ध्वंसावशेष वैद्यनाथ, करेड़ी, करोहन, कायथा, तथा नरवर में मिलते हैं। पानविहार का शेषशायी विष्णु मन्दिर परमारकालीन है। उज्जैन के कालियादेह और सिद्धवट पर इसी काल के कृष्ण मन्दिर के अवशेष मिलते हैं। जैथल और करोहन में परमारकालीन 'नृहिंस के मंदिर' है। देवास के पास नागदा में कृष्ण के एक मन्दिर में परमारकालीन अभिलेख लगा हुआ है।

उज्जैन, देवास और शाजापुर स्थित इन स्थानों पर समय समय पर जो जीर्णोद्धार हुए, उससे इन मन्दिर की मूल वास्तुकला कुछ इस प्रकार तिरोहित हो गयी है कि उस पर निर्णायक रूप से कुछ कहना संभव नहीं रह गया है।[1]

बुंजर नामक ग्राम में गरुड़ पर आसीन लक्ष्मीनारायण व वराहावतार की प्रतिमाएं प्राप्त हुई थीं। ग्राम में कुछ मन्दिर-अवशेष भी मिलते हैं। यह पुरा-सामग्री वहाँ परमारकाल में किसी विष्णु मन्दिर की उपस्थिति सिद्ध करती है।[2]

दूदाखेड़ी में कई वैष्णव मूर्तियां उपलब्ध हुई हैं। इन प्रतिभाओं में कामधेनु, शेषशायी नारायण और

---

* इनके स्थापत्य का वर्णन इस अध्याय में अन्यत्र किया गया है।

१. मा० प० क०, पृ० १२६.

२. ई० स्टे० ग०, पृ० १०.

लक्ष्मी की प्रतिमाएं भी हैं जो प्रमाणित करती हैं कि यहां परमारकाल में कोई न कोई वैष्णव मन्दिर रहा होगा ।[1]

हिंगलाजगढ़ शैव धर्म की भांति वैष्णव मत का भी एक बड़ा केन्द्र रहा । यहां मन्दिरों के पर्याप्त अवशेष मिले हैं तथा विष्णु, बलराम, कृष्णजन्म, गरुड़-नारायण, योगनारायण, अनंतनारायण, दशावतार, विश्वरूप आदि की अनेक प्रतिमाएं प्राप्त होने से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यहां १०वीं से १३वीं शताब्दी के मध्य निर्मित अनेक वैष्णव मन्दिर विद्यमान थे ।

मोड़ी में अनेक मन्दिरों के अवशेष थे । यहां वराह, शेषशायी विष्णु, कल्पतरु, गरुड़ारूढ़ विष्णु आदि की अनेक प्रतिमाओं की प्राप्ति हुई है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यहां जैन और शैव मन्दिरों की भांति ११वीं से १३वीं शताब्दी के मध्य वैष्णव मन्दिर भी निर्मित किये गये होंगे ।[2]

प्रत्यक्ष संदर्भ

कंवला या कोहला में दो उल्लेखनीय वैष्णव मन्दिर हैं । इन्हें परमारकालीन माना गया है । इनमें एक है, वराह का मन्दिर तथा दूसरा है लक्ष्मीनारायण का मन्दिर ।[3] वराह मन्दिर तुलनात्मक रूप में बड़ा और आकर्षक है । इसमें एक मण्डप और गर्भगृह है । मण्डप ही अपने मूल रूप में सुरक्षित है। गर्भगृह की बाहरी दीवारें और उसका शिखर लगभग एक सदी पूर्व पुर्निर्मित किया गया । इस कारण ये अपना स्वरूप खो चुके हैं । मण्डप वस्तुतः एक महामण्डप है जिसके तीन ओर पोर्च हैं। मण्डप को आश्रय देने वाले १२ अलंकृत एवम् विभिन्न कोण युक्त स्तम्भ ही मूल मंदिर की सबसे सुरक्षित निधि है । मण्डप स्वस्तिकाकार है । छत के प्रक्षेपण को स्तम्भों से आश्रित किया गया है । मण्डप के पीछे की प्रक्षेपण अन्तराल में लीन हो चुका है । मण्डप की छत पर जो कंगूरेनमा छज्जा है, वह शिखर के साथ होनेवाली नवनिर्मिति है । मण्डप के स्तम्भ नीचे से षोडष कोणीय और ऊपर से अष्ट कोणीय है । स्तम्भ शीर्ष पर कीर्तिमुखों की परम्परा है । ऐसा लगता है कि अन्तराल का प्रवेश द्वार कहीं अन्यत्र से लाकर यहां लगा दिया गया है ।

गर्भगृह में एक ऊंची पीठ पर वराह की दर्शनीय प्रतिमा है। यह प्रतिमा चार हाथ वाली व अत्यधिक आकर्षक है । उसके एक हाथ में पृथ्वीदेवी, दूसरे में शंख व तीसरे में माला है । चौथा हाथ जांघ पर है । दाहिना पैर एक कच्छप की पीठ पर तथा बांया पैर एक ऐसे धड़ पर है जिसे मानवीय धड़ युक्त व नागपुच्छ वाले नाग-नागनियों ने उठा रखा है । मन्दिर में विष्णु एवम् उनके अवतारों की दर्शनीय प्रतिमाएं तो है हीं, सूर्य, शिव, दुर्गा और नन्दी की प्रतिमाएं भी हैं । अवतारों में गरुड़ासित, विष्णु, बलराम, नृसिंह, राम, परशुराम, वामन आदि की प्रतिमाएं हैं । कंवला का यह वराह मन्दिर भूमिज शैली में निर्मित है ।

लक्ष्मीनारायण मन्दिर कंवला ग्राम से थोड़ी दूर भानपुरा मार्ग पर स्थित है । मालवा के जितने भी अत्यधिक सुरक्षित स्मारक हैं, उनमें यह भी एक है । मंदिर प्रस्तर निर्मित चबूतरे पर खड़ा है । सोपान द्वारा

---

१. इ०स्टे०ग०, पृ० २३.
२. उक्त पृ० ४५.
३. कंवला के मन्दिरों के विस्तृत विवेचन के लिये दृष्टव्य : इं० स्टे० ग०, पृ० ३०-३५.

मण्डप में पहुंचा जा सकता है। मण्डप के भीतर वराह मन्दिर की ही भांति द्वारों के अलावा दीवारों के साथ-साथ प्रस्तर बैठकें हैं। मण्डप के ऊपर का प्रक्षेपण वराह मन्दिर की ही भांति है।

मण्डप आकार में वर्गाकार है। उसमें १८ स्तम्भों पर गुम्बद आश्रित है। इनमें १२ स्तम्भ एक ऐसा वर्गाकार बनाते हैं जिस पर गुम्बद आश्रित है, शेष छः स्तंभ तीन ओर से मन्दिर के प्रक्षेपण को थामे हुए हैं। इन १८ स्तम्भों में से आठ के शीर्ष पर वामन हैं। शेष स्तम्भ सादे हैं। अन्तराल के मार्ग पर जो स्तंभ हैं, वे अत्यधिक अलंकृत है। प्रवेश के सामने एक अर्ध वृत्ताकार सोपान मार्ग है, जो पूरी तरह अलंकृत है। अन्तराल के कोणों पर कीर्तिमुख उत्कीर्ण हैं। चौखट की ताकों में गणेश और ब्रह्मा की प्रतिमाएं हैं। गर्भगृह में जो प्रतिमाएं है, वे मूल मन्दिर में सम्मिलित न होकर आधुनिक हैं। गर्भगृह के बाहर जो ताक हैं, वे रिक्त हैं। मंदिर का शिखर यद्यपि पुनःनिर्मित हो चुका है, फिर भी ऐसा लगता है मानों वह उड़ीसा के मन्दिरों के रेखा-शिखरों की प्रतिकृति है। यह प्रभाव भूमिज शैली में ही निर्मित है।

कंवला में ही गांव के दक्षिणी छोर पर ठीक लक्ष्मीनारायण मंदिर जैसा ही चतुर्भुज का एक और छोटा मन्दिर है। मन्दिर पर्याप्त जीर्ण और अधूरा है किन्तु वह अत्यधिक सादा है और वास्तुकला के अध्ययन की दृष्टि से अधिक सहयोगी नहीं है।

कुकड़ेश्वर में एक परमारकालीन विष्णु मन्दिर है। यह मन्दिर बहुत कुछ पुनः निर्मित है। इस मन्दिर की योजना मालवा के समकालीन अन्य मन्दिरों से भिन्न है और उस पर स्पष्ट चालुक्य प्रभाव है। यदि चालुक्य शैली को वेसर शैली मान लिया जाता है तो निःसंकोच कहा जा सकता है कि १२वीं-१३वीं शताब्दी में निर्मित मन्दिर का शिखर वेसर शैली से पर्याप्त प्रभावित है। मूल मन्दिर मण्डप एवम् गर्भगृह युक्त था। गर्भगृह भूमिज शैली में तारकाकृत व सप्तरथ है। किन्तु शिखर पर स्पष्ट खानदेशीय चालुक्य प्रभाव है। गर्भगृह में चतुर्हस्त विष्णु की प्रतिमा है। शेष मन्दिर परिसर नया है और नयी प्रतिमाएं वहीं है। कुकड़ेश्वर में पार्श्वनाथ का मन्दिर है, वह मूल रूप में एक जैन मन्दिर होगा, इस संभावना को पूर्व में निरस्त किया जा चुका है। मन्दिर में गंगा, यमुना, गणेश, शिव, विष्णु, ब्रह्मा, नवग्रह, त्रिमूर्ति आदि की प्रतिमाएं तथा कृष्णलीला के प्रसंग यह सिद्ध करते हैं कि मन्दिर का मूल संबंध वैष्णव मत और विशेषकर भागवत वर्णित विष्णु के अवतार भगवान कृष्ण से रहा होगा। मन्दिर में जो जैन मूर्तियां हैं, कालान्तर के संयोग ही हैं। जैन स्थापत्य का वर्णन करते समय इसका वर्णन किया जा चुका है।[1]

कंजार्डा में चतुर्भुज का जो आधुनिक मन्दिर है, उसे परमारकालीन मन्दिरों के अवशेषों को लेकर बनाया गया है। यह मन्दिर चतुर्भुज मन्दिर कहलाता है। प्राचीन मन्दिर की विष्णु, परशुराम, बलराम, वराह, कल्कि, बुद्ध, राम, नृसिंह, विष्णुगण तथा गंगा जमुना की प्रतिमाएं यहां की प्रस्तर चौखटों में देखी जा सकती हैं।[2]

कैथुली के शेषशायी विष्णु के मन्दिर का मण्डप और गर्भगृह छोटा है। मण्डप १६ स्तम्भों पर टिका

---

१. इ० स्टे० गा०, पृ० ३७-४१.
२. वही, पृ० २७.

है। शिखर अभंग है। गर्भगृह में तीन ताक हैं जिनमें वैष्णव प्रतिमाएं हैं। यह मन्दिर परमारकालीन माना जा सकता है।[1]

नावली में एक छोटा परमारकालीन विष्णु मन्दिर जैसे तैसे गर्भगृह का अस्तित्व बचाये आज तक खड़ा रह सका है। इस मन्दिर में विष्णु की एक अत्यधिक अलंकृत एवम् दर्शनीय प्रतिमा प्राप्त हुई।[2]

संधारा में चतुर्भुजनाथ नामक एक आकर्षक परमारकालीन विष्णु मन्दिर विद्यमान है।[3] वर्तमान में यह वैष्णव मन्दिर है, किन्तु शैव मन्दिरों का वर्णन करते समय इस मन्दिर के वास्तुकला का शैव मन्दिर-वास्तुकला के साथ इस आधार पर वर्णन किया जा चुका है कि मन्दिर पाशुपत दर्शन के शेषावतार लकुलेश से संबंधित रहा है। संधारा के आदि नाथ मन्दिर का वर्णन करते समय उल्लेख किया जा चुका है कि इस मन्दिर में रामायण तथा वैष्णव मत से संबंधित अनेक प्रसंग उत्कीर्ण हैं। इस कारण यह धारणा प्रकट की गई है कि इस जैन मन्दिर में ये प्रसंग कहीं अन्यत्र से लाकर लगाये गये हैं, किन्तु यह धारणा आधारहीन है। इसका कारण यह है कि जिन भागों पर यह दृश्य अंकित है, वे मन्दिर के आधारभूत अपरिहार्य भाग हैं। इस कारण यह संभावना अत्यन्त ही बलवती हो उठती है कि यह जैन मन्दिर मूल रूप से एक वैष्णव मन्दिर रहा होगा।

मन्दसौर के सीमान्त राजस्थानी परिसर में भी भूमिज शैली के मन्दिरों का सिलसिला दिखाई देता है। झालरापाटन में परमारकाल में निर्मित वराह अवतार का एक मन्दिर था। चार स्तम्भों पर जो खुला गुम्बद है, वहां वराह की प्रतिमा अभी भी देखी जा सकती है। इसी नगर में सात सहेली नामक एक विशाल मन्दिर है, जो परमारकाल में भूमिज शैली में बना। पूरी तरह जीर्णोद्धार होने से यह प्रस्तुत अध्ययन के अधिक योग्य नहीं रह गया है।[4]

अन्य देवी-देवता

शाक्त मत

परमारकाल में शक्ति की उपासना एक महत्वपूर्ण धार्मिक विधा थी। पुराणों में जब निराकार ब्रह्म को साकारत्व दिया गया तथा उसके अनेक अवतार स्वीकार किये गये तो प्रकृति का भी दिव्य अवतरण धार्मिक आस्था का अंग बना। देवी भागवत और तंत्र ग्रन्थों में तो विभिन्न देवी-देवताओं की भरपूर चर्चाएं हुई हैं। ब्रह्म के प्रत्येक देवी अवतरण के साथ उनकी शक्ति-स्वरूपा देवियों की चर्चा की गई है। एक विशिष्ट धार्मिक विधा द्वारा इन्हें श्रद्धा और पूजा का विषय बनाया गया। परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक देवता के लिये उसी की स्वरूपा देवी की कल्पना की गई। पौराणिक एवम् राजपूत काल में शाक्त परम्परा केवल यहीं तक सीमित नहीं रही। प्रमुख देवियों के कुछ अनेक रूप सामने आये। इन रूपों का स्वरूप इतना व्यापक और घनीभूत हो गया कि शाक्त मत में देवता गौण हो गये और देवियां प्रमुख हो गयीं। शक्ति के बिना शिव शव मात्र रहने लगा।

---

१. इ०स्टे०ग०, पृ० ४५.
२. वही, पृ० ४७.
३. वही, ६०-६१.
४. मा० आ०ए०, पृ० ४४४-४५.

बौद्ध और जैन मत भी इस सारी विचारधारा से प्रभावित हुए। जैन मत में शासन-देवियों तथा पद्मावती, चक्रेश्वरी, अम्बिका आदि की भरपूर चर्चा आयी। बौद्ध मत में विभिन्न पारमिताओं को देवी स्वरूप प्रदान किया गया। कालान्तर में इनमें से तारा आदि देवियों को तो तांत्रिक मान्यता भी मिली।

देवियों को कालान्तर में सत्-प्रधान विष्णु, राजप्रधान ब्रह्मा, एवम् तम-प्रधान शिव से क्रमशः लक्ष्मी, सावित्र या सरस्वती एवम् दुर्गा के रूप में जोड़ा गया। महालक्ष्मी विष्णु की सहधर्मिणी मानी गई। पौराणिक परम्पराओं ने उसे वराह के साथ वराही के रूप में, राम के साथ सीता के रूप में, कृष्ण के साथ राधा के रूप में तथा विष्णु के साथ वैष्णवी के रूप में देखा। राजपूत और परमारकाल में इन देवियों की प्रतिमाएं बड़ी मात्रा में निर्मित की गयीं। ब्रह्मा की उपासना अधिक लोकप्रिय नहीं हुई। फिर भी एक सहायक देवता के रूप में ब्रह्मा की पूजा वैष्णव और शैव मत दोनों में ही सम्पन्न होती रही। ब्रह्मा के साथ-साथ ब्रह्माणी की कल्पना भी हुई। वैष्णवी एवम् रुद्राणी के साथ ब्रह्मा की देवी-शक्ति का प्राकट्य करने वाली सरस्वती की प्रतिमा भी सामने आयी। कहीं कहीं इस शक्ति के रूप में सावित्री उपस्थित हुई।

देवी प्रतिमाओं का अधिकांश भाग शिव की भार्या ने अपने पक्ष में लिया। शाक्त मत का प्रमुख आधार भी वे बनीं। वे ही दुर्गा, रुद्राणी, माहेश्वरी, पार्वती, काली, उमा, चामुण्डा, चण्डिका, महिषासुरमर्दिनी, गौरी, भैरवी आदि का स्वरूप लेकर मन्दिरों में प्रतिमा बनकर उपस्थित हुयीं।

गणेश के साथ ऋद्धि और सिद्धि संयुक्त मानी गयी हैं। परमारकाल में ये शक्तियां गणेशानी के रूप में सामने आई। इसके अतिरिक्त स्कन्द की भार्या के रूप में कहीं कहीं प्रस्तर पर कार्तिकेयिनी भी उत्कीर्ण हुई। ब्राह्मण मत में देवियों की कल्पना में अभिनव प्रयोग जारी रखे। परिणामस्वरूप परमारकाल में विजया, चर्चिका आदि देवियों के मन्दिर भी बनाये गये। सूर्य देवता भी शक्तिविहीन नहीं रहे। सूर्याणी समाने आयी देवियों के बारे में और अधिक चिंतन होने से साथ ही देवी के विभिन्न स्वरूपों के समूह की कल्पना सामने आयीं। परिणामस्वरूप सम-सामयिक स्थापत्य कला चौसंठ योगिनी, सप्तमातृका एवम् नवदुर्गा के रूपों का मूर्तन करती हुई सामने आयीं।

प्रतिमाओं के बारे में एक विशेष तथ्य यह है कि इनमें कई प्रतिमाएं अपने देवताओं के साथ ही उत्कीर्ण हुई। यही कारण है कि शिव के साथ पार्वती, महेश्वर के साथ उमा, नारायण के साथ लक्ष्मी की प्रतिमाएं बहुत अधिक मात्रा में सामने आयीं। नदियां भी सहायक देवियों के रूप में दिखाई देती हैं किन्तु गंगा और जमुना को ही लोकप्रियता मिल पायी।

जहां तक मन्दिर वास्तुकला का प्रश्न है, किन्नरियों, अप्सराओं, प्रतिहारियों, दासियों, यक्षिणियों आदि ने भी अपना स्थान पाने में सफलता प्राप्त की है।

परमारकालीन प्रतिमाओं में लक्ष्मी को तीन रूपों में अंकित गया है :—

(१) वैष्णवी लक्ष्मी— विष्णु की पत्नी के रूप में जिसे लक्ष्मीनारायण कह सकते हैं,

(२) गरुड़वाहिनी लक्ष्मी— चारों हाथों में कमल, केयूर, बिल्व और शंख लिये तथा

(३) गजलक्ष्मी के रूप में।

ये प्रतिमाएं आवरा, मोड़ी, हिंगलाजगढ़, आशापुरी, उज्जैन, कायथा, मकला, करेड़ी, नेमावर, ऊन, कमेड़, देववड़ला (देवास), उंडासा, माण्डव, गंधर्वपुरी, नालच्छा, औखलेश्वरी आदि स्थानों से प्राप्त हुई हैं।

सरस्वती की प्रतिमाओं में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, धार की भोजनशाला की वाग्देवी की प्रतिमा। भोजशाला अब कमाल मौला की मस्जिद है और वाग्देवी की खण्डित प्रतिमा लंदन की ब्रिटिश म्यूजियम की शोभा बढ़ा रही है। महालक्ष्मी और महाकाली के साथ महासरस्वती उज्जैन, हिंगलाजगढ़ आदि स्थानों पर प्राप्त हुई है। हिंगलाजगढ़ में तो सरस्वती की स्वतंत्र प्रतिमा भी प्राप्त हुई हैं। उज्जैन से वाराही, वैष्णवी एवम् नरसिंही की सम्मिलित प्रतिमाएं मिली हैं। एक सरस्वती की कांस्य प्रतिमा भी प्राप्त हुई है, जो ११वीं शताब्दी की है।

परमारकाल में काली, दुर्गा, चण्डिका, भैरवी, चामुण्डा, भवानी, महिषासुर-मर्दिनी, योगिनी आदि की कई प्रतिमाएं बनाई गयीं। सप्तमातृका, चौसठ योगिनी और नवदुर्गा के रूप में शैव धर्म से संबंधित कई शक्ति प्रतिमाएं प्रकाश में आयीं। उज्जैन, मोड़ी, रुणीजा, गंधर्वपुरी, हिंगलाजगढ़, ऊन, आशापुरी, कायथा, बराहखेड़ी, विदिशा, कागपुर, ग्यारसपुर, ओखलेश्वर, मानपुरा, घुसई, पानविहार, नेमार, गजनीखेड़ी, गंधावल, मकला, झार्डा, ममोन आदि स्थानों से ये प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं। आशापुरी और हिंगलाजगढ़ से इन्द्राणी की प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं। बराहखेड़ी से कौमारी की प्रतिमा प्राप्त हुई है। हरसूद से ब्राह्मणी की प्रतिमा मिली है। ग्यारसपुर, मोड़ी, सुहानिया, देपालपुर, उज्जैन, धार, ऊन व हिंगलाजगढ़ तथा आशापुरी से वाराही की प्रतिमाएं प्राप्त हुई है। विनायकी अथवा गणेशाणी की प्रतिमाएं हिंगलाजगढ़ से प्राप्त हुई हैं।

जैन प्रतिमाएं पद्मावती, मानवी, प्रचण्डा, अम्बिका, अशोका आदि के रूप में मिलती हैं। कहीं कहीं त्रिशला देवी, सिद्धिईका, अंकुशा, प्रचण्डा, चक्रेश्वरी, सरस्वती, सूत्रादेवी की प्रतिमाएं बनाई गई।

गंधावल, ऊन, बदनावर, झार्डा, आष्टा, मकसी, पचोर, सखेड़ी, मन्दसौर, नीमथूर, मोड़ी, रिंगनोद, जीरन, घुसई, सोनकच्छ, गोंदरमऊ आदि स्थानों से जैन देवियों एवम् यक्षियों की प्रतिमाएं उपलब्ध हुई हैं।

अनेक परमारकालीन मन्दिरों में गंगा तथा जमुना की मूर्तियां उत्कीर्ण हुई हैं। गंगा को मकरवाहिनी और यमुना को कच्छप वाहिनी बताया गया है।[1]

देवी प्रतिमाओं की यह विशाल भीड़ यह सिद्ध करती है कि परमारकाल में शाक्त मत पर्याप्त लोकप्रिय था। प्रत्येक मत-संप्रदाय देवताओं के साथ साथ देवियों की उपासना भी अपने धार्मिक क्रियाओं का

---

१. शाक्त प्रतिमाओं का यह विवेचन निम्न स्रोतों पर आधारित है:—
(क) मा०भू० ए०, पृ० ४५६-५८, (ख) मा० प० क०, पृ० १५८-६५, १८६-८९,
(ग) आ० प० मा०, पृ० १-५, (घ) परमार्स, पृ० ३४३-४८,
(ङ) एडमिनिस्ट्रेशन रिपोर्ट आफ आर्कोलोजिकल डिपार्टमेन्ट आफ ग्वालियर स्टेट, (१९२०-१९३८ तक).

एक अपरिहार्य अंग मानता था। देवियों के स्वतंत्र रूप से कितने मन्दिर बनाये गये, यह कहना पूरी तरह संभव नहीं है। प्रतिमाओं के आधार पर यह सिद्ध करना कठिन कार्य है कि जहां से ये प्रतिमाएं प्राप्त हुईं, वहां देवियों के कोई मन्दिर निश्चित रूप से रहे। अधिकांश मन्दिरों में हम देवियों की प्रतिमाओं को सहायक प्रतिमाओं के रूप में पाते हैं। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि शिव, विष्णु, एवम् तीर्थंकरों के लिये बनाये गये मन्दिरों की तुलना में देवी-पीठ और मन्दिर कम बने। फिर भी परमारकालीन मालवा में शक्ति-पूजा लोकप्रिय थी।

प्रत्यक्ष प्रमाण

रुणीजा में नवदुर्गा का भग्न मन्दिर है। भूमिज शैली में निर्मित यह मंदिर अभिलेखीय आधार पर १२वीं शताब्दी में निर्मित हुआ। रूपरेखा उदयेश्वर मंदिर व चौबाराडेरा की भांति है। शिखर का बहुत भाग भग्न है। शुकनासिका पर भैरव आसीन है। मुख्य गर्भगृह में दुर्गा की प्रतिमा है। मन्दिर की भीतरी छत में अद्भुत उकेरे अलंकरण हैं। शाक्त सम्प्रदाय के अल्प भग्न मन्दिर गंधर्वपुरी, घुलेट, करेड़ी आदि स्थानों पर मिले हैं। करेड़ी के देवी मन्दिर में अलंकृत स्तम्भ व छत है। अलिंद व शिखर पर भी अलंकृत पुष्प-रचना है। करेड़ी में ही चामुण्डा का एक मन्दिर है। करेड़ी का यह मन्दिर विन्ध्यवर्मन के समय का है जो इसके गर्भगृह में लगे, अभिलेख से सिद्ध होता है। दक्षिण-मुखी ताराकार मन्दिर है। इसमें भैरव, चामुण्डा, दुर्गा की प्रतिमाएं हैं। वैद्यनाथ का शिवपार्वती मन्दिर पूर्वाभिमुख है। गर्भगृह में शिव की प्रतिमा प्रतिष्ठित हैं। महिदपुर के पास स्थित इस मन्दिर का प्रवेश द्वार, मण्डप तथा गर्भगृह भूमिज शैली में हैं। यह मन्दिर भग्नावस्था में है। महिदपुर में भी एक परमारकालीन दुर्गा मन्दिर है। इसका शिखरवाला भाग भग्न हो चुका है।[1]

उज्जैन में चौबीस खम्बा का देवी मन्दिर ११वीं शताब्दी का परमारकालीन मंदिर है। यह महाकालेश्वर प्रांगण का एक द्वार उस समय रहा होगा। शिप्रा नदी के पास अनन्तपेठ मोहल्ला में बिना नींव की मस्जिद प्राचीन जैन मंदिर के अवशेषों से निर्मित है। पोर्च का भाग अभी भी है। कटाव, दीपाधार, स्तम्भ की नक्काशी आदि के कारण यह भोजशाला का लघु रूप प्रतीत होता है। संभावना यह भी है कि यह सरस्वती मंदिर रहा होगा।[2]

परमार नरेशों की साहित्यिक अभिरुचि से विद्या की अधिष्ठात्री सरस्वती को भी आदर मिला और सरस्वती के मन्दिर निर्मित हुए। इस काल में इसे वाग्देवी या भारती कहा गया। देवी सरस्वती की एक काव्यात्मक स्तुति माण्डव से प्राप्त हुई है, जो ११वीं शताब्दी की है। भोज सरस्वती का महान भक्त था। धार की भोजशाला की यह अधिष्ठात्री देवी थी। वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार धार की भोजशाला की स्थापत्य विषयक सुन्दरता भव्य है। स्तम्भों व छत की अद्भुत निर्मित भोज के सौन्दर्य ज्ञान को स्पष्ट प्रकट करती है।[3]

---

१. मा० प० क०, पृ १२६-२७.

२. एनल्स आफ भण्डारकर ओरि० रिसर्च इंस्टी०, ४, पृ० ९९-१०२.

३. वही, ७, पृ० १४२-४४, इ०इं०, २, पृ०-१८२.

विदिशा में एक बीजामण्डल नामक एक विशाल मस्जिद है। स्थापत्य कला, मूर्तिकला, उत्खनन एवम् अभिलेखीय प्रमाणों से यह सिद्ध हो चुका है कि एक ब्राह्मण मंदिर था। अनुश्रुतियां और अभिलेख इसे विजयादेवी का मन्दिर मानते हैं। यह विशाल मन्दिर परमारकालीन रहा। 'तवकाते नासिरी' के अनुसार विदिशा में एक विशाल मंदिर था जिसमें लगभग एक सौ कक्ष थे और जिसके निर्माण में लगभग ३०० वर्ष लगे थे। पुराविदों की यह धारणा है कि विजयामंदिर ही उक्त निर्माण है जिसे १०वीं शताब्दी में सीयक ने प्रारम्भ करवाया और १२वीं शताब्दी में भोज के उत्तराधिकारी विजयपाल तक वह बनता रहा। निश्चित ही उसमें महाराजा भोज का भी योगदान रहा होगा। इल्तुतमिश ने इस मंदिर का विध्वंस किया और औरंगजेव के समय इसके अवशेषों को मिलाकर बीजामण्डल नामक मस्जिद का निर्माण कर दिया गया।[1]

मस्जिद के स्तंभ अद्वितीय रूप से अलंकृत हैं। उनमें से एक पर उत्कीर्ण अभिलेख से ज्ञात होता है कि वह चर्चिका देवी के मन्दिर का स्तंभ है। विजया मंदिर नाम पड़ने के पीछे तीन मत हैं। या तो चन्देल नरेश विजयपाल के कारण अथवा सीयक की पत्नी वड़िजादेवी के कारण या एक वैश्य की पत्नी विजया के द्वारा किये गये निर्माण के कारण इसे विजया मन्दिर नाम मिला।

अभी सभी उत्खनन से विभिन्न दिशाओं में दोहरे स्तर की सोपान श्रेणियां मिली हैं, जो चन्द्रशिला द्वारा संयुक्त हैं। इसी आधार पर ए० पी० सागर ने इस मन्दिर को मांधाता के सिद्धनाथ मन्दिर की भांति ही सर्वतोभद्र माना है।

विजया मन्दिर के जो अवशेषों से ज्ञात होता है कि यह मन्दिर एक ऊंचे वर्गाकार पीठ पर खड़ा था। इसकी एक भुजा ७१. ५० मीटर तथा पीठ ५६ मीटर थी। सिद्धनाथ मन्दिर से कुछ मामलों में यह मन्दिर भिन्न था। इसका आकार, अर्धमण्डप का स्वरूप व जगती का आकार-प्रकार भिन्न था। मांधाता मंदिर का सोपान पथ एक ही था जबकि यहां के सोपान पथ द्विस्तरीय रहे। पहिले स्तर पर सात सीढ़ियां व दूसरे पर १२ सीढ़ियां थीं। फिर चन्द्र-शिला थी, जहां से अर्ध-मण्डप में प्रवेश होता था। अर्ध-मण्डप ६.५० मीटर लम्बा और ५. ७० मीटर चौड़ा था।

मन्दिर की पीठ विभिन्न स्तरों से युक्त थी। मंदिर स्तंभों का एक शानदान संयोजन था। इन स्तम्भों के आसपास एक विशाल प्राकार था। स्तम्भों में अलंकरण कम किन्तु विशालता अधिक थी। कुछ स्तम्भों पर रत्नों, वनस्पतियों एवम् पुष्पों के अलंकरण थे। मंदिर के शिखर एवम् मण्डप अव लुप्त हो चुके हैं। जिन ताकों में देवी-देवताओं की प्रतिमाएं थीं, वे भी अब खाली पड़े हैं। ऊंची जगती पर परमारकाल में मन्दिर बनाने की परंपरा नहीं रही क्योंकि अधिकांश मन्दिर भूमिज शैली में बनाये गये। किन्तु मांधाता का सिद्धनाथ मन्दिर और विदिशा का विजयामंदिर ऊंची जमीन पर स्थित है। इसलिये करीब करीब खजुराहो के चन्देल निर्माण के निकट रखे जा सकते हैं। इसी आधार पर यह मत प्रकट किया गया है कि संभवतः चन्देल नरेश विजयपाल द्वारा इसका निर्माण हुआ हो।

---

१. टेम्पल आफ परमार टाइम्स एट विदिशा (आ० प० मा०), पृ० ५४-५५.
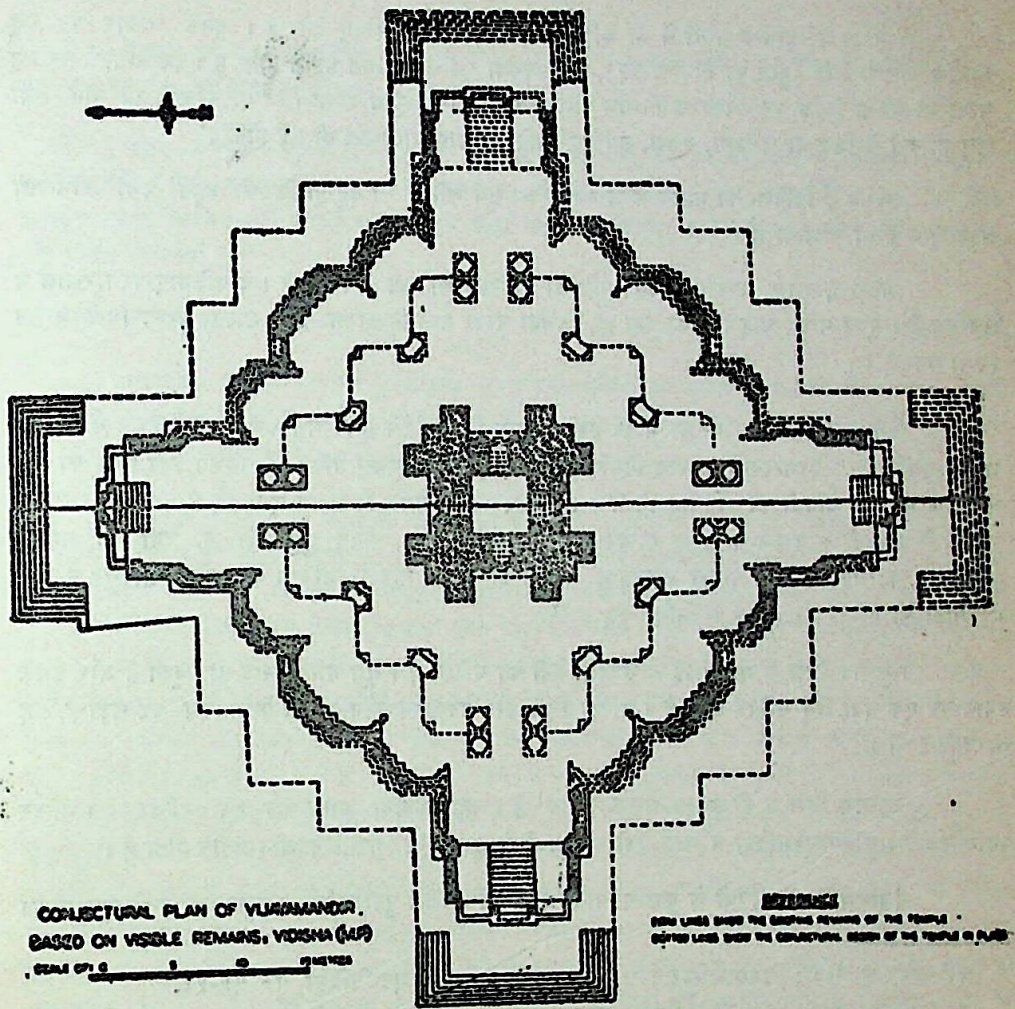
Fig. 3

(आ० प० मा० से साभार)

स्थिति जो भी रही हो, मन्दिर सर्वतोभद्र था। चारों ओर प्राकार थे। मुख्य दिशाओं में सोपानों व प्रवेश द्वारों द्वारा जगती पर प्रवेश होता था। उपरान्त चारों ओर द्वार मण्डप और मण्डप थे। फिर गर्भगृह आता था।

मंदिर के विभिन्न भागों में जो अभिलेख हैं वे विभिन्न सुचनाएं देते हैं। इनके आधार पर यह निर्माण चर्चिका देवी (दुर्गा का ही एक रूप), शिव अथवा सूर्य से संबंधित प्रतीत होता है। इन आधारों पर यह माना जा सकता है कि यह सर्वतोभद्र निर्माण पंचायतन था जिसमें मुख्य देवता शिव या चर्चिका रहे होंगे तथा लघु मन्दिरों में शिव या चर्चिका, गणेश, सूर्य आदि की प्रतिमाएं प्रतिष्ठित की गई होंगी।[१]

संभव है विदिशा का महान भैल्ल स्वामी का सूर्य मन्दिर भी यह हो जिसकी बहुत चर्चा अभिलेखों व साहित्य ग्रन्थों में आयी है।

नटराज, गणेश, सप्त मातृकाएं आदि की प्रतिमाएं भी यहां से मिली हैं। ये प्रतिमाएं परमारकाल से संबंधित हैं। मुख्य मंदिर चाहे जिसका रहा हो, विजया मंदिर नाम के कारण इसे शाक्त परम्परा में वर्णित किया गया है।

ग्यारसपुर में मालादेवी का मंदिर एक आकर्षक निर्माण है। हम वर्णन कर चुके हैं कि यह मंदिर जैन धर्म से संबंधित एक परमार-पूर्व कालीन निर्माण है।[२] बड़ोह का गाडरमल मंदिर भी लगभग इसी समय का है। मंदिर के मलवे से देवियों की प्रतिमाएं मिली हैं। मन्दिर का भी वर्णन किया जा चुका है।[३] इसी प्रकार १०वीं या ११वीं शताब्दी के मोहज माता का मन्दिर तेरही में, अंबिका का मन्दिर सुहानिया में, देवी का मन्दिर कागपुर में, कालिका-देवी का मन्दिर माण्डव में, पार्वती का मन्दिर धार में, अंबिका का मन्दिर शाकपुर में तथा महामाया का मन्दिर ग्यारसपुर में निर्मित हुए थे।[४]

रतलाम जिले में गढ़-खंखई में कंकाली देवी का मन्दिर है। मूल मन्दिर नष्ट हो चुका है और उसके स्थान पर एक नया लघु मन्दिर खड़ा है। मन्दिर जिस अन्य परमारकालीन मन्दिर के अवशेष पर खड़ा है, वह तारकाकृत था।[५]

रतलाम जिले में ही नगरा नामक स्थान है। यहां भवानी माता का एक मन्दिर है। मन्दिर पुनर्निमित हैं। महिषासुरमर्दिनी व अन्य देवी प्रतिमाओं से मूल मन्दिर परमारकालीन प्रतीत होता है।[६]

गंधावल में भी देवियों के कुछ परमारकालीन मन्दिर हैं। पुनर्निर्माण के फलस्वरूप इनके मूल स्वरूप

---

१. सागर ए०पी० : विजयामन्दिर टेम्पल आफ परमार टाइम्स एट विदिशा, पृ० ५५-५६.
२. आ० स० इं (१९३५-३६) जैन स्थापत्य के अन्तर्गत अध्याय ६ में देखें।
३. वही, (१९२१-२२); पृ० १८५; (१९२३-२४), पृ० १३३.
४. मा०ग्रू०ए०, पृ० ४२०.
५. निगम श्यामसुन्दर : माही का प्रहरी उच्चानगढ़, पृ० ५-६.
६. जोशी भारती : रतलाम जिले का परमारकालीन स्थापत्य व मूर्तिकला, पृ० ३.

बहुत कुछ परिवर्तित हो गये। इन मन्दिरों में बहुत कुछ सामग्री जैन मन्दिरों की भी आ गई। यहां के देवी मन्दिरों में भवानी तथा सीतलामाता के मन्दिर विशेप रूप से उल्लेखनीय हैं।[१]

अन्य देवता :

ब्राह्मण धर्म में अनेक देवी-देवता का प्राधान्य रहा है। इनमें ब्रह्मा, सूर्य, गणपति, कार्तिकेय, हनुमान तथा कुछ स्थानीय देवी-देवताओं के नाम विशेप उल्लेखनीय हैं।

ब्रह्मा : समरांगण सूत्रधार के अनुसार ब्रह्मा चारमुखी, स्थूलांग, दण्ड-कमण्डल, मौंजी-मेखला व माला को लिये अंकित किया जाना चाहिये। इस रूप की ब्रह्मा की प्रतिमा क्षेम वृद्धि करती है। ब्रह्मा प्रजापति सत्वगुण प्रधान देव के रूप में हाथ में चतुर्वेदों को लिये कमण्डल आदि उपकरणों से युक्त कमलासन पर परिकल्पित किये गये हैं।[२]

ब्रह्मा-मन्दिर-वास्तुकला **परोक्ष सन्दर्भ**

समरांगण सूत्रधार में भी ब्रह्मा प्रासादों एवम् ब्रह्मा मूर्तियों का सुन्दर वर्णन किया गया है।[३] ब्रह्मा की प्रतिमाएं मालवा के अनेक स्थानों से उपलब्ध हुई हैं। ये प्रकट करती हैं कि ये परमारकाल में किसी मन्दिर की गौण या प्रमुख प्रतिमाओं के रूप में शोभा बढ़ा रही होगीं।

त्रिमूर्ति के प्रमुख देव ब्रह्मा की मूर्तियों को गौण रूप से शिव मन्दिर एवम् विष्णु मन्दिर दोनों में ही परिवार देवों के रूप में प्रतिष्ठित करने का विधान प्रकल्पित था। शिव-पार्वती की प्रतिमाओं में उसके दाहिने कोने में ब्रह्मा मूर्तन मिलता है। चतुर्हस्त ब्रह्मा पुस्तक, अक्षमाला, कमण्डल व आशीर्वाद मुद्रा में रहते हैं। आशापुरी की शिव-पार्वती प्रतिमा में दाढ़ी युक्त ब्रह्मा है। अन्य शिव प्रतिमाओं में ब्रह्मा इसी रूप में मिलते हैं। इसी अंकन की ब्रह्मा की स्वतंत्र प्रतिमाएं उदयपुर, नेमावर व भानपुरा में पायी गयी हैं। बेसनगर से ८५ से० मी० ऊंची ब्रह्मा की चतुर्मुखी प्रतिमा मिली है। इसका मुकुट ऊंचा है तथा गले में माला है। ब्रह्मा के वक्ष पर श्रीवत्स और यज्ञोपवीत है। पुस्तक, कमण्डल, अक्षमाला व आशीर्वाद मुद्रा में चतुर्हस्त है। विदिशा से एक अन्य ब्रह्मा की प्रतिमा ६० से० मी० ऊंची मिली है। ब्रह्मा खड्गासन में हाथों में पुस्तक व अक्षमाला लिये हैं। विदिशा से ही एक अन्य ब्रह्मा की मूर्ति ६५ से० मी० ऊंची प्राप्त हुई है। इसके आधार पर हंस पर बैठा हुआ उपासक भी दिखलाया गया है। मोड़ी की ब्रह्मा प्रतिमा चतुर्हस्त व चतुर्मुखी है। देवता त्रिभंग मुद्रा में अंकित है। नीचे के दोनों हाथों में अक्षमाला व कमण्डल है। दो मुख दाहिने-बाएं व एक मुकुट में अंकित है। बाघ से विक्रम संवत १२१० की एक ब्रह्मा-प्रतिमा मिली है। उसके लेख से प्रतीत होता है कि इस मूर्ति की स्थापना परमारों के मुख्य अमात्य यशोधवल की बहन भामिनी ने करवायी थी। मामोन से भी ब्रह्मा की एक प्रतिमा प्राप्त हुई है। फदोली तथा धुन्धेरी के मन्दिरों में भी ब्रह्मा की प्रतिमा मिली है। आशापुरी की

---

१. प्रा०म०मा० जै०ध०, पृ० ९७.

२. स०सू०, ७७।२-९.

३. उक्त, ७७।२-९.

की ब्रह्मा-प्रतिमा में १० अवतारों का अंकन है। मुख्य प्रतिमा के रूप में ब्रह्मा अक्षमाला व पुस्तक धारण किये हुए हैं। यह प्रतिमा १०वीं शताब्दी की है।[1]

प्रत्यक्ष सन्दर्भः

करेड़ी व रुणीजा में ब्रह्मा के मन्दिर भग्नावस्था में मिले हैं। ये भूमिज शैली में निर्मित हुए थे।[2]

भोपाल जिले के बालाच्वान ग्राम में परमारयुगीन एक ब्रह्मा के मंदिर के अवशेष प्राप्त हुए हैं, जो परमारकालीन निर्माण योजना के उत्कृष्ट नमूने हैं। ग्राम बालाच्वान के बाहर मकानों के समीप ही एक ध्वस्त मंदिर के अवशेषों का ढेर लगा है। वास्तुशिल्प खण्डों के जमाव से उस मन्दिर की निर्माण योजना की कल्पना साकार होती है। अधिष्ठान पर मन्दिर के तोरण द्वार, कलश, अंग-शिखर, ललाट, बिम्ब तथा गवाक्ष इत्यादि बहुत अधिक संख्या में पड़े हैं। यह मन्दिर निर्माण योजना की दृष्टि से लगभग ४० मीटर लम्बे और २५ मीटर चौड़े क्षेत्र में निर्मित हुआ होगा। वर्तमान समय में इस मन्दिर में केवल गर्भगृह ही शेष रह गया है। वह भी पूर्णतः ध्वस्त हो चुका है।

अधिष्ठान से टिका एक ललाट-बिम्ब आज भी वहां देखा जा सकता है, जो लगभग १.५२ मी० लम्बा और ५१ से० मी० चौड़ा है। यह उदुम्बर की शाखा, पुष्प एवम् लता कर्मों से सुसज्जित है। ऊर्ध्व देवकोष्ठों में क्रमशः विष्णु, ब्रह्मा और शिव की खड़ी प्रतिमाएं उत्कीर्ण हुई हैं। ललाट-बिम्ब में ब्रह्मा की मूर्ति है। ब्रह्मा के दोनों तरफ नवग्रह एवम् ऋषियों की अवली परम्परागत उत्कीर्ण है। ब्रह्मा समभंग मुद्रा में खड़ा है। ब्रह्मा के तीन मुख प्रदर्शित किये गये हैं। ब्रह्मा की दाढ़ी स्पष्ट परिलक्षित हो रही है। किरीट-मुकुट धारण किये हुए चतुर्भुजी ब्रह्मा मनोरम, मनमोहक, एवम् शांत मुद्रा में हैं। नीचे बाईं तरफ दो युगल-प्रतिमाएं द्विभंग मुद्रा में अर्चना में लीन हैं। दाहिनी ओर पुनः ब्रह्मा को लघु आकार रूप में एक पुष्प प्रतिमा के साथ प्रदर्शित करना कलाकारों की अद्भुत सूझ है। ब्रह्मा की बायीं और दाहिनी ओर नवग्रहों को उत्कीर्ण किया है। यह सर्वविदित है कि नवग्रहों का अंकन भारतीय शिल्पकला में प्रचुरता से उपलब्ध है। मन्दिर के प्रवेश द्वारों पर इन्हें अंकित करने की प्रथा मध्यकाल में बहुत प्रचलित थी। उदयगिरी की अमृतगुफा व रहली (सागर) के सूर्यमंदिर के अतिरिक्त सेरोन, बानपुर, बजरंगगढ़, खजुराहो के मंदिरों में इन्हें मुख्य स्थान दिया गया है। एक शिला-खण्ड में चतुर्भुजी-ब्रह्मा की त्रिभंग मुद्रा में एक अत्यन्त सुन्दर प्रतिमा प्राप्त हुई है, जो किरीट धारण किये हुए है। वह कानों में रत्न कुण्डल, माला एवम् यज्ञोपवीत धारण किये हैं। बाएं निचले हाथ में ग्रन्थ, दाहिने निचले हाथ में अक्षमाला लिये हुए हैं। ऊपर का दाहिना हाथ वरद मुद्रा में है। बाएं ऊपरी हाथ में सनाल-कमल धारण किये हैं। इसके पादपीठ में उनके वाहन को प्रदर्शित किया गया है। पार्श्व में एक नाग कन्या अंजली मुद्रा में उपासना में रत है। यह प्रतिमा पांचमुखी नागफणों से आच्छादित है। उसके ऊपर दो-दो चांवरधारियां सेवा में लीन हैं। ऊपर दोनों ओर एक एक गंधर्व दुंदुभी बजा रहे हैं। इसके अतिरिक्त बहुत से

---

१. मा०प०क०, पृ० १६८-६९.
२. वही, पृ० १२०.

ऐसे वास्तु शिल्प खण्ड भी यहां प्राप्त हुए हैं, जिनमें स्वतंत्र रूप से ब्रह्मा, विष्णु और शिव की सुन्दर अलंकृत प्रतिमाएं उत्कीर्ण की गयी हैं।[१]

सूर्य

सूर्य के प्रति यह श्रद्धा मूर्ति पूजा के रूप में विकसित हुई। कहीं तो सूर्य मंदिरों में सहायक देवता के रूप में आसीन हुए, तो कहीं सूर्य देवता के स्वतंत्र मंदिर ही निर्मित किये गये।

मन्दिर निर्माण के परोक्ष संदर्भ :

राजपूत और परमारकालीन मालवा में सौर सम्प्रदाय से संबंधित सूर्य की प्रतिमाएं निम्न रूप में उपलब्ध होती हैं :—

(१) नवग्रह पेनल में सूर्य प्रतिमाएं,

(२) सूर्य की स्वतन्त्र प्रतिमाएं,

(३) सूर्याओं की प्रतिमाएं,

(४) सूर्य पुत्र रेवंत की प्रतिमाएं एवं

(५) अष्टदिक्पाल सहित प्रतिमाएं।

नवग्रह पेनल सहित सूर्य की प्रतिमाएं मालवा में दसियों स्थानों पर प्राप्त हुई। परमारकालीन मन्दिरों का तो यह एक मांगलिक एवं अपरिहार्य अंग रहा है। सहज रूप से सूर्य की प्रतिमा उनमें प्राप्त होती हैं। कहीं कहीं अष्ट दिग्पालों के साथ भी सूर्य प्रतिमा उत्कीर्ण हुई है।

स्वतंत्र सूर्य प्रतिमाएं मालवा में कई स्थानों पर प्राप्त होती हैं। ऐसी प्रतिमाओं में सूर्य उदीच्यवेष में प्राप्त होते हैं। हाथों में कमल, ऊर्ध्ववंध, अरुण, पादावरण और ऊपर अष्ट दिग्पाल, नीचे बायीं ओर दण्डक और दाहिनी ओर पिंगल नाम का अनुचर। सूर्य की ऐसी प्रतिमाएं सीका, देपालपुर, बदनावर, गंधावल, कायथा, उज्जैन, झार्डा, मकला, धरमपुरी, धुन्धेरी, मोड़ी, कागपुर, विदिशा, बड़ोह, खिलचीपुर, ओंकारेश्वर, आदि स्थानों से प्राप्त हुई हैं।

सूर्य की राज्ञी, निक्षुभा, छाया, सुवर्चला नाम की रानियों में से कोई न कोई कहीं न कहीं उत्कीर्ण हुई है। उज्जैन, हिंगलाजगढ़, कागपुर, आशापुरी आदि स्थानों से सूर्याओं की प्रतिमाएं मिली हैं जिनके दोनों हाथों में कमल हैं। कुछ प्रतिमाएं द्वादश आदित्य, सूर्य-पत्नियां, सूर्य के सात या दो अश्व, दण्डक एवम् पिंगल दास एवम् चामरग्रहणियों की भी उत्कीर्ण की गयी हैं।

---

१. प०आ०मा०, पृ०१ ०३-०४.

रेवन्त की प्रतिमाए : सूर्य के चार पुत्र माने गये हैं जिनके नाम रेवन्त, यम, मनु और द्विनय हैं। मालवा में भानपुरा और सीका में रेवन्त की ११वीं शताब्दी की प्रतिमाएं मिली हैं। रेवन्त घोड़े पर आरुढ़ है, बायें हाथ में लगाम और दाहिने हाथ में चषक और सूर्य की भांति पैरों में जूते हैं। दो पुरुष घोड़े की बाग थामे आगे आगे और एक स्त्री सेविका छत्र उठाये पीछे है। सबसे पीछे एक कुत्ता दिखाई देता है।[१] सूर्य उपासकों को परमार नृपतियों का संरक्षण निश्चित ही मिला होगा। भोज के एक राजकवि चित्तप ने सूर्य स्तुति में एक खण्डकाव्य लिया था।[२] महाकुमार हरिश्चन्द्र ने भैल्लस्वामी के मन्दिर में भूमिदान किया था[३] जगत्देव परमार के जयनाद अभिलेख में भी सूर्य की स्तुति की गई।[४] जयसिंह के राज्यकाल में साधुमती नामक एक महिला ने विदिशा के सूर्य मन्दिर में दान दिया था।[५] ये सारे सन्दर्भ परमारकाल में सूर्योपासना तथा सूर्य मंदिरों के निर्माण का संकेत देते हैं।

सूर्य प्रतिमाएं अधिकांश परमारकालीन मन्दिरों में सहयोगी देवता के रूप में भी उपलब्ध हुई हैं।

प्रत्यक्ष प्रमाण :

भैल्लस्वामी का सूर्य मन्दिर १३वीं शताब्दी तक अस्तित्व बनाये रख सका क्योंकि विभिन्न अभिलेखों से इसके लिए या इस मन्दिर से विभिन्न दान दिये जाने के संदर्भ प्राप्त होते हैं।[६] वीजामण्डल मस्जिद के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि यहां अन्य मन्दिरों के साथ-साथ एक सूर्य मंदिर भी था।[७] संभव है यही मंदिर भैल्लस्वामी का हो। इससे पूर्व में उल्लिखित धारणा को बल ही मिलता है कि वीजामण्डल क्षेत्र सर्वतोभद्र प्रासाद का प्रतिनिधित्व करता था और संभवत: अपने परिसर में भैल्लस्वामी के विशाल मन्दिर को भो आत्मसात् किये हुए था।

ओखलेश्वर में सूर्य और रेवंत की विशाल प्रतिमाएं मिली हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि परमारकाल में कोई सूर्य मंदिर वहां रहा होगा। कालियादेह से एक सूर्यमन्दिर के द्वार की प्राप्ति से भी यही निष्कर्ष निकलता है।[८]

शाजापुर के पास सखेड़ी ग्राम से एक छोटें से सूर्य मन्दिर के अवशेष मिले हैं।[९] ग्यारसपुर का वज्रमठ त्रिदेव को समर्पित था किन्तु मध्य गर्भगृह के प्रवेश द्वार पर सूर्य की एक दर्शनीय प्रतिमा उत्कीर्ण है।[१०] नवग्रह

---

१. मा०ग्रू०ए०, पृ० ४१७.
२. मा०प०क०,पृ०१९२-९३.
३. इ०इं, २४, पृ० २२५.
४. वही, २२, पृ० ५९-६०.
५. वही, ३५, पृ० १८७.
६. मा० ग्रू० ए०, पृ० १४१.
७. आ० प० मा०, पृ० ६१.
८. अग्रवाल समाज सिंहस्थ स्मारिका, १९८०. (उज्जयिनी शीर्षक लेख का द्वितीय पृष्ठ)
९. मा० प० क०, पृ० १३२-३३.
१०. क० हे० म० भा०, पृ० १०६.

के स्वतंत्र मन्दिर उज्जैन, नेमावर और भानपुरा में मिले हैं। सहज है अन्य ग्रहों के साथ साथ यहां सूर्य पूजा भी होती रही होगी।[1]

सूर्य का एक अत्यन्त उल्लेखनीय परमारकालीन मन्दिर झालरापाटन में है। यह मन्दिर तारकाकृत और सप्तरथ है। इसका शिखर सप्तभूमि में है। उसकी शृंग योजना कुछ दुरूह सी है। मन्दिर के द्वार मण्डप पर एक आकर्षक तोरण हैं। मन्दिर के गर्भगृह की जंघा पर द्वितरीय प्रतिमा परम्परा है। झालरापाटन के अन्य मंदिरों की भांति ही यह मन्दिर भी परमारकला का एक उत्कृष्ट उदाहरण है।[2]

अन्य :

इन प्रमुख देवताओं के अतिरिक्त मालवा में परमारकाल में गणपति, कार्तिकेय, हनुमान, यक्ष-यक्षी आदि व्यंतर तथा कई स्थानीय देवताओं के उपासना के संकेत मिलते हैं। इसके अतिरिक्त किन्नर, विद्याधर, अप्सरा, नाग-नागी आदि देवी-देवताओं की भी उपासना होती थी। संभव है इनमें से कुछ देवताओं के स्वतंत्र मंदिर भी विद्यमान रहे होंगे। देवपालदेव के हरसूद-अभिलेख (१२७५ ई०) में स्थनीय देवता लिम्व देव के मंदिर निर्माण का उल्लेख है जिसके पास ही हनुमंत, गणेश, कृष्ण, नकुलीश, अंबिका केशव के मन्दिर भी बनाये गये थे।[3] महेश्वरी, मार्कण्डेय, लोलिगस्वामी व क्षेत्रपाल आदि स्थानीय देवताओं के मंदिर भी थे।[4] इनके अतिरिक्त मालवा में कई ऐसे स्थल भी हैं जो निर्विवाद रूप से यह तय करते हैं कि मालवा में उल्लेखनीय मंदिर विद्यमान रहे होंगे किन्तु वर्तमान में वहां के अवशेष के आधार पर यह सिद्ध करना बहुत कठिन है कि वहां के मंदिर किस देवी-देवता से संबंधित रहे होंगे। मन्दसौर जिले में खोर में एक आकर्षक नवतोरण है। यह नौ मेहरावों वाला तोरण द्वार है। मंदिर का गर्भगृह और मण्डप भी जीर्ण-शीर्ण रूप में विद्यमान है और परमारकालीन वैभव को प्रकट करता है।[5] चन्दवासा में भी तोरणद्वार मिले हैं किन्तु इसके आधार पर मुख्य देवता की कल्पना कठिन है। ग्यारसपुर, बड़ोह पठारी तथा उदयपुर के चौखम्भे या आठ खम्भे से संबंधित स्थापत्य की कल्पना करते समय हमें तर्कों का अधिक सहारा लेना पड़ा है।[6]

परमारकालीन मंदिर वास्तु का उक्त अध्ययन प्रथमतः धार्मिक क्रम से एवम् द्वितीय जिलों के क्रम से यथासंभव करने का प्रयास किया गया है। ऐसा करने से सामान्य रूप से परमारकालीन मंदिर वास्तु का सहज विकास कुछ उपेक्षित रह जाता है। वस्तुत : इस अध्ययन का कुछ शिल्पगत विवेचन अध्याय के प्रारंभ में देने का प्रयास किया गया है।

---

१. मा० प० क०, पृ० १३३.
२. कृष्णदेव : टेम्पल्स आफ नार्थ इण्डिया, पृ० ६९.
३. इंडियन ऐंटिक्वेरी, २०, पृ० ३१२.
४. जर्नल आफ एशियाटिक सोसायटी आफ बेंगाल, १९१४, पृ० १४३.
५. क० हे० म० भा०, पृ० १२३-२४.
६. अध्याय ६ व ७ के उक्त विवरण हेतु दलाल मनोहरलाल : मा० क० स्था० से भरपूर मदद ली गयी है।

अध्याय में वर्णित समस्त विवेचन को आत्मसात् करने के उपरान्त परमारकालीन मंदिर वास्तु की विकास का एक सामान्य-क्रम जो मनस में उभरता है, उससे निष्कर्ष निकलता है कि परमारकालीन साहित्य में वर्णित मंदिरों से वास्तव में हुई निर्मितियां कुछ भिन्न ही हैं। समरांगण सूत्रधार में भूमिज, मंदिरों के प्रकार इस प्रकार दिये गये हैं :— (१) निषेध : वर्गाकार योजना पर, मलयाद्रि, माल्यवान, नवमालिका, (२) वृक्षजाति : कुमुद, कमल, कमलोद्भव, किरण, शतशृंग, निर्बाध, सर्वांगसुन्दर, (३) अष्टशाल : स्वस्तिक, यज्ञ स्वस्तिक, हर्म्यतल, उदयाचल, गंधमादन।[1] किन्तु पुरातत्वीय अध्ययन करने पर इनमें से बहुत कम की ही संगीति हम इस काल की निर्मितियों से बिठा पाते हैं। यही स्थिति अपराजित-पृच्छा के द्वारा प्रदत्त विवरण के साथ भी है।

सच तो यह है कि १०वीं शताब्दी के प्रारंभ तक जो परमारकालीन मंदिर वास्तु विकसित हुआ, वह प्रतिहार-राष्ट्रकूट-मौर्यकाल के दक्षिणी नागर शैली के स्थापत्य से बहुत कुछ प्रभावित होकर चला। अत: जब हम भोजपुर के एक मंदिर का गर्भगृह वर्गाकार देखते हैं तो परमारों द्वारा उनके पूर्वकाल की शैली का अनुकरण किया पाते हैं। ऐसा सहज है—क्योंकि १०वीं शताब्दी में जब उत्तरपश्चिमी मालवा नागर शैली के मंदिरों के निर्माण की साक्षी दे रहा था, वहीं समकालीन दक्षिण मालवा व निमाड़ में परमारों के आधीन भूमिज शैली नामक एक नयी शैली का विकास हो रहा था। इस शैली को परमार शैली कहना भूल ही होगी क्योंकि यह शैली राजस्थान, गुजरात, आन्ध्र और छत्तीसगढ़ तक व्याप्त थी। परमार राजाओं के अतिरिक्त इस शैली के के निर्माण में स्थानीय आम जनता, जिनमें कायस्थ, तेली, ब्राह्मण एवम् शैव साधू भी सम्मिलित थे, का भी भरपूर हाथ रहा था।[2] आंचलिक जन-भावना एवम् राज्याश्रय ने धीरे धीरे नागर शैली से पलायन करते हुए भूमिज शैली को अंगीकार करना प्रारंभ कर दिया था। किन्तु नागर शैली सहसा हटाई नहीं जा सकी और यही कारण है कि हम जामली के शिव मन्दिर के गर्भगृह को वर्गाकार योजना में पाते हैं। यह इस बात को प्रमाणित करता है कि १२वीं शताब्दी में जब भूमिज शैली अपने परिपूर्ण यौवन पर थी, तब भी नगर शैली भूमिज शैली में घुसपेठ कर रही थी।

नेमागर का सिद्धेश्वर मंदिर इस काल का एक निर्णायक मोड़ है। इस अध्याय में यह धारणा व्यक्त की गई है कि यह मन्दिर १०वीं शताब्दी का है। इस मंदिर की शैलीगत अपरिपक्वता एवम् मंदिर स्कंध के भारीपन के कारण विद्वानों ने १२वीं शताब्दी का मान लिया है, किन्तु इन्हीं तर्कों के आधार पर इसे ढलते हुए परमारकाल का न मान कर प्रारंभिक परमारकाल का भी माना जा सकता है।

भूमिज शैली का प्रारंभिक विकास ओंकार मांधाता के १०वीं शताब्दी के अमरेश्वर अथवा ममलेश्वर के मन्दिर में देखा जा सकता है। यदि नेमावर के मन्दिर को दृष्टि से ओझल कर दिया जाय तो यह मंदिर भूमिज शैली के मंदिरों में मालवा में सबसे पूर्ववर्ती माना जा सकता है जैसा कि उसके मंडोवर, वेदीबन्ध, चैत्य मेहराब, मणिबन्ध और बन्दनमालिका से स्पष्ट है। यह हुई प्रारंभिक भूमिज मंदिरों के उद्भव और विकास की एक संक्षिप्त गाथा।

परमारकाल में भूमिज शैली का मालवा में अभूतपूर्व विकास हुआ। सप्तरथ योजना में सप्तभूम्यात्मक

---

१. स०सू०, पृ० ६५.
२. भा० प० मा०, पृ० २६-३०.

या पंचभूम्यात्मक स्वस्तिकार तारकाकृत मंदिर प्रभूत मात्रा में बनाये गये। इन मंदिरों के परिपक्व एवम् प्रतिनिधि प्रमाण उदयपुर तथा ऊन के मंदिरों में देखे जा सकते हैं। इसी प्रकार विदिशा के विजया एवं मांधाता के सिद्धेश्वर सर्वतोभद्र विशाल मन्दिरों को इस काल की उल्लेखनीय निर्मितियों के रूप में देखा जा सकता है। किन्तु मालवा का युगीन शिल्पकार इस समय भी पूर्व परम्परा के प्रति न केवल मोह प्रदर्शित कर रहा था, अपितु समकालीन भारत में विद्यमान अन्य मंदिर शैलियों के साथ भूमिज शैली का समन्वय भी कर रहा था। प्रथम धारणा का प्रमाण मकला का महाकालेश्वर मंदिर है, तो द्वितीय का प्रमाण कुकड़ेश्वर एवम् निकटवर्ती स्थानों के कुछ मंदिर हैं, जो एक ओर चालुक्य तो दूसरी ओर उड़ीसा शैली को भूमिज शैली से मिलाते हुए किसी नयी शैली के विकास के प्रति समुत्सुक थे।

किन्तु भूमिज शैली का स्थान लेने वाली किसी शैली को पनपने का मौका नहीं मिला। मालवे से प्राचीनकाल और परमारों का समय १३वीं शताब्दी के साथ ही विदा होने को बाध्य होने लगा। अतः उसी के साथ मंदिर निर्माण परम्परा भी अस्त होने की दिशा में बढ़ चली। ढलती हुई भूमिज शैली हमारे सामने कुछ उदाहरण छोड़ जाती है। पहला उदाहरण है, नीमच के पास वरोखेड़ा का शिव मंदिर जिसे मंदिर जिसे हमने हमारे अध्ययन में सम्मिलित नहीं किया है। यह मिश्रित जाति की संरचना थी। इसका शिखर नागर शैली का कूट स्तम्भों से युक्त था। इस आधार पर इसे राणकपुर के १५वीं शताब्दी के मंदिर का समकालीन माना जा सकता है।[1]

एक दूसरा मंदिर झाबुआ जिले में अलीराजपुर में स्थित है जिसे स्थनीय लोग मालवई का मंदिर कहते हैं। यह १५वीं शताब्दी का है। यह तारकाकृत मंदिर सप्तभूमि शिखर युक्त है किन्तु शिखर पर पारम्परिक कूट-स्तम्भ न होकर अर्जुन-फलक है। शूरसेनकों में भी प्रतिमाओं के स्थान पर अलंकरण है।[2]

अन्ततः एक और भी मंदिर का उल्लेख अन्यथा न होगा। गढ़ खंलई में माही किनारे बिखरे मंदिर अवशेष मालवा में परमारकालीन मंदिर वास्तु का सबसे अधिक का पुष्ट किन्तु परवर्ती प्रमाण है।*

परमार काल मंदिर निर्माण की दृष्टि से मालवा का स्वर्णयुग रहा। मालवा की उस काल की कोई जीवित या लुप्त वस्तीं ऐसी नहीं है, जहां परमार कालीन मंदिरों ने अपने प्रत्यक्ष या परोक्ष अवशेष नहीं छोड़े हों। भारत के कई अन्य स्थालों की भांति ही मालवा में मंदिरों के निर्माण की एक अक्षुण्ण एवम् सहज भूख रही है।

१३वीं शताब्दी के अन्त तक परमार शक्ति अपना अस्तित्व खो बैठी और उसी के साथ ही मालवा से इतिहास का प्राचीन काल विदा हो गया। १३वीं और १४वीं शताब्दी के मालवा ने विधर्मियों के आक्रमण के दुस्सह भोग भोगे। चारों ओर लूट, विध्वंस, बलात्कार, हिंसा एवम् भौतिक आपाधापी के दृश्य दिखाई दिये। नगर व गांव उजाड़ दिये गये। सम्पन्न मालवा दो शताब्दियों में ही अकिंचन और वैभवहीन हो गया। प्रासाद

---

१. आ० प० मा० पृ० (iii).

२. वही.

*. इस मंदिर का उल्लेख इस अध्याय में प्रासंगिक रूप से किया गया है। वरोखेड़ा एवम् अलीराजपुर के मंदिर १५वीं शताब्दी के होने से हमारे अध्ययन की सीमा में ही आ पाये हैं।

और मंदिर ध्वस्त किये गये, मूर्तियां भग्न की गई एवं उनसे जुड़ी सम्पदा का तिनका बीन लिया गया। यह लोक-आस्था, लोक श्रद्धा तथा लोक-त्याग-तपस्या ही थी जिसने इसके बाद की शताब्दियों में भी इन सारी परिस्थितियों के होते हुए भी मंदिर निर्माण की न केवल परम्परा जारी रखी अपितु ध्वस्त मंदिरों का पुनर्निर्माण करते हुए अपनी धार्मिक चेतना को जारी रखा।

अतएव परमारकालीन प्राचीन मालवा के मंदिर वास्तुकला का यह अध्ययन वस्तुतः उसी लोक-चेतना को समर्पित है, जिसके कारण हम सीमित और आंशिक रूप से हीं सही, उस महान वास्तु-वैभव को कहीं तर्क-पूर्ण रूप से पकड़ पाने में सफल हुए हैं।

मालवा की मन्दिर-वास्तु-कला की भारतीय स्थापत्य को देन ८

प्रवन्ध के उपसंहार के रूप में मालवा की मन्दिर वास्तुकला की भारतीय वास्तुकला को प्रदत्त देन की चर्चा करना एक श्रेयपूर्ण एवम् सुखद कर्तव्य है। इस देन ने भारत के सांस्कृतिक एवम् कलात्मक वातावरण को सौन्दर्य-सुरभि से युक्त किया है। उत्तर और दक्षिण भारत के मध्य युक्तियुक्त सामंजस्य एवम् स्वयं अपनी ओर से अनेक मौलिक प्रयोगों द्वारा मालव-अंचल ने अपनी सतत, प्रबुद्ध एवम् कर्मठ कला-साधना का जो गरिमा-मय किन्तु नीरव अध्यम्य लिखा है, उसका बहुत कुछ मूल्यांकन अभी शेष है। प्रस्तुत प्रबन्ध उस नीरवता को शब्द-मात्र देने का एक अकिंचन प्रयास भर है।

मन्दिर स्थापत्य की महती परम्परा

प्रागैतिहासिक शैल-चित्रों एवम् ताम्राश्मयुगीन पुरा-सामग्रियों से यह निष्कर्ष निकालना सहज हुआ है कि ईसा से सहस्त्राब्दियों पूर्व मालवा अंचल के विभिन्न जन-समूह किसी न किसी प्रकार की उपासना पद्धति एवम् पूजा-विधान में विश्वास करते रहे। उनके देवी-देवताओं को दुर्गा, रुद्र, इन्द्र आदि का पूर्व रूप माना जा सकता है।[१]

आर्यों के आगमन के कारण आर्य-अनार्य समूहों में जो सांस्कृतिक आदान-प्रदान हुए, उनके परिणाम स्वरूप मालव-निवासी वैदिक देवी-देवताओं की ओर आकर्षित हुए। ये नवीन देवी-देवता स्थानीय जन के कुटीरनुमा आवास-गृहों में प्रतिमाओं के रूप में स्थापन पाते रहे। पूर्व-प्रचलित पूजा-पद्धति का बहुत-कुछ फिर भी विद्यमान रहा। लोक एवं व्यंतर देवताओं के रूप में पुराने आराध्यों की उपासना चबूतरों, वृक्षों एवम् जल-स्रोतों के पास या उनके माध्यम से होती रही। परिवर्तित रूप में आज भी यह क्रम जारी है। भारत के आर्य-अनार्य सम्पर्क के इतिहास में यह तत्व रेखांकन योग्य है।[२]

आर्य-अनार्य शैलियों का सम्मिश्रण

अधुनातन अध्ययन इस बात की साक्ष देते हैं कि आर्यों की वास्तु-शैली वर्गाकार एवम् अनार्यों की बहुकोणीय एवम् गोलाकार थी। आर्यों के आवास या हर्म्य काष्ट एवम् मृत्तिका निर्मित होते थे जबकि अनार्य

---

१. अध्याय २.

२. उक्त

जन ईंटों व प्रस्तरों को आवश्यक निर्माण सामग्री मानते थे। मालवा में जब हम कहीं-कहीं वर्गाकार अधिष्ठान पर गोलाकार स्तूपांड तथा अण्डाकार स्तूप पर चौकोर हर्मिका देखते हैं तो हमें एक सामाजिक सस्कृति के दर्शन मिलते हैं।

हम देखते हैं कि आर्य शैली क्रमशः विश्वकर्मा एवम् अनार्य शैली मय शैली के रूप में विकसित होती चली गयी। सामासिकता का प्रभाव इतना अधिक था कि कुछ शताब्दियों तक दोनों लगभग अभेद की स्थिति में ही रहीं। ईसा के निकट शताब्दियों में दोनों में विभाजक रेखा दिखाई देने लगी। दक्षिण भारत में मय शैली स्थानीय वास्तु से प्रभावित होकर द्राविड़ शैली को अपने गर्भ में धारण करने लगी। यही रिश्ता उत्तर भारत में विश्वकर्मा शैली ने नागर शैली से कायम किया।[1]

प्रद्योत-मौर्य काल मालवा के मन्दिर-वास्तु का सामासिक काल था। शुंग-सातवाहन काल सर्वथा नये प्रयोगों के मध्य विश्वकर्मा शैली का विकास था जबकि हम वैदिक ग्रामों के काष्ट प्रवेशद्वारों को प्रस्तर-तोरणों के रूप में देखते हैं। यह प्रस्तर-आग्रह अनार्य शैली की देन थी। इस शैली के प्रारंभिक मन्दिर विदिशा में ई० पू० दूसरी शताब्दी में विकसित होने लगे थे। विदिशा में निर्माण-अभियान मन्दिरों, स्तम्भों, स्तंभ-शीर्षों आदि के रूप में जारी रहा। नाग काल में उदयगिरि की प्रारंभिक गुहाएं बनीं। इन गुहाओं की अभिनव निर्माण शैली में भावी नागर शैली के बीज छिपे थे। इन्हीं को आधार मानकर गुप्तों ने प्रारंभिक शिखर-विहीन मन्दिर बनवाये यद्यपि मन्दिरों पर शिखर ईसा पूर्व भी विद्यमान थे, यह प्रमाणित होता है। उत्तर गुप्तकाल में शिखर पुनः मन्दिर रथों पर जा बैठे और नागर शैली अपनी परिपूर्णता के साथ अभिव्यक्त होने लगी।[2]

इन सारी स्थितियों के पुष्ट पुरातत्वीय प्रमाण हमें पूर्वी मालवा के विदिशा क्षेत्र से प्राप्त होते हैं। पुराविदों को अपनी कई पुरानी मान्यताएं इन सन्दर्भों के प्रकाश में बदलनी होगी। इस प्रकार भारतीय स्थापत्य के इतिहास के पुनर्लेखन में पूर्वी मालवा का सम्यक् अध्ययन एक युगान्तर उपस्थित कर सकता है।

बौद्ध निर्माणों की परम्परा

मालवा की प्रारंभिक मन्दिर-वास्तु में बौद्ध निर्माणों का विशिष्ट योगदान रहा है। उज्जैन के निकट कानीपुरा ग्राम की वैश्या टेकरी का स्तूप प्राङ्मौर्यकालीन रहा है। इस दृष्टि से वह पीपरइवा एवम् लोरिया नन्दनगढ़ के पुरातनतम बौद्ध स्तूपों के निकट बैठता है। वैश्या टेकरी के स्तूप की एक और भी विशेषता रही है। उसके आसपास वेदिकाएं न होकर परिखा थी। सारे भारत में इस प्रकार का यह अकेला स्तूप था। इस प्रकार स्तूप के इतिहास में वैश्या टेकरी का स्तूप एक अद्वितीय कृति के रूप में याद किया जाना चाहिए।[3]

सांची का सौभाग्य है कि वहां के पर्वतीय परिसर के महास्तूप व कुछ अन्य स्तूप तोरण सहित सुरक्षित बच गये हैं। इन्हें भारत ही नहीं, विश्व में अपार ख्याति मिली है। सांची के तोरण द्वारों के द्वि-आयामी प्रस्तर अर्ध-फलक तो बौद्ध-कला से लेकर शुंग काल तक की बौद्ध सांस्कृतिक आस्था एवम् लोक-

---

१. अध्याय २.
२. अध्याय २ एवम् ३.
३. अध्याय ४.

जीवन के विश्व-कोष कहे जा सकते हैं। संस्कृति एवम् कला की दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण ये निर्माण भारतीय इतिहास की अमूल्य निधि हैं।[1]

कसरावद के निर्माण अतीत की गर्त में चले गये हैं। यह कहानी मालवा के ऐसे कई स्थानों की रही होगी। यह दुर्भाग्य ही कहा जायगा कि सांची की चकाचौंध के कारण सोनारी, सतधारा, भोजपुर, अंधेर एवम् ग्यारसपुर के स्तूप भारत के पुरातत्वीय मानचित्र में अंकित न हो पाये।

मालवा की बौद्ध गुफाओं के रूप में बाघ की गुप्तकालीन गुफाओं को अजन्ता और एलोरा के बाद सारे भारत में स्मरण किया जाता है। बाघ के विशेष आकर्षण के कारण पश्चिमोत्तर मालवा में स्थित धमनार, खेजड़िया भोप, खोलवी, पोला डोंगर एवम् विनायका की गुफाओं को अधिक प्रसिद्ध न मिल पायी। कच्चे पत्थर क कारण हुए विध्वंस एवम् सादगी के कारण उनके इस दुर्भाग्य में वृद्धि ही हुई है। भारत की बौद्ध गुफाओं का इतिहास लिखते समय इस तथ्य को अभी तक प्रकट नहीं किया गया है कि जहां सारे भारत में बौद्ध गुफा-निर्माण का सिलसिला वन्द हो गया था, पश्चिमोत्तर मालवा १०वीं शताब्दी तक बौद्ध गुहा, विहार व चैत्य बनाता रहा।[2]

मालवा की मन्दिर परम्परा

मालवा की मन्दिर परम्परा के सबसे प्रारंभिक दर्शन हमें विदिशा के दीर्घवृत्ताकार मन्दिर के रूप में होते हैं। इस मन्दिर को भारत के प्राचीनतम मन्दिरों जरासंघ की बैठक, नगरी और श्रावस्ती के दीर्घवृत्ताकार मन्दिरों एवम् वैराट के वर्गाकार मन्दिर की पंक्ति में रखा जा सकता है। क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि भारतीय मन्दिरों के आद्य आंचलिक निर्माताओं में मालवा क्षेत्र भी अपनी अग्रगण्यता रखता है?[3]

विदिशा इसके तुरन्त बाद ही ई० पू० दूसरी शताब्दी के एकाधिक विष्णु मन्दिरों के अवशेष लेकर उपस्थित होता है। भारतीय मन्दिरों के इतिहास में ये उपलब्धियां सामान्य नहीं हैं। ये मन्दिर न केवल कला व धर्म के केन्द्र रहे अपितु सांस्कृतिक दृष्टि से परदेशियों को स्वच्छ सांस्कृतिक सन्देश देते रहे। हेलियोडोर का स्तभ-लेख इसका प्रमाण है।[4]

शुंगों के उपरान्त नाग-कुषाण प्रभाव में पूर्वी मालवा में, विशेषतः विदिशा-बेसनगर में, भरपूर ब्राह्मण निर्माण हुए जो इस क्षेत्र की बौद्ध निर्मितियों से कारगर किन्तु सहिष्णु स्पर्धा कर रहे थे। इस क्षेत्र से उपलब्ध यक्ष-यक्षियों की प्रतिमाओं, स्तंभ-शीर्षों एवम् अन्य अवशेषों ने सारे विश्व के प्राच्य-पुराविदों का ध्यान आकर्षित किया है। इस प्रकार भारतीय कला के इतिहास के ये अवशेष अपरिहार्य सोपान हैं।[5]

---

१. अध्याय ४.
२. अध्याय ५ व ६.
३. अध्याय ४.
४. उक्त.
५. उक्त.

मन्दिर निर्माण की दूसरी किन्तु मौलिक लहर का श्रीगणेश उदयगिरि से होता है, जहां नागों ने सबसे पूर्व कतिपय ब्राह्मण गुफाएं निर्मित कीं। सादे स्तंभों एवम् सपाट छत वाली इन गुहाओं की परम्परा को गुप्तों ने आगे बढ़ाया। परिणाम स्वरूप कई उल्लेखनीय गुफाएं देवी-देवताओं व अवतारों की प्रतिमाओं, शिवलिंगों एवम् सज्जित स्तंभों से युक्त निर्मित की गयीं। भारत में अपने ढंग की ये प्रथम एवम् अन्तिम ब्राह्मण निर्मितियां हैं।[1]

इस गुहा-निर्माण को समान-धर्मा किन्तु शैली-भिन्न चुनौती पश्चिमी मालवा से मिली जहाँ धमनार में एलोरा के कैलाश मन्दिर की भांति एक विशाल एकाश्म वैष्णव मन्दिर का निर्माण पर्वत काटकर किया गया। ७ वीं व ८वीं शताब्दी में निर्मित यह मन्दिर भी सारे भारत में अकेला एकाश्मीय वैष्णव मन्दिर है। जो स्थान शैव निर्माणों में कैलाश मन्दिर, एलोरा या एलिकेण्टा को प्राप्त है, वही स्थान वैष्णव निर्माण में धमनार के इस मन्दिर को प्राप्त है।[2]

उदयगिरि की इन गुफाओं का निर्माण कर गुप्त राजा एवम् उनके प्रजाजन उसी शैली के सपाट छत के शिखर विहीन मन्दिर बनाने में जुट गये। नागोद, भूमरा व नचना-कुठार के मन्दिरों से यह तथ्य स्पष्टी होता है। किन्तु गुप्तों की समकालीन पश्चिमी मालवा की औलिकर शक्ति शिखर युक्त मन्दिर बनवा रही थी। उनके अभिलेखों से यह स्पष्ट होता है।

गुप्त मन्दिर अधिक समय तक शिखर विहीन नहीं रहे। देवगढ़, नचना कुठार व सिरपुर के ब्राह्मण मन्दिरों एवम् सांची के बौद्ध-मन्दिर से यह तथ्य उजागर होता है।[3]

जैन जन भी पीछे नहीं रहे। उदयगिरि में गुफा-निर्माण में वे सहभागी बने। उसके बाद वे भी पूरी क्षमता से मन्दिर निर्माण की प्रचलित शैलियों के आधार पर मालवा क्षेत्र में सारे प्राचीन काल में तीर्थंकरों के मन्दिरों का निर्माण करवाते रहे। बड़ोह-पठारी, ग्यारसपुर, भोजपुर, ऊन, संधारा, कंवला, कैथुल आदि में विशेषत: इन निर्माणों को देखा जा सकता है।

नागर से भूमिज शैली तक

नागर शैली के प्रारंभिक अध्याय के अनेक अंश लिखने का श्रेय मालवा को ही है। ६ठीं शताब्दी में नागर और द्राविड़ शैलियां कठोर स्थापत्य-विभेद लेकर क्रमशः उत्तर एवम् दक्षिण भारत में अपना व्यापक प्रसार देख रही थीं। मालवा क्षेत्र गुप्तोत्तर काल में नागर शैली का उत्साही अनुसरणकर्ता बना रहा। प्रतिहारों राष्ट्रकूटों, मौर्यों एवम् नागों की उदार एवम् सांस्कृतिक छत्रछाया में दक्षिणी नागर शैली का परिपक्व विकास हुआ। यदि आज बड़ोह का गाडरमल, ग्यारसपुर का मालादेवी, विदिशा का भल्लस्वामी एवम् दशपुर का सूर्य मन्दिर अपनी परिपूर्णता के साथ विद्यमान रहते, तो संभवत: ओसिया, खजुराहो एवम् भुवनेश्वर के मन्दिरों का मान-मर्दन करते दिखाई देते।[4]

नागर एवम् द्राविड़ शैलियों के सम्पर्क एवम् विभिन्न आंचलिक एवम् भौगोलिक प्रभावों के कारण

---

१. अध्याय ५.
२. अध्याय ६.
३. अध्याय ५.
४. अध्याय ६.

जो अनेक क्षेत्रीय मन्दिर-निर्माण शैलियां सामने आयीं, उनमें भूमिज शैली का सम्बन्ध मालवा से अधिक रहा। साधारणतः इस शैली का गर्भगृह तारकाकृत; मन्दिर योजना त्रिरथ, पंचरथ या सप्तरथ योजना में एवम् शिखर तीन, पांच, सात या नौ भूम्यात्मक होते रहे। पर इसे मात्र परमारशैली मानना भूल होगी क्योंकि इसका प्रसार छत्तीसगढ़, राजस्थान, गुजरात, आंध्र एवम् महाराष्ट्र तक ऐसे क्षेत्रों में भी दिखाई देता है जो परमारों के सांस्कृतिक व राजनैतिक प्रभाव से मुक्त थे। किन्तु यह तय है कि इस शैली का उद्‌भव एवम् विकास मालवा में ही १०वीं शताब्दी में हुआ। इस शैली के प्रारंभिक दर्शन हमें नेमावर, ओंकार-मांधाता एवम् भोजपुर के मन्दिरों में भी होते हैं।[१]

परमार काल में सम्पूर्ण मालवा विष्णु, शिव, सूर्य, तीर्थंकर एवम् अन्य आराध्यों के भूमिज मन्दिरों की शिखर-पताकाओं से सुशोभित एवम् घंटा-ध्वनियों से निनादित हो रहा था। भूमिज शैली एवम् उसकी कृतियां भारतीय वास्तु-कला को मालवा की सबसे बड़ी देन है। नेमावर का सिद्धेश्वर, ओंकार-मांधाता के ममलेश्वर व सिद्धनाथ, विदिशा का बीजामण्डल, ऊन के महाकालेश्वर, ग्वालेश्वर व चौबारा एवम् सबसे ऊपर उदयपुर का नीलकण्ठेश्वर मन्दिर आज भी उसकी यश-पताका सारे भारत में फहरा रहे हैं।[२]

प्रयोगधर्मिता का मुक्त वातावरण

मालवा के वास्तु-शिल्पी ने न तो किसी एक वस्तु-शैली का अंधानुकरण ही किया है और न ही वह निर्माण-योजना की किसी एक विधा में रूढ़ ही हुआ। उसकी दृष्टि व्यापक, छीनयां पैनी, हथौड़ियां सर्जक, हाथ सतर्क, उद्देश्य धार्मिक एवम् सांस्कृतिक, हृदय भावुक व समर्पित तथा मानस प्रबुद्ध व खोजपूर्ण बना रहा। धुर ऐतिहासिक अतीत में उसने परिखायुक्त स्तूप दिया। मालवा क्षेत्र ने ही भस्मी पात्र का आग्रह छोड़ अपने बौद्ध परिसरों को स्मारक, प्रतीक एवम् मन्नत स्तूपों से भर दिया।

सुदामा, नागार्जुन, बराबर, उदयगिरि-खण्डगिरि से लगाकर अजन्ता, एलोरा, कार्ले कान्हेरी, बाघ आदि तक गुहा निर्माण की एक विशिष्ट वास्तु परम्परा भारत में विहारों, चैत्यों आदि के रूप में विद्यमान रही। इस परम्परा के अन्तिम दर्शन हमें महाराष्ट्र में एलोरा की परवर्ती जैन गुफाओं एवम् मालवा में विनायका की भद्दी बौद्ध गुफाओं में मिलते हैं। किन्तु मालवा ने इसी लम्बी वास्तु-परम्परा से द्रोह कर उदयगिरि (विदिशा) में ब्राह्मण गुफाओं का एक सर्वथा नवींन शैली में निर्माण किया। इसी शैली में उत्तर भारत की मन्दिर निर्माण की नागर शैली के कई बीज अंतर्हित रहे।

भुवनेश्वर के मन्दिर परिसर में भिन्न शैली में निर्मित होने वाले बेताल देऊल एवम् नागर शैली क्षेत्र में शैली-गत वैभिन्य रखने वाले तेली के मन्दिर की उत्तर भारत में अपवाद स्वरूप निर्मित होने वाले मन्दिरों के रूप में अखिल भारतीय स्तर पर चर्चा की जाती है; किन्तु मालवा के ऐसे प्रयोगशील निर्माणों की गाथा बहुत कुछ अनकही रही है। मानव एवम् प्रकृति द्वारा सम्मिलित रूप से निर्मित मालादेवी के मन्दिर सा अन्य मन्दिर भारत में अन्यत्र कहां है ? क्या ग्यारसपुर का हिण्डोला एक मौलिक एवम् उत्तेजक देन नहीं है ?

भूमिज शैली की अत्यधिक लोकप्रियता सघनता एवम् व्यापकता के मध्य भी मालवा ने अपनी

---

१. अध्याय ७.

२. उक्त.

प्रयोग-धर्मिता एवम् लचीलापन जारी रखा। भोजेश्वर व जामली के वर्गाकार गर्भगृह, गाडरमल मंदिर की आयताकार योजना, मकला के महाकालेश्वर मन्दिर की पंचरथ शैली, उड़ीसा शैली से प्रभावित कुकड़ेश्वर का मंदिर शिखर, ऊन के ग्वालेश्वर मन्दिर के शिखर पर चालुक्य प्रभाव, ऊन का ही गुम्वद युक्त वल्लालेश्वर का मन्दिर इसके प्रमाण हैं। भारत के कला-समीक्षक इन तथ्यों को उभार नही पाये हैं, चर्चा होती रहना अन्य बात है।

कला विधाओं का प्रामाणिक आधार

मालवा की मन्दिर स्थापत्य कला ने न केवल विभिन्न कला-विधाओं को आधार दिया, अपितु उन्हें समय सिद्ध-प्रामाणिकता भी प्रदान की। कतिपय उदाहरणों से यह अवधारणा प्रमाणित हो जावेगी।

चित्रकला : गुहाओं एवम् प्रासादों में भित्ति-चित्र वनाने की प्रथा अति प्राचीन है। मालवा में भी अजन्ता की भांति बाघ की गुहाओं में चित्र वनाये गये। भारतीय चित्रकला के विकास का अध्ययन इन चित्रों के अध्ययन के विना अधूरा रहेगा। सांची एवम् भरहुत के प्रस्तर अर्ध-फलकों से प्रेरणा लेकर गुप्त-वाकाटक काल में अजन्ता, एलोरा आदि स्थानों पर उसी ढव पर चित्र निर्मित किये गये। मन्दिरों में भी चित्र वनाये जाते रहे। यह दुर्भाग्य का विषय है कि इन मन्दिरों के ध्वंस के साथ ही चित्रों ने भी विदा ले ली है। कुछ धुंधले प्रमाण ही अब शेप रह गये हैं।

मूर्तिकला एवम् अलंकरणः भारत में स्थापत्य कला से मूर्तिकला का अविच्छिन्न संवंध रहा है। इसी के साथ विभिन्न उत्कीरणों, अलंकरणों, कंगूरों, ताकों, चैत्य-गवाक्षों, शुकनासाओं, कोणों, ग्रासपट्टिकाओं, हारों, कीर्ति-मुखों, शृंगों एवं ऊरुशृंगों, आमलकों एवम् ध्वज-दण्डों का भी मन्दिर-स्थापत्य से अविभाज्य समन्वय रहा है। मालवा के मन्दिरों ने इन सवके अत्यन्त ही दर्शनीय उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। सांची के तोरणों से लगाकर दशपुर, बाघ व उदयगिरि के गुप्तकालीन निर्माणों एवम् इन्दरगढ़-झालरापाटन आदि के प्रतिहार-राष्ट्रकूट-मौर्य मन्दिरों से लगाकर भोजपुर के प्रारंभिक परमारकालीम मन्दिरों तक ये उदाहरण मूर्त रूप से देखे जा सकते हैं। नेमावर, ग्यारसपुर, उदयपुर, ओंकार-मांधाता, उज्जैन, मन्दसौर, बड़ोह-पठारी, ऊन, गंधावल, संधारा आदि के दर्शनीय मन्दिर यह तथ्य भली प्रकार उजागर करते हैं। भारत के किन्हीं भी अन्य भागों के मन्दिरों से इनका शिल्पगत एवम् सौन्दर्यपरक सौष्ठव कम नहीं है। विदिशा की लचीली एवम् प्रयोगशील स्थापत्य व मूर्तिकला का अध्ययन एक प्रकार से प्राचीन भारत की इन कलाओं का ही अध्ययन है। ग्यारसपुर, बड़ोह, उदयपुर, ऊन, खोर आदि के अलंकरण विशेप उल्लेखनीय हैं। हिंगलाजगढ़, मोड़ी, आशापुरी एवम् वराहरखेड़ी की प्रतिमाएं भारत की श्रेष्ठतम प्रतिमाओं से भाव एवम् कला-वोध की दृष्टि से पीछे नहीं हैं। शमसगढ़, झार्डा, नावली, झर आदि की प्रतिमाएं भी इनका अनुसरण करती हैं।

विना स्थापत्य-कला के सम्यक् विकास के ये अखिल भारतीय प्रस्तुतियां सामने कैसे आतीं ?

स्तंभः मन्दिरों का सम्वन्ध स्वतंत्र स्तंभों एवम् अर्ध-स्तंभों से रहा है। साची के अशोक-निर्मित ओप एवम् अभिलेख युक्त स्तंभ, वेसनगर का हेलीयोडोर निर्मित स्तंभ एवम् पठारी का गरुड़ शीर्ष स्तंभों के रूप में अखिल भारतीय ख्याति मिली है। ग्यारसपुर, उदयपुर, मोड़ी, खोर आदि स्थानों पर प्राचीन निर्माणों के अवशेषों के रूप में खड़े स्तंभों ने भी पुराविदों एवं अध्येताओं का भरपूर ध्यान अपनी स्तंभ एवम् अलंकरण

योजना के कारण आकर्षित किया है। भोजपुर, संघारा, कंवला, कँथुली, बिलपांक, ओंकारेश्वर आदि के मन्दिर स्तंभों एवम् अर्ध-स्तंभों की विद्वानों एवम् शोधकर्ताओं ने पर्याप्त चर्चा की है।

मालवा के कई मन्दिरों को अखिल भारतीय स्तर प्रदान करने की दृष्टि से स्तंभों, पाद-पीठों, प्रतिमा-खचित जंघाओं एवम् शुकनासाओं का बड़ा हाथ रहा है।

अभिलेख : मालवा के मन्दिरों से अनेक ऐसे महत्वपूर्ण अभिलेख प्राप्त हुए हैं जिनसे मालवा ही नहीं, भारत के राजनैतिक, धार्मिक एवम् सांस्कृतिक इतिहास गढ़ने में भरपूर सहयोग मिला है।

सांची के अभिलेख मौर्यकाल से लेकर शुंग-सातवाहन काल की महत्वपूर्ण जानकारी देते हैं। मालवा में अशोक के कार्य एवम् मालवा में सातवाहनों के अल्प अधिकार की जानकारी इन अभिलेखों से मिलती है। इन्हीं से शुंगो की सहिष्णुता प्रकट होती है। हेलियोडोर का अभिलेख भारत के सांस्कृतिक इतिहास का एक कीमती दस्तावेज है। उदयगिरि के अभिलेख पूर्वी मालवा पर गुप्त-प्रभाव दर्शाते हैं तो विहार-कोटरा, गंगधार, मन्दसौर एवम् छोटी सादड़ी के अभिलेख एक पूरे के पूरे औलिकर वंश को बहुत कुछ प्रकाश में ले आये हैं।

पश्चिमोत्तर मालवा में राष्ट्रकूटों, मौर्यों एवम् नागों की गतिविधियों की जानकारी मन्दिर अभिलेखों से ही प्राप्त हुई है।

परमार काल पूर्व-मध्यकालीन भारत का सांस्कृतिक एवम् राजनैतिक दृष्टि से यशस्तिलक माना जा सकता है। परमार-कालीन मन्दिर अभिलेखों ने इस दृष्टि को अद्वितीय पूर्णता दी। सीयक द्वितीय, भोज, उदयादित्य, नरवर्मन, जयसिंह, देवपाल आदि नरेशों का महान योगदान मन्दिरों की प्रस्तर छाया में ही सुरक्षित रह पाया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मालवा की मन्दिर वास्तुकला ने भारतीय वास्तु-जगत को भरपूर एवम् विशिष्ट योगदान दिया है। मालवा मन्दिर वास्तु की अपनी विशिष्टता है। इस क्षेत्र की वास्तु शैली का निरीक्षण और अध्ययन न केवल आंचालिक कला विधाओं के अभिज्ञान की दृष्टि से अभीप्ट है, अपितु, विविध क्षेत्रों की वास्तु शैलियों का युक्ति युक्त समन्वय, जो मालवा क्षेत्र में सम्पन्न हुआ उसे समझने के लिए भी इसकी उपादेयता है।

मालवा क्षेत्र के मन्दिर वास्तु के अध्ययन के विना प्राचीन भारतीय मन्दिर वास्तु का कोई भी अध्ययन एवम् चिंतनपूर्ण न होकर एंकागी ही माना जाएगा।

परिशिष्ट : अध्ययन के स्रोत

ऐतिहासिक अध्ययन की दो आधार शिलाएं मानी गयी हैं—प्रथम साहित्यिक प्रमाण तथा द्वितीय पुरातत्व साक्ष ।

प्रस्तुत प्रबन्ध में अध्ययन की पूर्णता की दृष्टि से दोनों ही स्रोतों का भरपूर सहयोग लिया गया है ।

साहित्यिक प्रमाण : जहां तक साहित्यिक स्रोतों का सम्बन्ध है, ये स्रोत दो प्रकार के माने गये हैं :—

(अ) बुनियादी स्रोत : ये वे साहित्यिक ग्रन्थ हैं, जो प्राचीन काल में संस्कृत, पाली, अर्द्ध मागधी आदि में सृजित किये गये । इन ग्रन्थों के सहयोग से वास्तुकला की गुत्थियों को सुलझाने और उनके महत्व को प्रतिपादित करने में बड़ी सहायता प्राप्त होती है ।

ऋग्वेद सबसे पहिले स्थापत्य विषयक कुछ सन्दर्भ हम तक पहुंचाता है । ब्राह्मण एवम् सूत्र ग्रंथ भी कुछ महत्वपूर्ण संकेतों के माध्यम से देवालयों की प्रारंभिक स्थिति का बोध कराते हैं । कौटिल्य का अर्थशास्त्र एवम् पतंजलि का महाभाष्य सार्वजनिक देव मन्दिरों की चर्चा करते हैं । पुराण, विशेष कर अग्नि, भविष्य, गरुड़ एवम् मत्स्य पुराण, मन्दिरों के विभेदों की सविस्तार चर्चा करते हैं ।

पुराणों ने मालवा की सांस्कृतिक गरिमा की चर्चा कई स्थानों पर की है । इन पुराणों में मत्स्य पुराण, लिंगपुराण, स्कन्दपुराण आदि विशेष उल्लेखनीय हैं । स्कन्दपुराण का अवन्ती खण्ड तो एक प्रकार से अवन्तिका की पर्यटक पुस्तिका ही है । इन पुराणों के वर्णन से हमें पुराणकालीन देवी-देवताओं और धर्मस्थलों का बोध होता है, यद्यपि हम इनके आधार पर उनका कलात्मक एवम् ऐतिहासिक विवेचन करने में असमर्थ रहते हैं । फिर भी पुराणों के सन्दर्भ हमारे अध्ययन के लिये बड़े उपयोगी सिद्ध होते हैं ।

बौद्ध ग्रन्थों में जातक कथाओं से हमें सांची में उत्कीर्ण जातक कथाओं की सूचना प्राप्त होती है । इसी प्रकार बौद्ध निकायों, दिव्यवदान एवम् महावस्तु के अध्ययन से हमें भगवान बुद्ध के जीवन से संबंधित उन घटनाओं एवम् दार्शनिक मान्यताओं का ज्ञान हो जाता है जो मालवा के बौद्ध स्थापत्य से संबंध रखती हैं ।

काव्य एवम् नाट्य ग्रन्थों में भी मालवा के स्थापत्य के संबंध में महत्वपूर्ण सूचनाएं दी हैं । महाकवि कालिदास के रघुवंशम् एवम् मेघदूतम में हमें इस क्षेत्र की स्थापत्य कला के बारे में कुछ सूचना प्राप्त होती है। प्रथम शताब्दी में रचित "गार्गी संहिता" मन्दिर वास्तुकला की महत्वपूर्ण चर्चा करती है ।

गुप्तकालीन भाणों में उज्जैन के कलात्मक निर्माणों की चर्चा आती है । प्रथम भाण है :- शामलक

का पादताड़िकम् एवम् द्वितीय है : शूद्रक या पद्मप्राभृतम् । शूद्रक का ही लिखा हुआ मृच्छकटिकम् उज्जयिनी की वस्तुकला गरिमा पर प्रकाश डालता है । परमारकालीन कवि पद्मगुप्त का नवासहसांकचरित तथा भोज की शृंगारमंजरी आदि ग्रन्थ मालवा के वास्तुकला का भावुक बखान करते हैं ।

विदेशी लेखकों के वर्णन भी प्रामाणिकता की दृष्टि से बड़े उपयोगी होते हैं । ह्वेनसांग के बारे में यह कहा गया है कि वह मालवा में आया था और उसने यहां के मन्दिरों एवम् बौद्ध विहारों का उल्लेख किया है ।

स्थापत्य से सम्बन्ध रखने वाले अनेक ग्रन्थ भी मन्दिर निर्माण, उनके प्रभेद एवम् शैलियों की महत्वपूर्ण सूचनाएं देते हैं । इनमें से अधिकतर गुप्तकाल के उपरांत सृजित हुए । सर्वप्रथम वराहमिहिर की बृहत्संहिता की चर्चा करनी होगी । यह ग्रन्थ छठीं शताब्दी की रचना है । मानसार को भी कुछ विद्वान इसी काल की रचना मानते हैं । यद्यपि अन्य कुछ विद्वान् इसका सृजन-काल १०वीं शताब्दी के बाद तक का मानते हैं, कुछ पुराण मन्दिर-वास्तु की अत्यन्त महत्वपूर्ण सूचना देते हैं । इनमें मत्स्य, विष्णु, वायु, लिंग, स्कन्द आदि पुराण उल्लेखनीय हैं । इन पुराणों का सृजन ४वीं-५वीं शताब्दी से होना प्रारम्भ होकर १०वीं शताब्दी तक होता रहा । विष्णु पुराण के परिशिष्ट के रूप में "विष्णु धर्मोत्तर" ७वीं-८वीं शताब्दी के मन्दिर स्थापत्य का पर्याप्त सैद्धान्तिक विवेचन करता है । स्कन्द-पुराण का "अवन्ती-खण्ड" छठीं-९वीं शताब्दी की रचना है तथा उज्जैन के समकालीन मन्दिरों की सूची प्रस्तुत करता है । इसी प्रकार विश्वकर्माप्रकाश (छठीं से ९वीं शताब्दी) एवम् शुक्रनीति (८वीं से १०वीं शताब्दी) भी मन्दिर वास्तु को भरपूर जानकारी देते हैं ।

इसके अतिरिक्त छठीं से १२वीं शताब्दी के मध्य अनेक शिल्प एवम् आगम ग्रन्थ सृजित किये गये । इन ग्रन्थों में मयमतम्, अत्रि संहिता, कामिकागम, सप्रभेदागम, काश्यप-शिल्पम् हय-शीर्ष-पांचरात्र आदि उल्लेखनीय हैं । इसी परम्परा में ११वीं शताब्दी में ईशा-नशिव गुरुदेव पद्धति की रचना हुई । इसी शताब्दी में राजा भोज ने समरांगण सूत्रधार जैसा महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा । इसके लगभग एक शताब्दी बाद ही भुवनदेव द्वारा लिखित अपराजित-पृच्छा नामक ग्रंथ सामने आया । मध्यकाल में यद्यपि मन्दिर निर्माण पर प्रश्न चिन्ह ही लग गया था किन्तु लेखकों ने १६वीं शताब्दी तक अनेक ग्रन्थों की रचना कर इन प्राचीन ग्रन्थों की आत्मा को जीवित रखा । ऐसे ग्रन्थों में १५वीं शताब्दी में गोपाल भट्ट द्वारा लिखित हरिभक्तिविलास, मरीचिका वैखानसागम तथा १६वीं शताब्दी में रचित शिल्परत्नम् जैसे ग्रन्थ विशिष्ट उल्लेखनीय हैं ।

मुनि जिन-प्रभसूरी ने विविध जैन तीर्थ कल्प के माध्यम से मालवा के अनेक जैन मन्दिरों का वर्णन किया है ।

(ब) गौण सन्दर्भ (स्रोत): इनके अन्तर्गत वे ग्रन्थ आते हैं, जिन्होंने हमारी अध्ययन सामग्री पर पर्याप्त प्रकाश डाला है । इन ग्रन्थों के लेखकों ने जिन देशी-विदेशी अनेक विद्वानों, इतिहासकारों एवम् पुराविदों का नाम लिया जाता है, उनमें अलेक्जेण्डर-कनिंघम, जेम्स फर्ग्यूसन, पर्सी ब्राउन, कजिन्स, जेम्स बर्गेज, स्ट्रेलाकामरिश, सी० आर० लुआर्ड, सरजान मार्शल, विन्सेण्ट स्मिथ आदि विदेशी तथा आर० डी० बेनर्जी, एम० बी० गर्दे, कृष्णदेव, वासुदेवशरण अग्रवाल, रायकृष्ण दास, वासुदेव उपाध्याय, डी० आर० भाण्डारकर, वी० वी० मिराशी, एस० के० सरस्वती, डी० सी० सरकार, पं० सूर्यनारायण व्यास, अगरचन्द नाहटा, डी० आर० पाटिल, भगवतशरण उपाध्याय, हरिहर त्रिवेदी, कैलाशचन्द जैन, वि० श्री० वाकणकर महेश्वरदयाल खरे, मनोहरलाल

दलाल, एस०एम० पहाड़िया, मायारानी आर्य, रामसेवक गर्ग, मंगल मेहता आदि भारतीयों के नाम उल्लेखनीय हैं।

इसी प्रकार विभिन्न स्मृति ग्रन्थों, गजेटियरों, रिर्पोट्स तथा शोध एवम् अन्य पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित सामग्री से भी उल्लेखनीय विवरण प्राप्त होते हैं। इन साधनों का उल्लेख प्रस्तुत प्रवन्ध की सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची में पृथक रूप में किया जा रहा है।

पुरातत्वीय प्रमाण :

पुरातत्वीय प्रमाणों के अन्तर्गत निम्न प्रकार से अध्ययन सामग्री उपलब्ध होती है।

(अ) खोज और उत्खनन : विभिन्न स्थानों पर पुरातत्वीय सामग्री का पता दो प्रकार से मिलता है। धरातल पर जो सामग्री बिखरी पड़ी रही है, उसका पता खोजों द्वारा हो जाता है।

मालवा क्षेत्र में मन्दिर वास्तु के कई दूर दराज में छिपे अवशेषों का पता इन खोजों ने दिया है। उत्खनन द्वारा भी कई स्थानों पर भूगर्भ में छिपे अवशेषों को सामने लाने का प्रयास किया जाता है। अभी तक मालवा में उज्जैन, महेश्वर, नावड़ाटोड़ी, मनोटी, नागदा, आवरा, ऐरण, कायथा, विदिशा, मन्दसौर, आजादनगर, दंगवाडा, हिंगलाजगढ़, कसरावद, बिलाब्रली, भीमबेटका आदि स्थानों पर उत्खनन कार्य सम्पादित किये गये।

उज्जैन के उत्खनन से वैश्या टेकरी पर स्तूप का पता चला है।

कायथा उत्खनन से जो मूर्तियां प्राप्त हुई हैं, वे वहां अस्तित्व में रहे मन्दिर वास्तुकला का परिचय देती हैं। उत्खनन द्वारा ही भूगर्भ में बहुत कुछ दबी हुई पोलाडोंगर की गुफाएं प्रकाश में आ सकीं। किन्तु जहां तक हमारे अध्ययन का प्रश्न है, इसमें उत्खनन की विधा अधिक सहयोगी नहीं हुई क्योंकि अधिकतर उत्खनन उन ताम्राश्युगीन बस्तियों का ही हुआ, जहां पर मन्दिर स्थापत्य का अभाव था।

(ब) अभिलेख : अभिलेख इतिहास का सबसे महत्वपूर्ण एवम् प्रामाणिक साधन माना जाता है। हमारे विषय पर भी अभिलेखीय स्रोतों द्वारा पुष्ट प्रमाण मिलता है। इनसे कई ज्ञात-अज्ञात एवम् विद्यमान और लुप्त मन्दिर निर्माणों के बारे में विश्वसनींय जानकारी प्राप्त होती है। अशोक का सांची स्तम्भ अभिलेख इस क्षेत्र का सबसे प्राचीन अभिलेख है। बेसनगर का हेलियोडोर का अभिलेख उसके द्वारा निर्मित विष्णु मन्दिर के निर्माण की जानकारी देता है। शुंगकाल में मौर्यकालीन सांची स्तूप का पुर्ननिमाण हुआ तथा वेदिकाएं एवम् तोरण द्वार बनाये गये। इन वेदिकाओं पर उत्कीर्ण अभिलेख इनके निर्माताओं की सूक्ष्म जानकारी देते हैं। विदिशा के पास उदयगिरि की गुप्तकालीन गुफाएं हैं। वहां चन्द्रगुप्त द्वितीय के मंत्री वीरसेन और उसके सामंत सनकानिक महाराज के अभिलेख प्राप्त हुए हैं। उदयगिरि में ही इसी समय जैन गुफाओं का भी निर्माण हुआ, जहां सन् ४२५-२६ का अभिलेख प्राप्त हुआ है।

मालवा के अन्य कई स्थलों से भी गुप्तकालीन अभिलेख प्राप्त होते हैं जो उस समय सम्पन्न निर्माण कार्यों की विशद जानकारी देते हैं। कोटरा में विहार के निर्माण की जानकारी देता हुआ सन् ४१७-१८ का अभिलेख उपलब्ध हुआ है। गंगधार में औलिकर नरेश विश्ववर्मन का ४२३-२४ ई० का अभिलेख उनके मंत्री मयूराक्षक द्वारा एक विष्णु तथा दूसरे मातृदेवियों के मन्दिर के निर्माण का संकेत देता है। मन्दसौर

का सन् ४३७-३८ का बन्धुवर्धन का अभिलेख हमें सूचना देता है कि कुमारगुप्त के शासन काल में यहां लाट देश के आये हुए कौषेय वस्त्र निर्माताओं की एक श्रेणी द्वारा सूर्य मन्दिर का निर्माण करवाया गया था। इस मन्दिर का पुनर्निर्माण सन् ४७२-७३ में हुआ। इस सम्बन्धी अभिलेख भी मन्दसौर में उपलब्ध हुआ है।

विदिशा में भिल्लस्वामी के मन्दिर का सन् ८७८ ई० का एक अभिलेख भी प्राप्त हुआ है। झालरा-पाटन, उदयपुर, उज्जैन और ऊन में उदयादित्य ने जो महान् निर्माण कार्य सम्पादित करवाये, उनकी जानकारी देने वाले अभिलेख प्रकाश में आये हैं। झालरापाटन और उदयपुर के अभिलेख उनके मन्दिरों की ही भांति सुरक्षित हैं किन्तु ऊन और उज्जैन के सर्पबन्ध और अभिलेख खण्डित अवस्था में उपलब्ध हैं। इसी प्रकार शेरगढ़, इन्दरगढ़, मोड़ी, विलपांक, रिंगनोद आदि स्थानों पर प्राप्त अभिलेख हमें इन स्थानों पर हुए मन्दिर निर्माण की सूचना देते हैं।

इनके अतिरिक्त कई मन्दिरों, स्तम्भों और प्रतिमा-पादों पर उत्कीर्ण लेखों द्वारा वास्तु निर्माताओं एवम् उनके काल के बारे में संक्षिप्त एवम् आंशिक जानकारी प्राप्त होती है।

(स) सिक्के : सिक्के भी अत्यंत ही विश्वसनीय एवम् प्रामाणिक पुरातत्वीय साधन हैं किन्तु मालवा से उपलब्ध प्राचीन सिक्के हमारी अध्ययन सामग्री पर सीधे सीधे कोई प्रकाश नहीं डालते : इतना अवश्य है कि कुछ सिक्कों ने सामान्य रूप से मन्दिर वास्तुकला अथवा उनके धार्मिक आधारों को स्पष्ट करने के लिए उल्लेखनीय योग दिया है। इस दृष्टि से सुनेत से प्राप्त सिक्के एवम् औदंबरों के सिक्के विशिष्ट अर्थ रखते हैं।

जहां तक मालवा के सिक्कों का प्रश्न है, आहत सिक्कों पर मेरु या चैत्य के चन्द्रयुक्त अंकन ने समकालीन धार्मिक आस्था को कुछ सीमा तक व्यक्त किया है। किन्तु सबसे अधिक महत्वपूर्ण मालवा क्षेत्र के वे सिक्के हैं जिनमें दण्डयुक्त एक देवता को खड़ी मुद्रा में बताया गया है। इस देवता की पहचान—लकुलिश रूपी महाकाल से की गई है। इस प्रकार ये सिक्के उज्जयिनी में शैवधर्म एवम् महाकाल मन्दिर की प्राचीनता को सिद्ध करते हैं।

कुछ आहत सिक्के चतुष्कोणीय वेष्टिनी में चैत्य वृक्ष को प्रकट करते दीखते हैं। बौद्धों की आस्था इस प्रकार इन सिक्कों द्वारा सहज ही व्यक्त हो पायी है। कुछ सिक्कों पर एक नारी प्रमिता उत्कीर्ण है। इसे मातृ-शक्ति माना गया है। कई आहत सिक्कों पर सूर्य, चन्द्र, नदी, कुण्ड, ध्वजखण्ड, वृषभ, गज आदि उभारे गये हैं। इन प्रतीकों को भी धार्मिक मान्यताओं से जोड़ा जा सकता है।

(द) प्राचीन स्मारक : जहां तक प्रस्तुत विषय के अध्ययन का क्षेत्र और सीमा है, इसके अन्तर्गत स्तूप, चैत्य एवम् मन्दिरों का अध्ययन आता है।

मौर्यकाल के बौद्ध अवशेष उज्जैन, सांची, कसरावद आदि स्थानों पर उपलब्ध होते हैं। शुंग-सातवाहन-शककाल से संबंधित बौद्ध स्तूप, स्तंभ एवम् तोरण आदि सांची, सोनारी, भोजपुर, सतधारा, अन्धेर, राजपुर आदि स्थानों पर उपलब्ध हुए हैं। विदिशा में दो शुंगकालीन मन्दिरों का पुरातत्वीय प्रमाण प्राप्त हुआ है। गुप्त-औलिकर कालीन अवशेष विदिशा, उदयगिरि, सांची, विहारकोटरा, मन्दसौर, बाघ, धमनार एवम् पठारी में उपलब्ध हुए हैं। ये मन्दिर या धार्मिक निर्माण गुहाओं, चैत्यों, मन्दिरों आदि के रूप में हैं तथा वैष्णव,

बौद्ध एवम् जैन मतों से संबंधित हैं।

गुप्तोत्तर मालवा में धमनार, होलाडोंगर, खोलवी, विनायका, खेजड़ियाभोप आदि स्थानों पर प्रमुख रूप से बौद्ध एवम् गौण रूप से वैष्णव गुफाओं का निर्माण हुआ। ग्यारसपुर में बौद्ध स्तूप निर्मित किये गये किन्तु शैव, वैष्णव एवम् जैन मंदिरों के निर्माण में एक होड़ सी लग गई। गुप्तों के बाद तथा परमारों के उदय के मध्य मालवा में जो मन्दिर निर्माण हुए, उनके प्रमाण अभी भी झालरापाटन, ग्यारसपुर, तुमेन, बड़ोह-पठारी आदि स्थानों पर देखे जाते हैं।

ओंकार-मांधाता, भोजपुर एवम् नेमावर के मन्दिर गुर्जर-प्रतिहार मौर्य एवम् राष्ट्रकूट मन्दिर वास्तुकला एवम् परमार मन्दिर वास्तुकला के मध्य की महत्वपूर्ण कड़ी है। परमारकाल में तो मालवा में मन्दिर निर्माण की धूम ही मच गई। जिन स्थानों पर परमारकालीन मन्दिर उपलब्ध हुए हैं उनका जिलेवार वर्णन प्रथम अध्याय में किया गया है।

(इ) विहार : निश्चित ही विहारों का अध्ययन मन्दिर वास्तुकला के अन्तर्गत नहीं आता किन्तु विहार स्थापत्य का अनुशीलन अध्ययन से ओझल भी नहीं किया जा सकता है। इसके दो कारण हैं—किसी स्थान पर विहारों का अस्तित्व यह सिद्ध करता है कि उन स्थानों के निकट ही स्तूप, चैत्य या देवालय रहे होंगे।

दूसरे कई चैत्य गुफाएं लगभग विहारों जैसी ही निर्मित की गई हैं। अत: चैत्य मन्दिरों के स्थापत्य का अध्ययन करने हेतु इन विहारों का अध्ययन बड़ा महत्वपूर्ण हो जाता है। इस कारण सांची, कसरावद, बाघ, धमनार, विनायका खेजड़ियाभोप, पोलाडोंगर एवम् खोलवी की गुहाओं का संक्षिप्त विवरण अध्ययन क्रम को गति एवम् पुष्टता देता है।

(क) स्तम्भ : स्तंभों का निर्माण मन्दिर वास्तुकला की दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण है। स्तम्भ या तो स्वतंत्र रूप में बनाये जाते रहे या वास्तुकला के एक अपरिहार्य अंग के रूप में। स्वतंत्र रूप से बनाये जाने वाले स्तंभ निश्चित ही पवित्र रहे एवम् दिव्य प्रतीक के कारण श्रद्धा एवम् पूजा का विषय रहे। यही कारण है कि सांची, पठारी एवम् बेसनगर के धार्मिक दृष्टि से खड़े किये गये स्तंभ प्रस्तुत सीमा के अन्दर आ गये हैं। इसी प्रकार द्वारों या अर्ध-मण्डपों, अन्तरालों एवम् गर्भगृहों आदि को आश्रय देने के निमित्त बनवाये गये स्तंभों और अर्ध-स्तंभों का अध्ययन प्रस्तुत अनुसंधान का एक महत्वपूर्ण विषय रहा है क्योंकि ये स्तंभ मन्दिर वास्तु-कला के निश्चित ही अपरिहार्य अवयव हैं। बौद्ध स्तूपों के आसपास जो तोरण द्वार, बड़ेरिया एवम् वेदिकाएं निर्मित की गईं, वे भी इन्हीं आधारों पर हमारे अध्ययन का विषय बने हैं। कई स्थानों पर मन्दिरों के ध्वस्त होने से अब केवल तोरण द्वार या स्तम्भ समूह ही शेष रह गये हैं। उन्हें भी अध्ययन का विषय बनाया गया है। ऐसे स्मारक विशेषत: साँची, ग्यारसपुर, उदयपुर, बड़ोह-पठारी, चन्दवासा, खोर आदि स्थानों पर उपलब्ध हुए हैं।

(ख) मूर्तिकला : प्रतिमाएं मन्दिर वास्तुकला का एक महत्वपूर्ण अंग रही हैं। मुख्य प्रतिमा मन्दिर के गर्भगृह में प्रमुख रूप से स्थापित की जाती थी। गर्भगृह में अन्यत्र, अन्तराल, मण्डप, द्वार-मण्डप, स्तंभ, मन्दिर की जंघाओं, ताकों और शुकनासाओं आदि में भी प्रतिमाएं खचित अथवा उत्कीर्ण की जाती रही हैं। इन प्रतिमाओं की प्राप्ति मन्दिर वास्तुकला की दृष्टि से निम्नलिखित निष्कर्ष प्रस्तुत करती हैं :—

(१) जहां मूल रूप से प्रतिमाएं पायी जाती हैं, वहां पूर्व में इनसे संबंधित मन्दिर अवश्य ही रहा होगा।

(२) ये प्रतिमाएं जिस काल से संबंधित हैं, मन्दिर भी इसी काल से संबंधित रहा होगा।

(३) किसी एक स्थान पर एक ही धर्म समूह की अधिक मूर्तियां उपलब्ध होने से यह निष्कर्ष निकलना उचित है कि इन मूर्तियों से संबंधित धर्म से किसी प्रमुख देवता या उसके अवतार से संबंधित कोई मन्दिर वहां रहा होगा।

(४) किसी प्रतिमा के मिलने पर यह स्पष्ट नहीं होता है कि वहां उसी देवता का मन्दिर रहा होगा क्योंकि सभी तरह की प्रतिमाएं श्री विग्रह से अतिरिक्त भी मन्दिरों में विद्यमान रही हैं।

(५) साधारणतः प्रतिमाओं की कलात्मकता, अलंकरण, आकार एवम् भव्यता के आधार पर मन्दिर के आकार-प्रकार एवम् कलाबोध का अनुमान लगाया जा सकता है। इसी के साथ मूर्तियों की संख्या तथा उनके प्रकारों के माध्यम से विभिन्न स्थानों पर पल्लवित होने वाले धर्मों एवम् उनकी शाखाओं का अनुमान भी लगाया जा सकता है।

मालवा क्षेत्र में प्रमुख रूप से बुद्ध, जिन्, शिव, विष्णु तथा देवियों की प्रतिमाएं विभिन्न स्वरूपों में प्राप्त होती हैं। गणेश, कार्तिकेय, सूर्य, शक्ति, ब्रह्मा आदि की प्रतिमाएं भी दिव्य शक्ति के प्रतीक के रूप में प्राप्त होती हैं। व्यंतर, लौकिक एवम् स्थानीय देवी-देवता भी उनमें स्थान पा गये हैं। अतः वास्तुकला के एक सहयोगी अंग के रूप में एवम् किसी प्राचीन मन्दिर की विद्यमानता के प्रमाण के रूप में प्रतिमाओं का संक्षिप्त विवेचन भी अभीष्ट हो जाता है।

ग्रन्थ-सूची

प्राचीन-ग्रन्थ

अग्निपुराण : सम्पादक, आर० मित्रा, कलकत्ता १८७३, अनुवाद एम० एन० दत्त, कलकत्ता, १९०१.

आंगुतरनिकाय : मोरिस एवम् हार्डी द्वारा सम्पादित, लंदन, १८८५.

अर्थशास्त्र: कौटिल्यकृत : सम्पादक आर० शाम० शास्त्री, मैसूर, १९१९.

अष्टाध्यायी : पाणिनि कृत, सम्पादक एस० सी० बसु, इलाहाबाद, १९२०.

आपस्तंभगृहसूत्र

अपराजितपृच्छा

कामसूत्र : वात्स्यायन कृत.

कादम्बरी : बाणभट्ट कृत.

चतुर्भाणि : डा० वासदेवशरण अग्रवाल एवं डा० मोतीचन्द्र द्वारा सम्पादित, बम्बई, १९५९.

दीघनिकाय : रीज ड़ेविडस और कारपेन्टर द्वारा सम्पादित, लंदन १८९०, १९०३, १९११.

दीपवंश : एच० ओल्डनबर्ग, विलियम एच० द्वारा सम्पादित, एवम् अनूदित, लंदन, १८७९.

परिशिष्ट पर्वन : जेकोबी द्वारा सम्पादित, कलकत्ता, १९३२.

प्रवन्धचिन्तामणि : मेरुतुंग कृत, बम्बई, १९४०.

पादताड़िकम: (देखिये चतुर्भाणी)

बोधायनगृहसूत्र : चौखम्वा संस्करण

मनुस्मृति : चौखम्वा संस्करण

महाभारत : सुकठनकर द्वारा सम्पादित; भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना, १९२७-५३.

मज्झिमनिकाय : वी० ट्रेंकनर, आर० चाल्मर्स, लंदन, १९२६-२७.

महावंश : गीगर डबल्यू, लंदन, १९०८.

मालविकाग्निमित्रम् : कालिदास कृत.

मेघदूतम् : कालिदास कृत.

मृच्छकटिकम् : शूद्रक कृत.

मत्स्यपुराण : पूना, १९०७.

महाभाष्य : पंतजलि कृत, बम्बई संस्कृत सीरीज, बम्बई.

मयमतम्

महावग

विष्णुपुराण : अनुवाद-एच०एच० विलसन, लंदन, १८६४-७०.

वायु पुराण

समरांण सूत्रधार : भोज कृत.

शंखायनस्रोतसूत्र : यूआनच्वांग.

शतपथ ब्राह्मण

शुक्ल यजुर्वेद

हरिभक्तिविलास

हर्षचरित : बाणभट्ट कृत.

अर्वाचीन ग्रन्थ

अग्रवाल आर० सी० : प्राचीन और मध्यकालीन भारत का सांस्कृतिक व राजनैतिक इतिहास.

अग्रवाल वासुदेवशरण : इण्डियन आर्ट, वाराणसी, १९६५.

आचार्य पी० के० : इण्डियन आर्किटेक्चर, डिक्शनरी आफ हिन्दू आर्कि०.

आयंगर ए० एस० : एन एडवान्स हिस्ट्री आफ इण्डिया.

उपाध्याय भगवतशरण : इण्डिया इन कालिदास, इलाहाबाद, १९६८.

एलन जे० : केटेलाग आफ दि क्वायंस आफ ऐंशिएण्ट इण्डिया (इन दि ब्रिटिश म्युजियम, लदन, १९३६).

ओझा गो० ही०: राजपूताने का इतिहास.

कनिंघम एलेक्जेण्डर : क्वायंस आफ ऐंशिएण्ट इण्डिया फ्राम दी अर्लियेस्ट टाइम्स डाउन टू दी सेवन्थ सेंचुरी ए० डी०लंदन, १८८१. भिलसा टोप्स.
ऐंशिएण्ट जाग्रफी आफ इण्डिया, कलकत्ता, १९२४.

काणे पी० वी० : अर्थशास्त्र का इतिहास (चार भाग) लखनऊ.

क्रामरिश स्टे्ला : दी हिन्दू टेम्पल्स, इण्डियन स्कल्पचर, लंदन, १९२९.

कृष्ण देव: टेम्पल्स आफ नार्थ इण्डिया, नई दिल्ली, १९६९.

कुमारास्वामी आनन्द : हिस्ट्री आफ इण्डियन एण्ड इंडोनेशियन आर्ट, नई दिल्ली, १९७२.

कानूनगो शोभा : उज्जयिनी का सांस्कृतिक इतिहास, इन्दौर, १९७२.

खरे एम० डी० : बाघ की गुफाएं, भोपाल, १९७१.

गर्दे एम० बी० : आर्कोलाजी इन ग्वालियर, १९३४.

गांगुली डी० सी० : हिस्ट्री आफ परमार डायनेस्टी, ढाका, १९५३.

चकलादर एच० : सोशल लाइफ इन ऐंशिएण्ट इण्डिया, कलकत्ता, १९५४.

चन्दा रामप्रसाद : बिगनिंग आफ आर्ट इन ईस्टर्न इण्डिया.

जन कैलाशचन्द : मालवा थ्रू दी एजेस, देहली, १९७२; जैनिज्म इन राजस्थान, शोलापुर १९६३; एंशिएण्ट सिटीज एण्ड टाउन्स आफ राजस्थान.

जैन हीरालाल : भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, भोपाल, १९७५.

जायसवाल के० पी० : हिस्ट्री आफ इण्डिया, १५०-३५० ए० डी० लाहोर, १९३२; एन इम्पीरियल हिस्ट्री आफ इण्डिया.

टाड जे० एवं क्रूक डबल्यू : एनल्स एण्ड ऐंटीक्विटीज आफ राजस्थान, लंदन, १९२०.

डूब्राय : वैदिक ऐंटिक्विटीज.
द्विवेदी एच० एन० एवं विनयगोविन्द : मध्यभारत का इतिहास भाग 1, ग्वालियर, १९५६.
नरेन्द्रनाथ : आर्कोलाजिकल म्युजियम, सांची, नई दिल्ली, १९६६.
निगम श्यामसुन्दर : एकानामिक आर्गेनाइजेशन इन ऐंशिएण्ट इण्डिया, नई दिल्ली, १९७५.
पाण्डे राजबलि : विक्रमादित्य आफ उज्जयिनी, बनारस, १९५४.
पार्जिटर एफ० इ० : ऐंशिएण्ट इण्डियन हिस्टोरिकल ट्रैडिशन, दिल्ली, १९६२.
पाटिल डी० आर० : दी कल्चरल हेरिटेज आफ मध्यभारत, ग्वालियर, १९५२.
प्रधान एस० : क्रोनोलाजी आफ ऐंशियण्ट इण्डिया, कलकत्ता, १९२७.
प्रेमी नाथूराम : जैन साहित्य और इतिहास, बम्बई, १९५६.
पहाड़िया एस० एन० : बुद्धिज्म इन मालवा, नई दिल्ली, १९७६.
फर्ग्यूसन जे० : हिस्ट्री आफ इण्डियन एण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर. केव टेम्पल्स आफ इण्डिया, लन्दन, १८८०.
बुद्धप्रकाश : आस्पेक्ट्स आफ इण्डियन हिस्ट्री एण्ड सिविलाइजेशन, आगरा, १९६५.
बैनर्जी आर० डी० : दी एज आफ इम्पीरियल गुप्ताज, बनारस, १९३६.
बैनर्जी जे० एन० : डेवलपमेन्ट आफ हिन्दू आइकनोग्राफी, कलकत्ता, १९५६.
ब्राउन पर्सी : इण्डियन आर्किटेक्चर, बम्बई.
भट्टाचार्य टी० पी० : दी कल्ट आफ ब्रह्म.
भण्डारी सुखसम्पति राय : हिस्ट्री आफ मालवा, इन्दौर, १९४१.
भाटिया प्रतिपाल : दी परमार्स (८००-१३०५ ए० डी०) नई दिल्ली, १९७०.
भाण्डारकर डी० आर० : लेक्चर्स आफ दी ऐंशिएट हिस्ट्री आफ इण्डिया, कलकत्ता, १९१९. (कामाईकल लेक्चर्स, १९१८).
मजूमदार आर० सी० : दी वैदिक एज, लंदन, १९५१.
दी एज आफ इम्पीरियल यूनिटी, बम्बई, १९५१.
दी क्लासिकल एज, बम्बई, १९५४.
दी एज आफ इम्पीरियल कन्नौज, बम्बई, १९५५.
स्ट्रगल फार एम्पायर, बम्बई, १९६०.
मजूमदार एवं अल्तेकर : दी वाकाटक गुप्त एज, बनारस, १९५४.
मार्शल जान : दी मान्यूमेन्ट्स आफ सांची,
मोहनजोदड़ो एण्ड इंदुस वैली सिविलाइजेशन.
मार्शल जान एवं गर्दे एम० बी० : दी बाघ केव्हज, ग्वालियर, १९२७.
मिराशी वि० वि० : इन्क्रिप्शन आफ कलचुरि चेदि ऐरा, उटकमण्ड, १९५५.
स्टडीज इन इण्डालोजी, नागपुर, १९६०.
मित्रा देवला : सांची, नई दिल्ली, १९७५.
मितल अमरचंद : परमार अभिलेख, अहमदाबाद, १९८०.
मुकर्जी राधाकुमुद : चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य.
मेकक्रिण्डल : इवेन्शन आफ इण्डिया, लन्दन, १९०१.
मेकडानल ए० ए० : वैदिक इन्डेक्स, व्हा० द्वितीय.

मैक्समूलर : चिप्स फ्राम ए जर्मन वर्कशाप.
रमन्नया वी० : ओरिजन आफ साउथ इंडियन टेम्पल्स.
राम रज : एसे आन दी आर्किटेक्चर आफ दी हिन्दूज.
राय एच० सी० डायनेस्टिक हिस्ट्री आफ नार्दन इण्डिया
(दो भाग) नई दिल्ली, १९७२.
राय चौधरी एच० सी० : पोलिटिकल हिस्ट्री आफ ऐंशिएण्ट इण्डिया, कलकत्ता, १९५०.
रीस डेविड टी डबल्यू : बुद्धिस्ट इण्डिया, दिल्ली, १९७०.
रैप्सन इ०जे० : केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, व्हा० प्रथम, केम्ब्रिज, १९२२, ऐंशिएण्ट इण्डिया, केम्ब्रिज, १९१४.
लांग हर्स्ट : दी ओरिजन आफ स्तूप्स, दिल्ली, १९८०.
ला बी०सी० : उज्जयिनी इन ऐंशिएण्ट इण्डिया, ग्वालियर, १९४४.
लेले के०के० : परमार्स आफ धार इन मालवा, बम्बई, १९०८.
लेले चि० वि० : मालवे के परमार.
लूनिया बी०एन० : प्राचीन भारतीय संस्कृति, आगरा, १९७८.
ल्यूआर्ड सी० ई० एवं लेले के०के० : परमार्स आफ धार इन मालवा, बम्बई, १९०८.
वाटर्स टी० : आन यूआन च्वांग, लंदन, १९०४-०५.
वासुदेवशरण उपाध्याय : प्राचीन भारतीय स्तूप, गुहा एवम् मन्दिर, पटना, १९७२.
विक्रम व्हाल्यूम उज्जैन, १९४८.
विक्रम स्मृति ग्रन्थ : उज्जैन, विक्रम संवत् २००१.
शर्मा आर० एस० : शूद्राज इन ऐंशिएण्ट इंडिया.
शास्त्री के०ए०एन० : दी नन्दाज एण्ड दी मौर्याज, बनारस, १९५२.
सरकार डी०सी० : स्टडीज इन जाग्रफी आफ ऐंशिएण्ट एण्ड मेडिवियल इण्डिया, दिल्ली, १९६०.
दी शाक्त पीठ्स, कलकत्ता, १९६५.
ऐंशिएण्ट मालवा एण्ड दी विक्रमादित्य ट्रेडिशन, दिल्ली, १९६९.
सरस्वती एस० के० : सर्वे आफ इण्डियन स्कल्पचर, कलकत्ता, १९५७.
स्टीवेन्सन मिसेज एस० : दी आर्ट आफ जैनिज्म, आक्सफोर्ड, १९१५.
स्मिथ विसेण्ट ए० : अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया, आक्फोर्ड, १९२४.
सौन्दर राजन् के० व्ही० : इण्डियन टेम्पल स्टाइल्स, नई दिल्ली, १९७२.
संकलिया एच० डी० एवं सुब्बाराव: दी एस्केवेशन एट महेश्वर एण्ड नावड़ाटोड़ी.
हवेल ई० बी०: दी हिमालियाज इन इण्डियन आर्ट, बम्बई, १९३८.
ऐंशिएण्ड मिडिएवल आर्किटेक्चर आफ इण्डिया, हेण्डबुक आफ इण्डियन आर्ट, इण्डियन स्कल्पचर एण्ड पेन्टिंग, १९२८.
ह्वार्ले जेम्स सी०: टेम्पल गेटवेज इन साउथ इण्डिया.

जर्नल्स

जर्नल आफ दी इण्डियन हिस्ट्री, त्रिवेन्द्रम.
जर्नल आफ दी ओरियण्टल सोसायटी.

जर्नल आफ दी ऐशियाटिक सोसायटी आफ बेंगाल, कलकत्ता.
जर्नल आफ दी पटना यूनिर्वसिटी, पटना.
जर्नल आफ दी विहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, पटना.
जर्नल आफ दी मध्यप्रदेश इतिहास परिषद्, भोपाल.
जर्नल आफ दी न्यूमिस्मेटिक सोसायटी आफ इंडिया, बम्बई.

पत्र-पत्रिकाएं

अनेकान्त, नई दिल्ली.
आर्ट आफ दी परमार्स आफ मालवा, बिरला म्यूजियम, भोपाल.
अहिल्या स्मारिका, इन्दौर.
ऐनल्स आफ भाण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना.
ऐंशिएन्ट इंडिया, दिल्ली.
इंडियन कलचर.
कल्याण, गोरखपुर.
जिनवाणी, जैन तीर्थ सर्वसंग्रह, बम्बई.
पुराणम्, रामनगर.
प्राच्य प्रतिभा, भोपाल.
मध्य प्रदेश सन्देश, भोपाल.
मार्ग, बम्बई.
दशपुर दर्शन, मन्दसौर.
नई दुनिया, इन्दौर.
वीणा, इन्दौर.
श्री महावीर स्मारिका, उन्हेल.

टंकित एवम् डुप्लिकेटेड सामग्री

दलाल मनोहरलाल : मालवा की कला व स्थापत्य (शोध ग्रन्थ)
मायारानी आर्य : मालवा की परमार कला (शोध ग्रन्थ)
निगम श्याम सुन्दर : माही का प्रहरी उच्चानगढ़ (लेख)
जोशी भारती . रतलाम जिले का स्थापत्य (लेख)
दुबे जगन्नाथ : पूर्वी मालवा का राजनैतिक एवम् सांस्कृतिक इतिहास (शोध ग्रन्थ)
गौड़ तेज सिंह : प्राचीन एवं मध्यकालीन मालवा में जैन धर्म (शोध ग्रन्थ)

निर्देशिका

१. सांची : स्तूप क्रमांक १ (पश्चिम द्वार)

२. सांची : स्तूप क्रमांक १
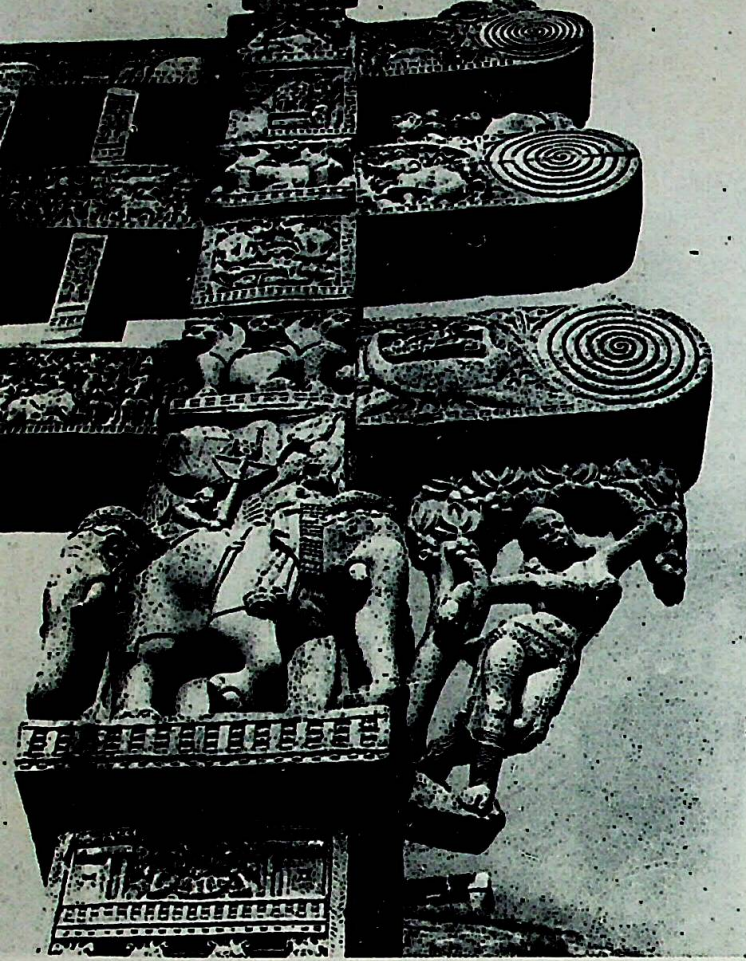
३. सांची : स्तूप क्र० १ के पश्चिम द्वार-वाघ स्तम्भ

४. सांची : स्तूप क्र० तीन
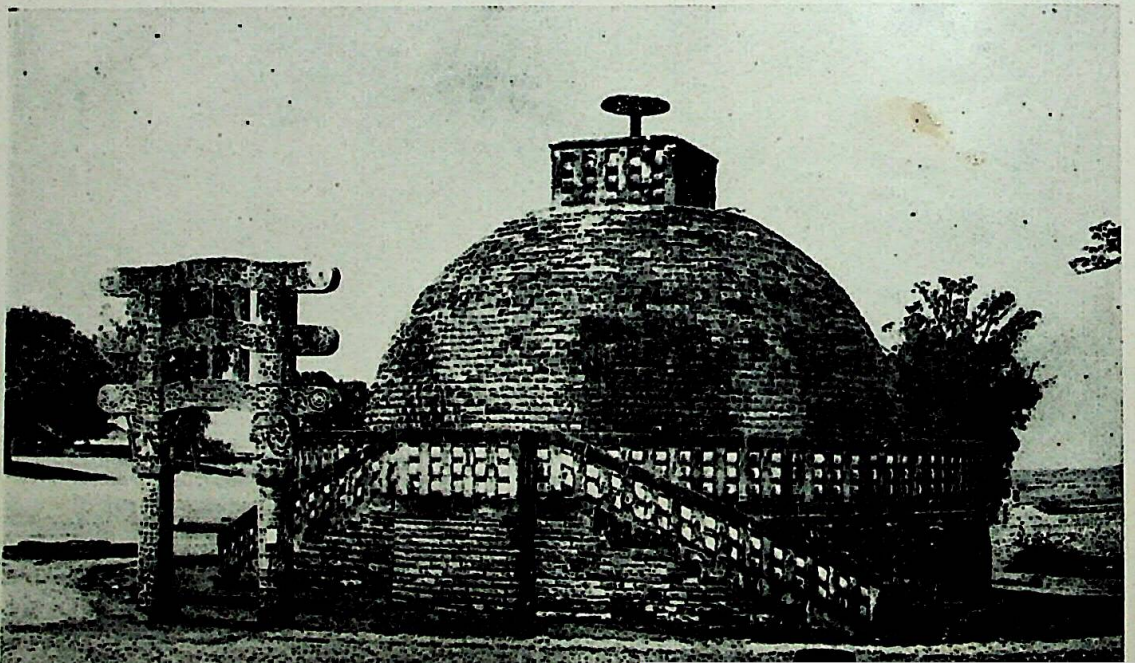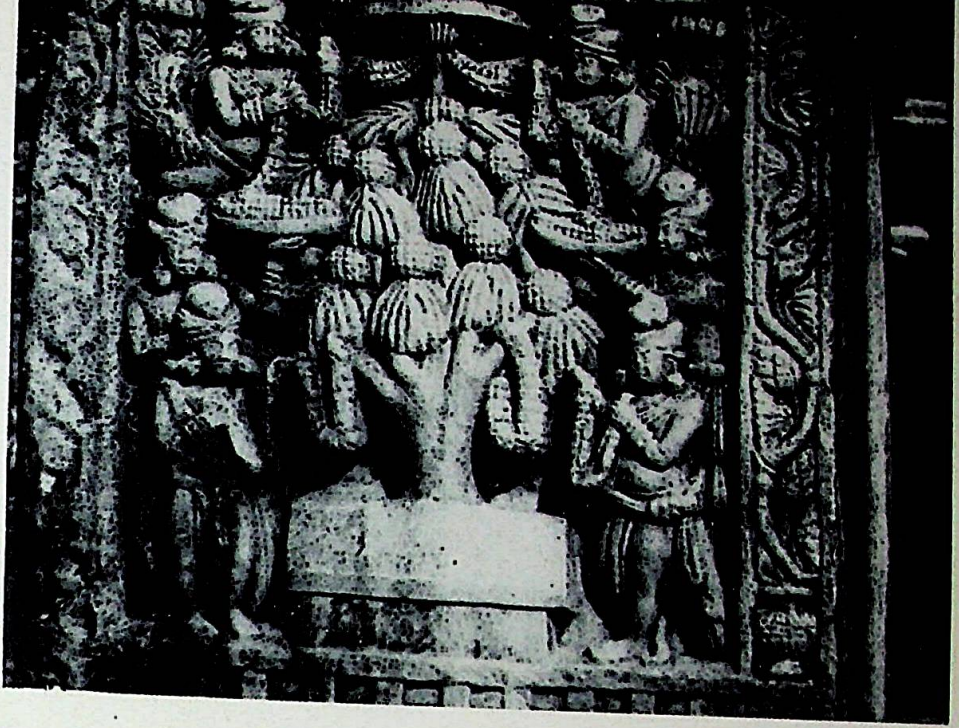
५. सांची : चैत्य बोधिवृक्ष
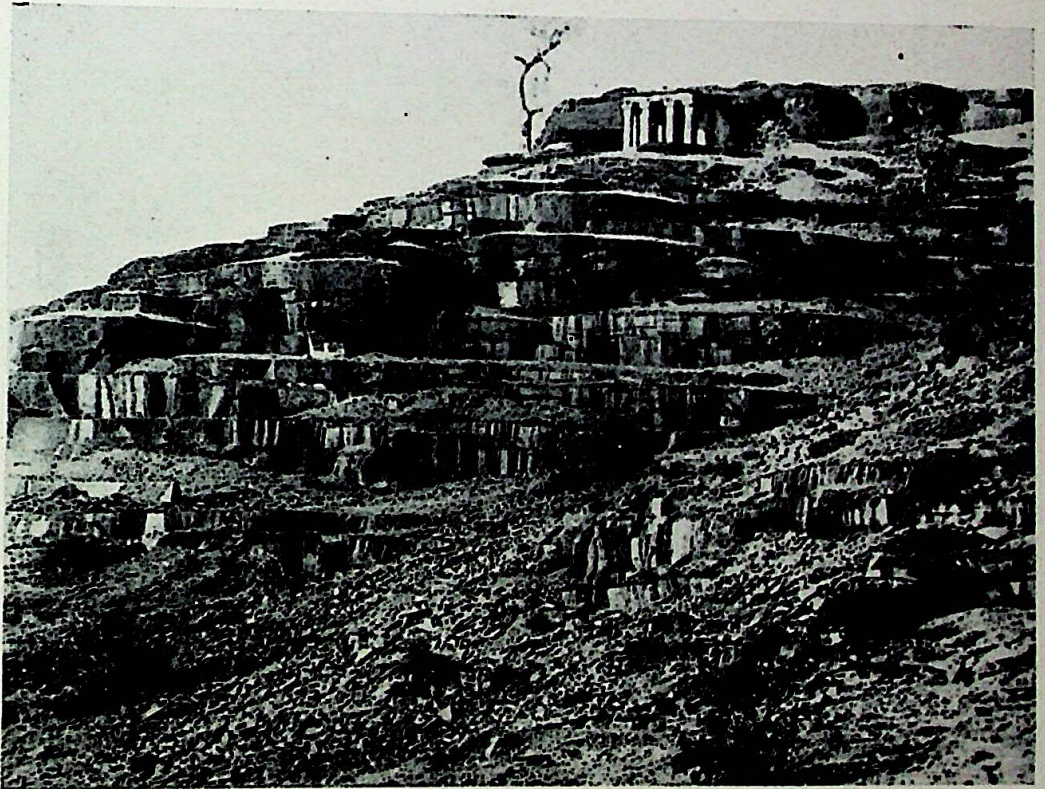
६. उदयगिरि : गुहा मन्दिर (सामान्य दृश्य)
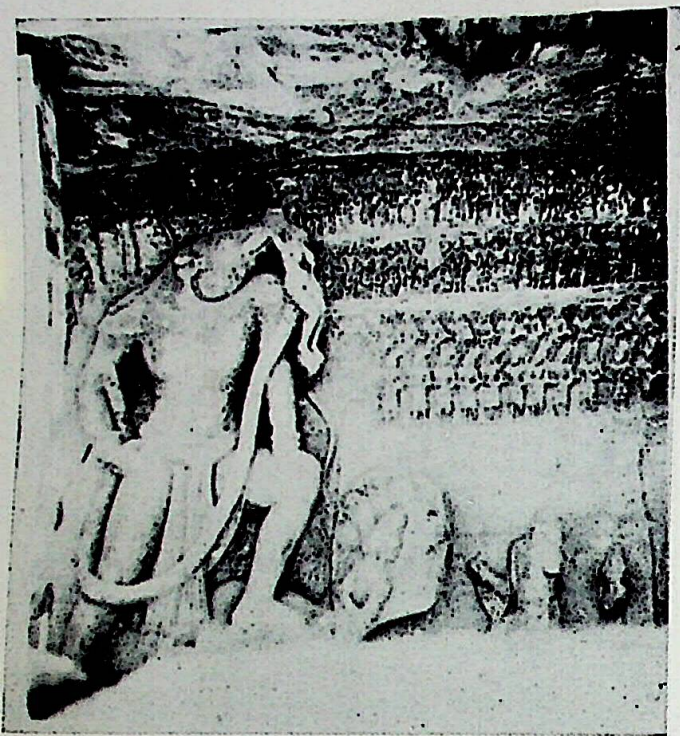
७. उदयगिरि : वाराह अवतार का दृश्य
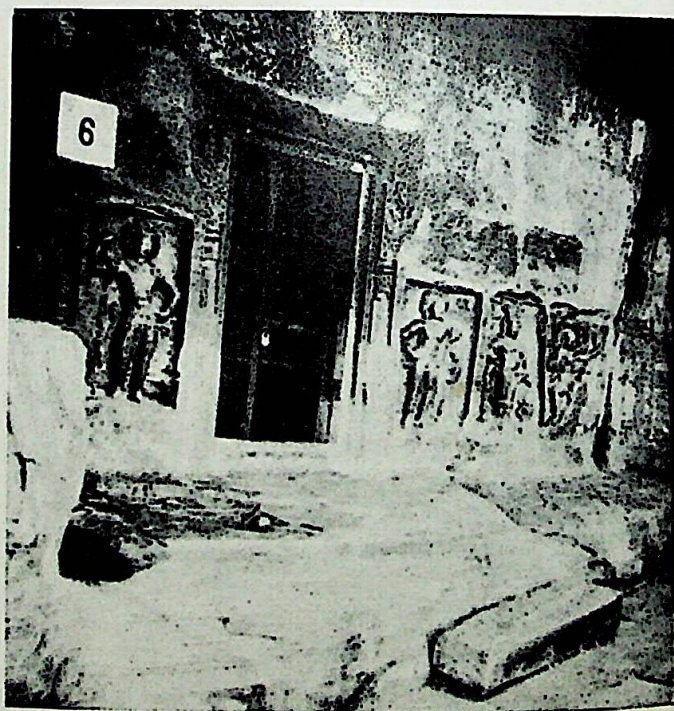
८. उदयगिरि : गुफा क्र० ६
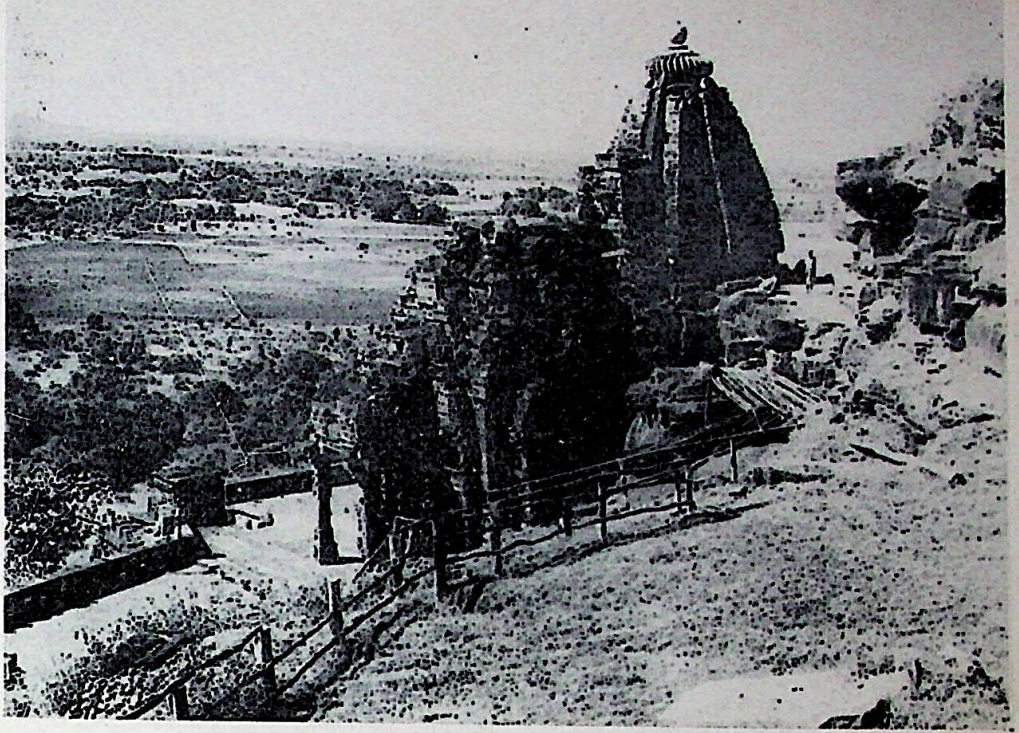
९. ग्यारसपुर : मालादेवी मन्दिर (सामान्य दृश्य)

१०. मालादेवी मन्दिर (वायां पार्श्व)

११. मालादेवी मन्दिर (दहिना पार्श्व)
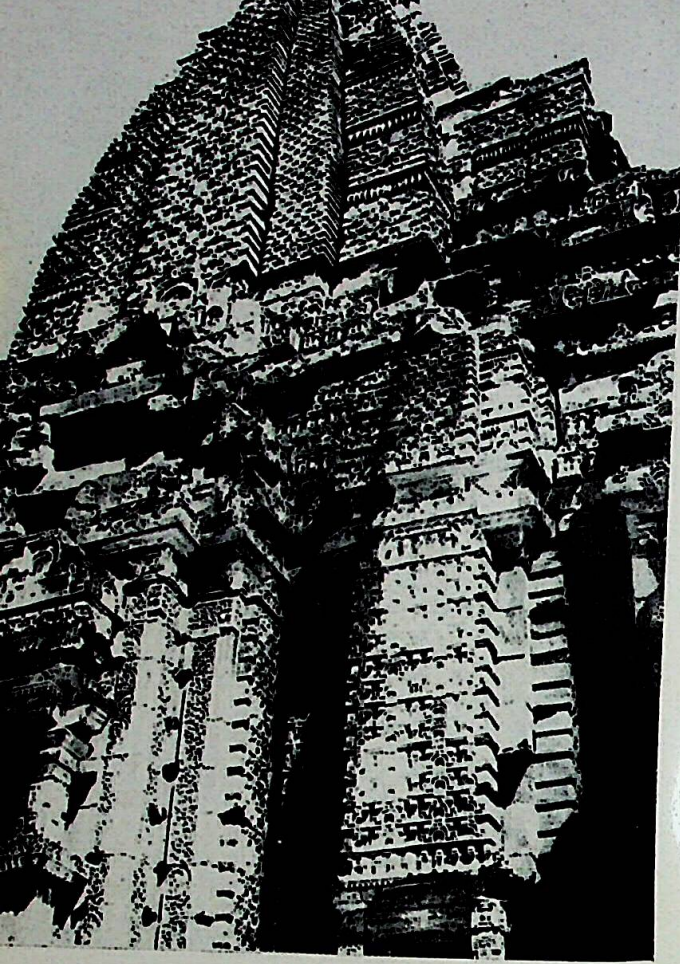
१२. ग्यारसपुर : मालादेवी का मन्दिर
(मन्दिर का शिखर)

१३. ग्यारसपुर : वासिया मठ
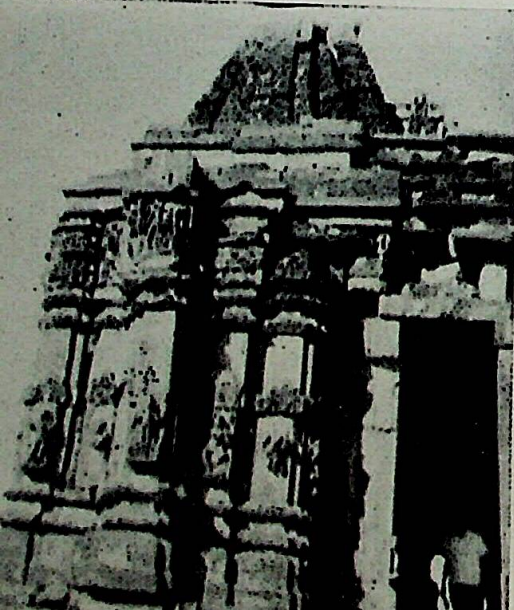
१४. ग्यारसपुर : प्रवेश द्वार
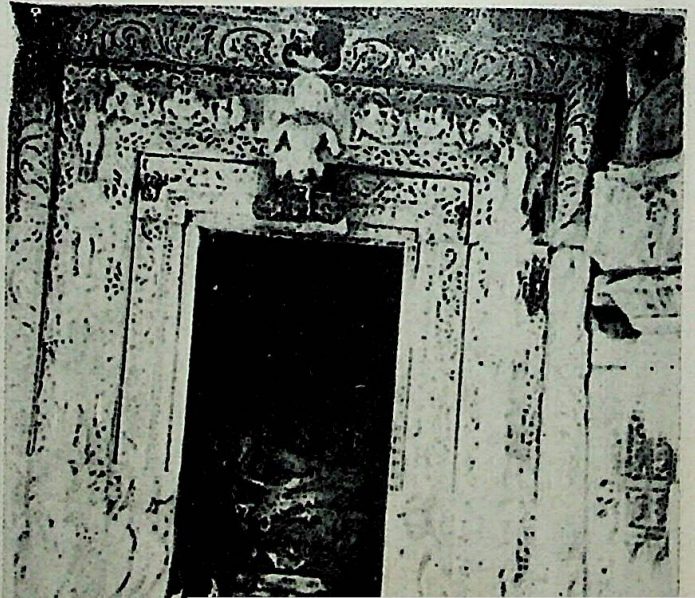
१५. ग्यारसपुर : हिण्डोला तोरण द्वार
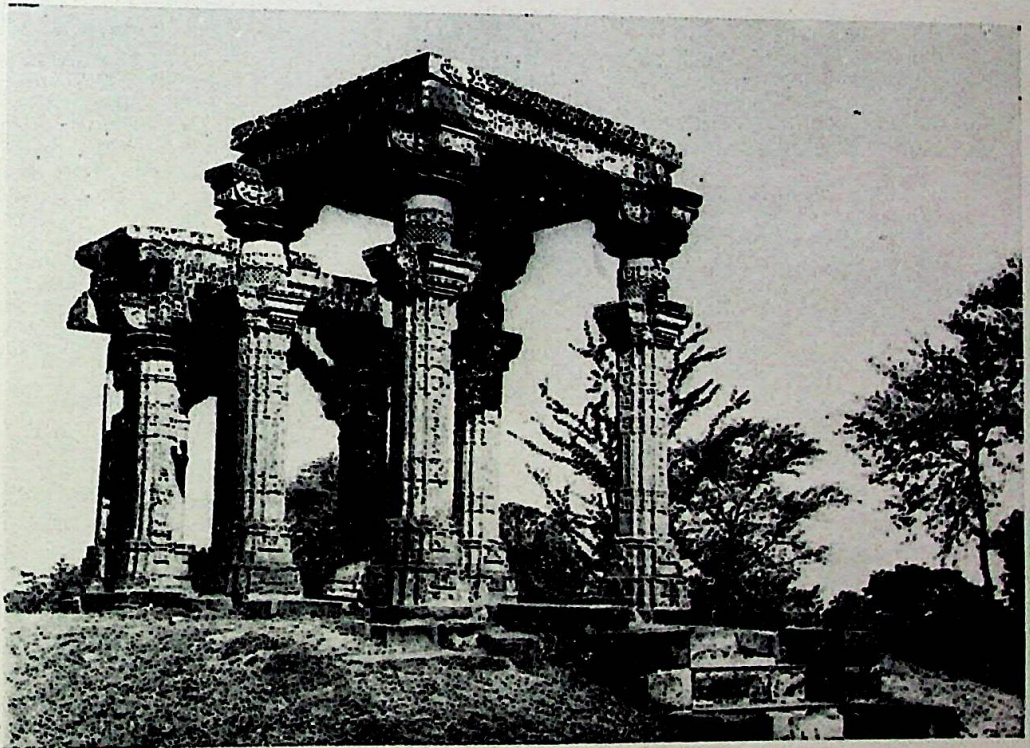
१६. ग्यारसपुर : अठ खम्भा
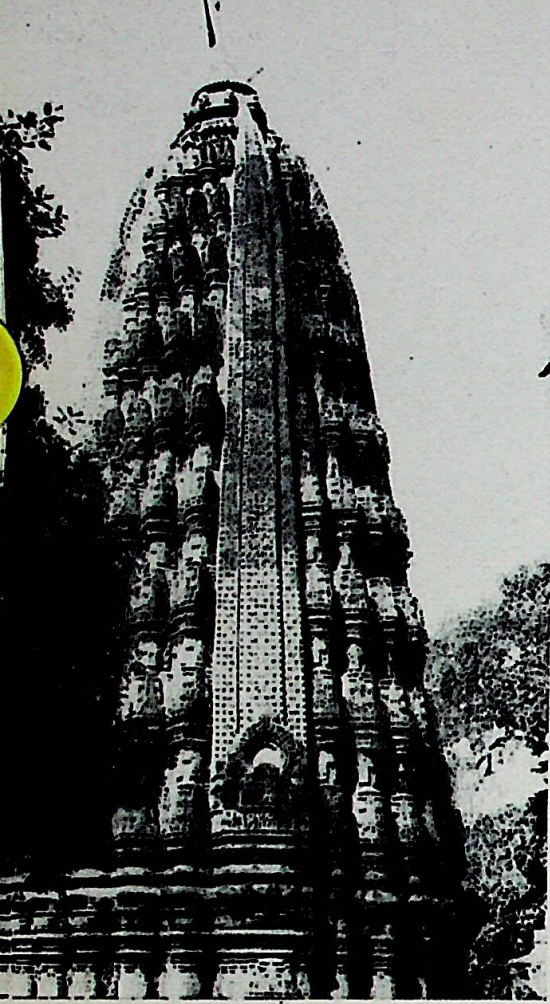
१७. नेमावर : सिद्धेश्वर मन्दिर (पश्चिम की ओर का दृश्य)
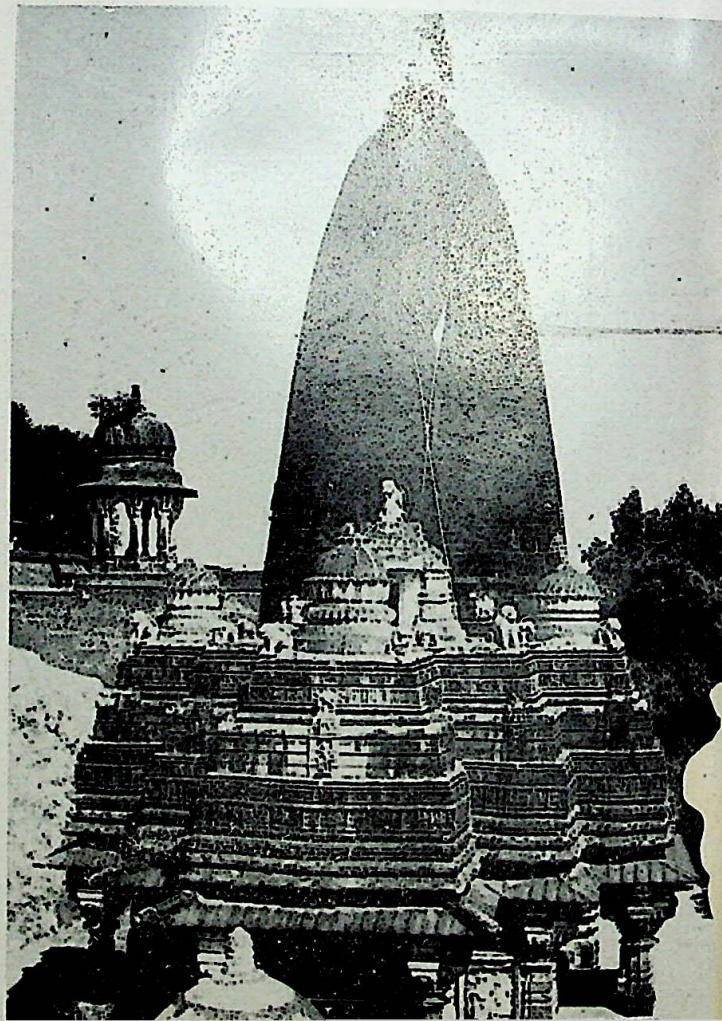
१८. नेमावर सिद्धेश्वर मन्दिर (पश्चिमोत्तर भाग)

१६. मोड़ी माता का मन्दिर
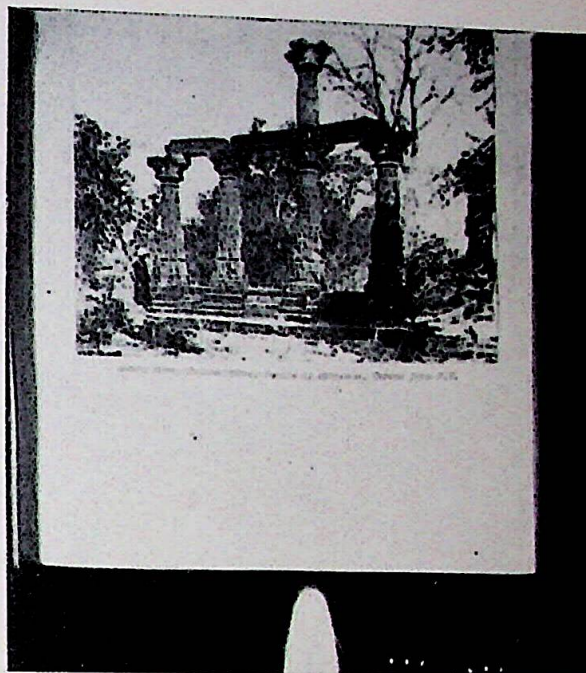
२०. स्तम्भ अवशेष मोड़ी

२१. कँवला : (भानपुरा तहसील)
लक्ष्मीनारायण का मन्दिर
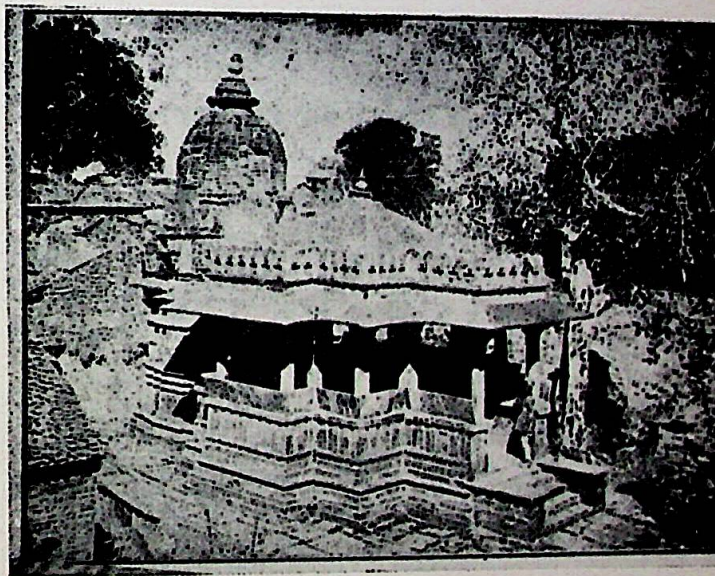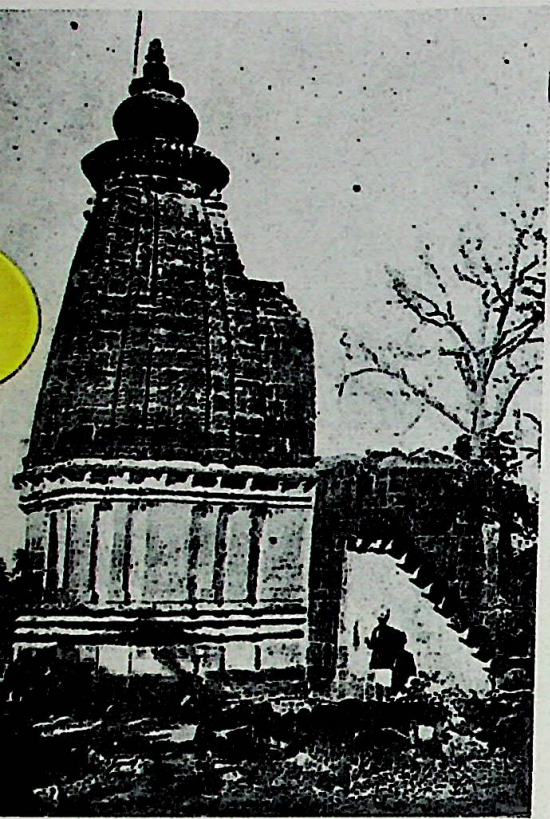
२२. महाकालेश्वर मन्दिर मकिला (महिदपुर)

२३. कँवला : वराह मन्दिर
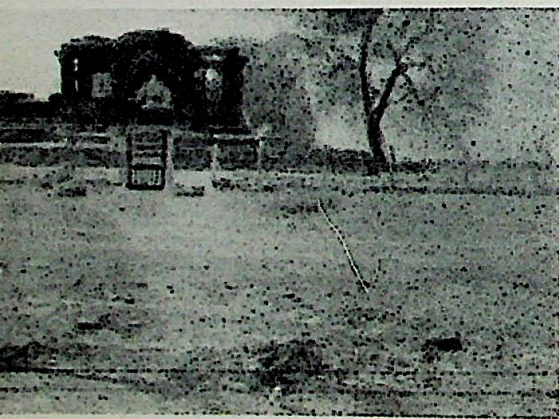
२४. रणोर का नवतोरण
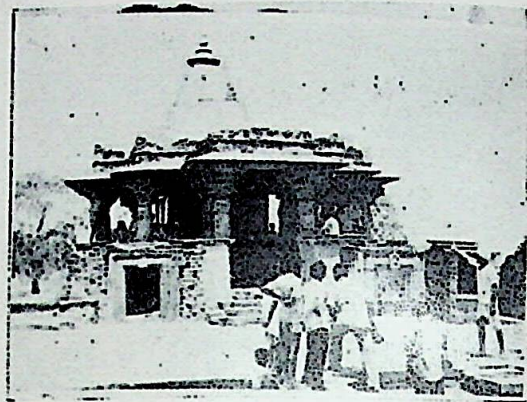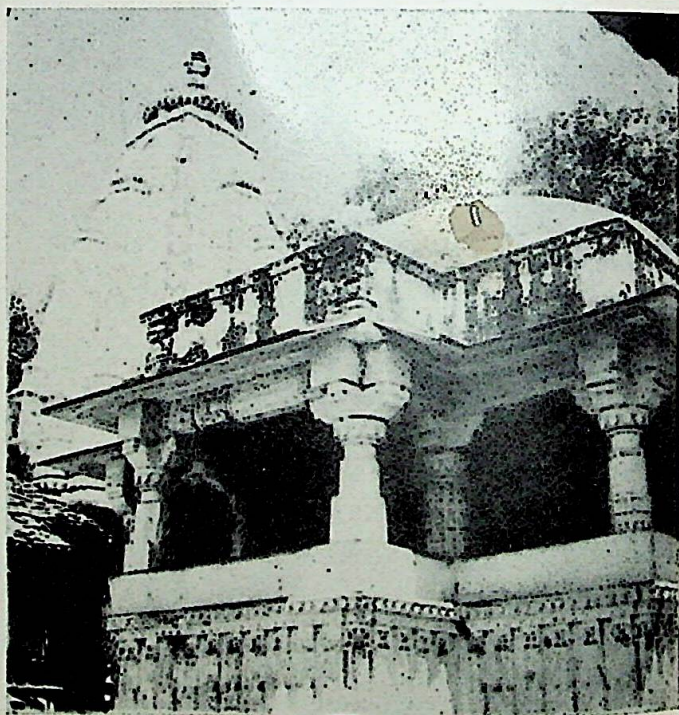
२५. विलपांक का मन्दिर

२६. झालरा पाटन का सात सहेली मन्दिर
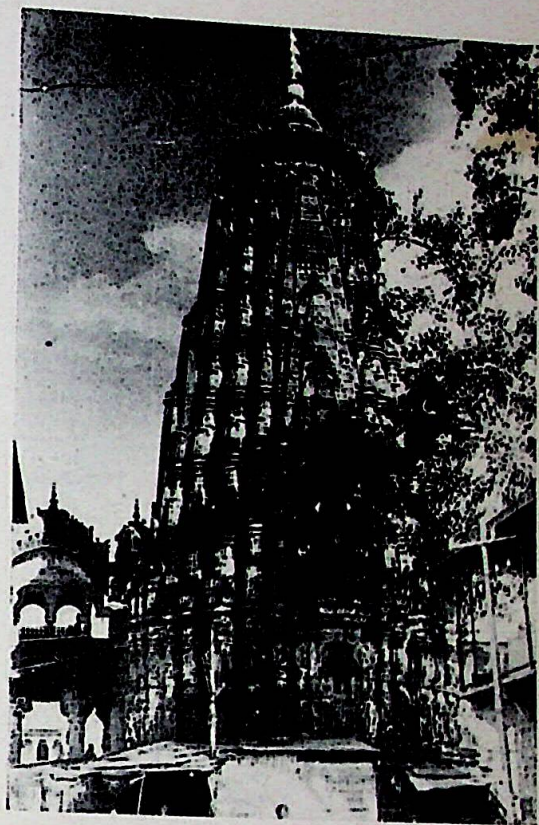
२७. झालरा पाटन : शीतलेश्वर मन्दिर की छत का एक दृश्य
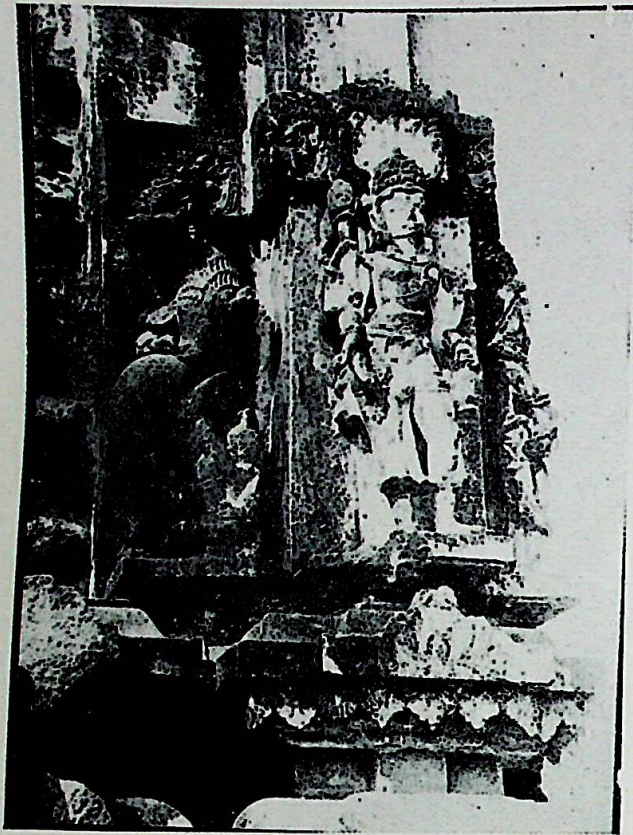
२८. झालरा पाटन : शीतलेश्वर मन्दिर के प्रतिमा खचित पार्श्व
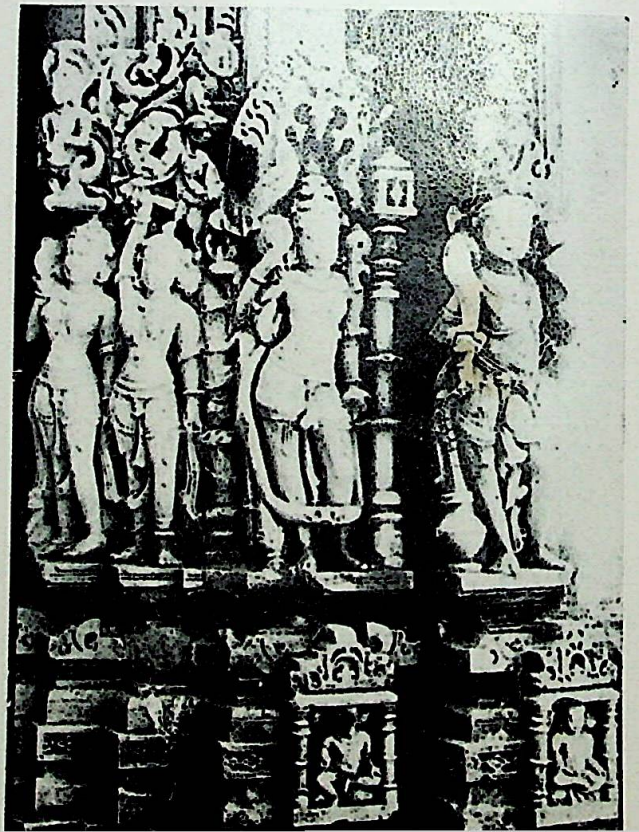
२९. झालरा पाटन : शीतलेश्वर मन्दिर प्रतिमा खचित पार्श्व
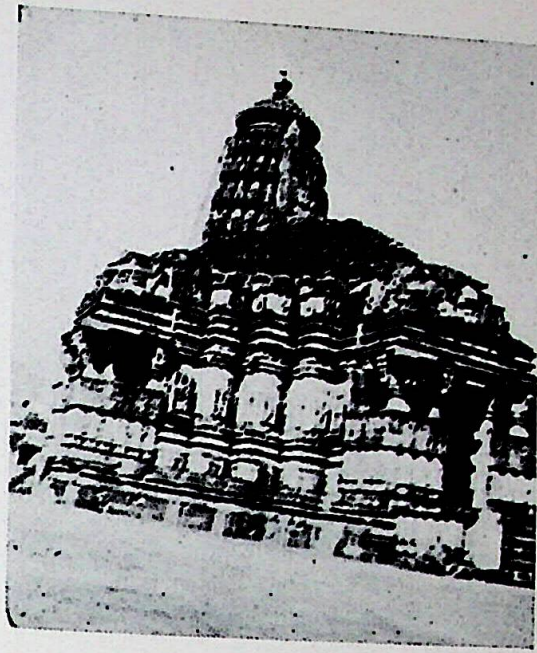
३०. उदयपुर (म. प्र.) : नीलकंठेश्वर मन्दिर
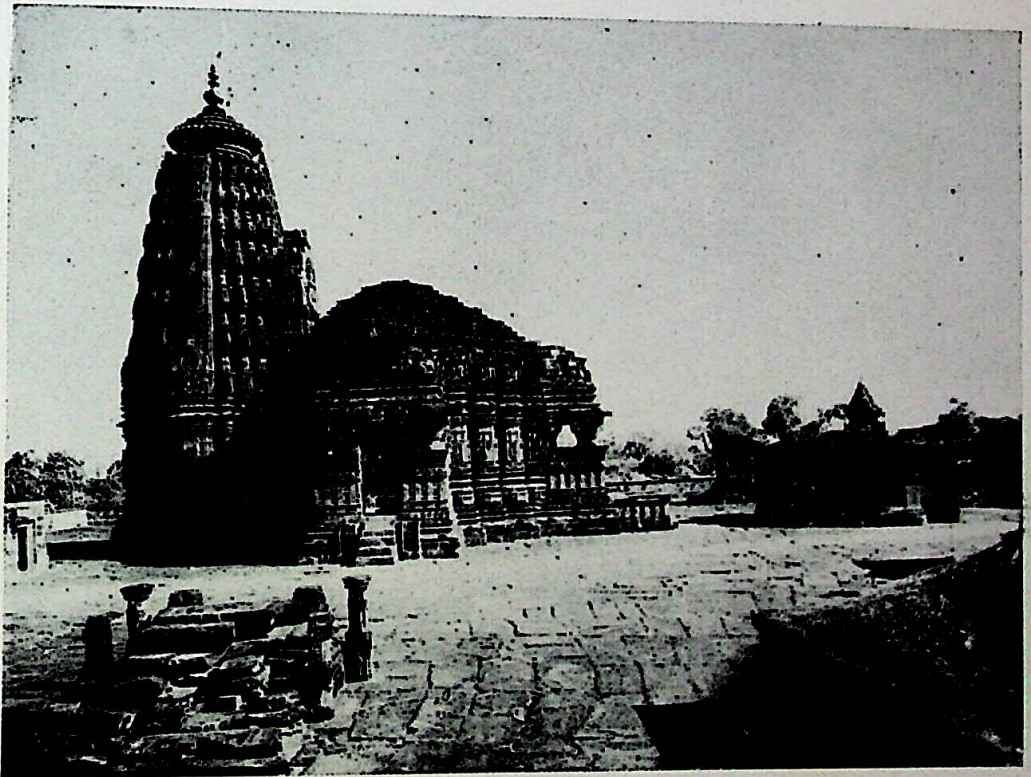
३१. उदयपुर : उदयेश्वर मन्दिर (सामान्य दृश्य)
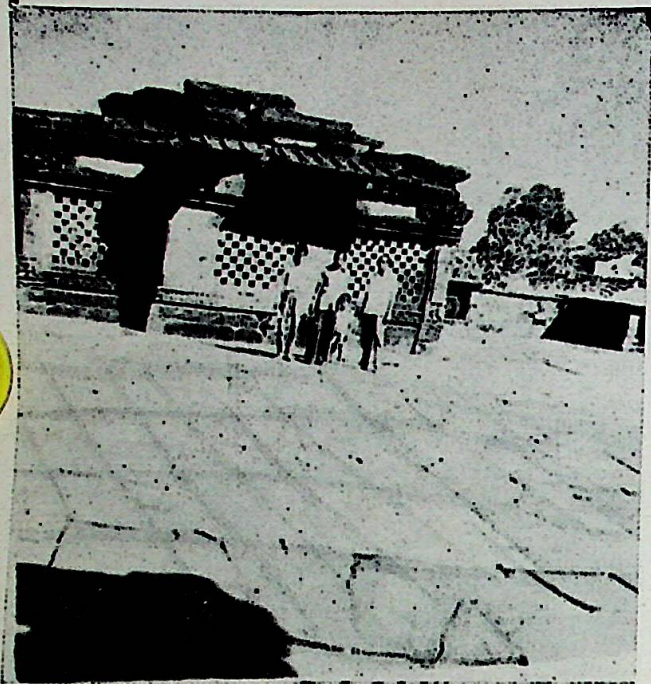
३२. उदयेश्वर का प्रांगण
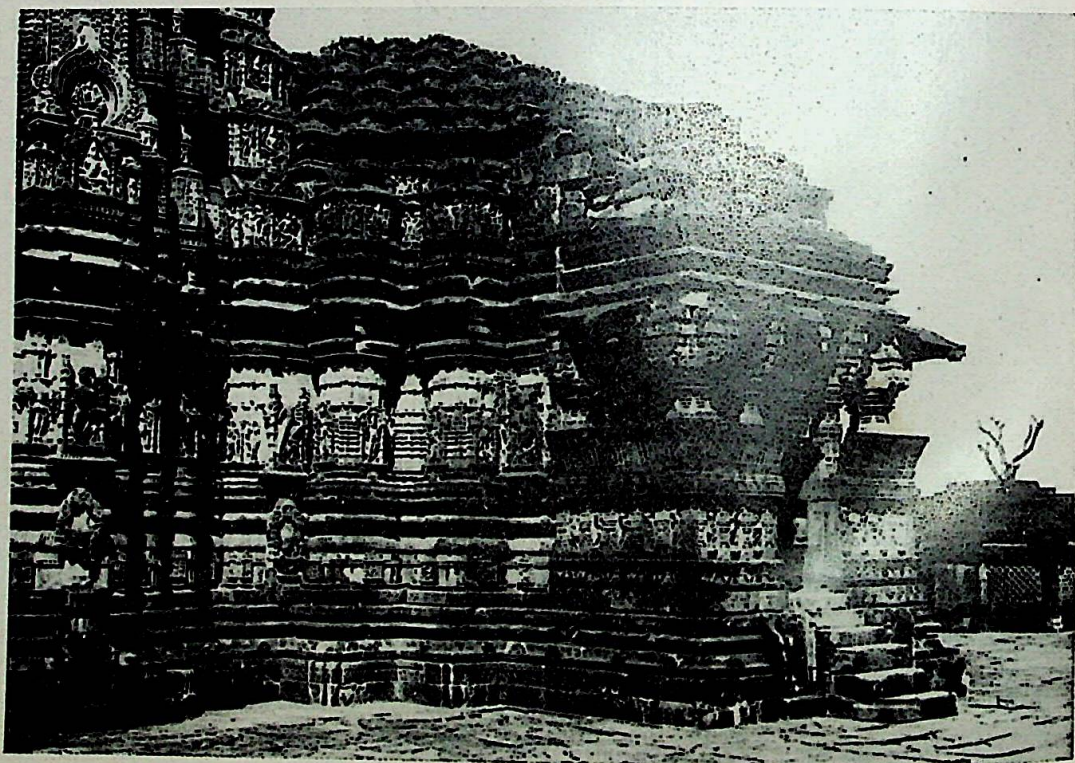
३३. उदयपुर (म.प्र.) : उदयेश्वर मन्दिर (प्रवेश)

३४. उदयपुर (म.प्र.) : नीलकंठेश्वर मन्दिर की वास्तुकला
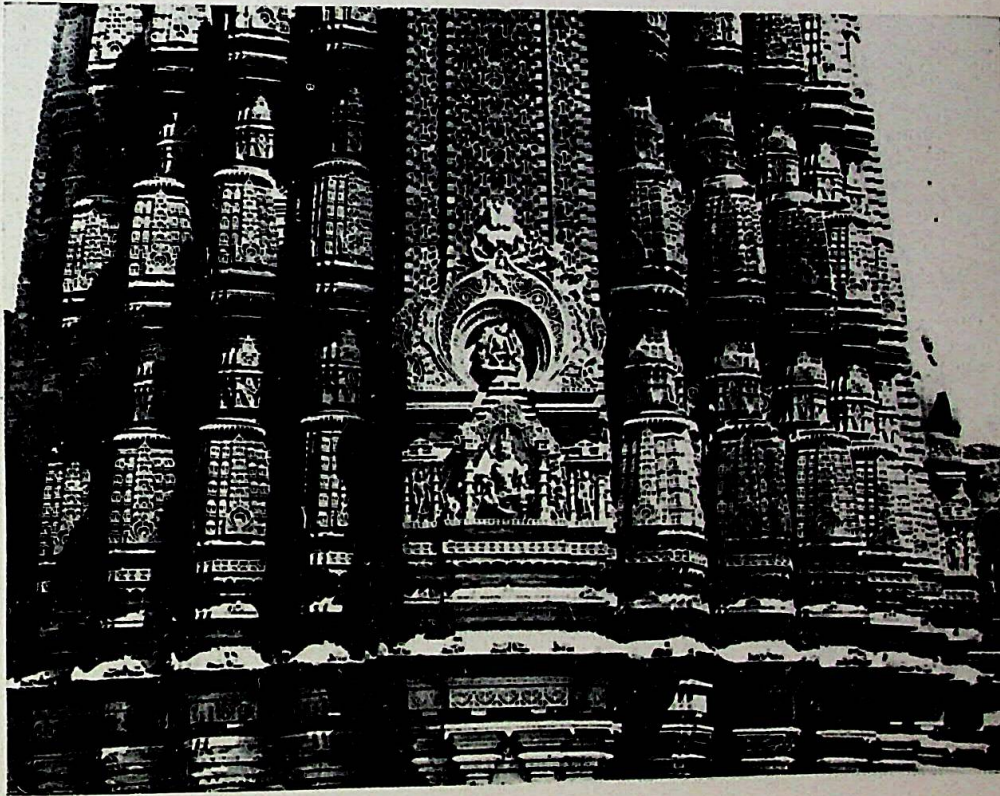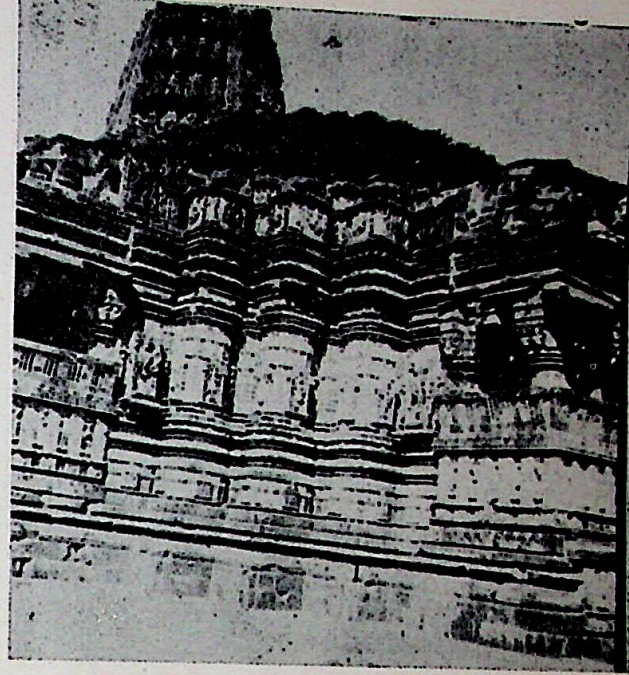
३५. उदयेश्वर मन्दिर : पश्चिम भाग
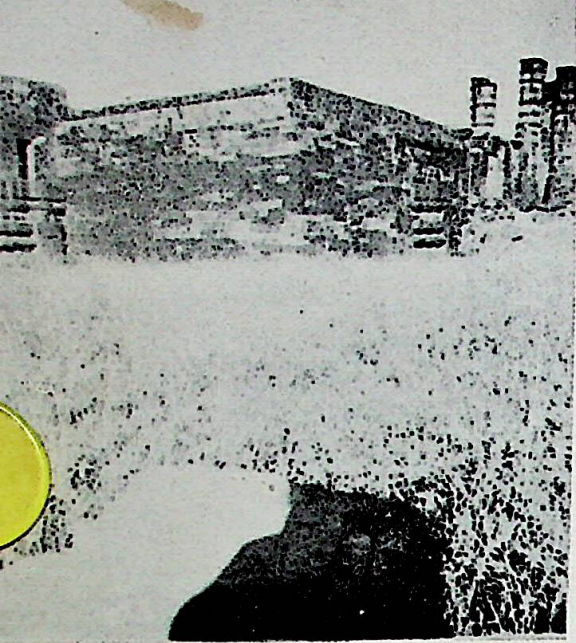
३६. बीजा मण्डल : विदिशा
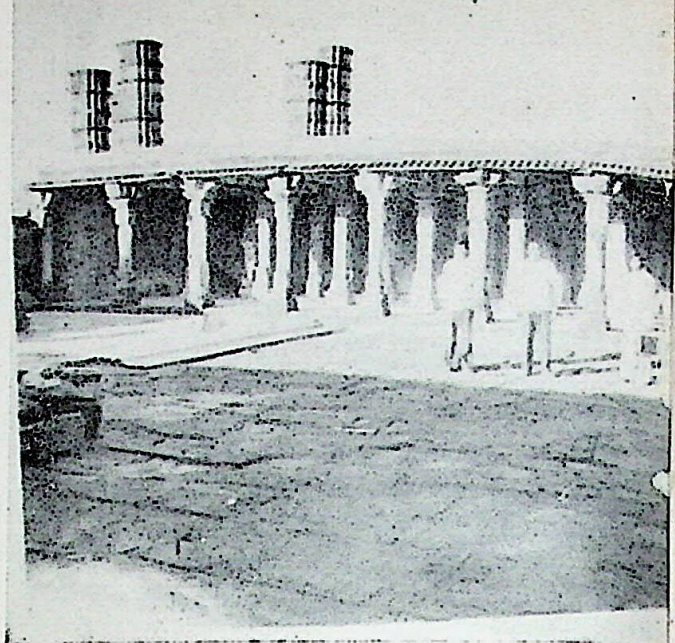
३७. ग्रांतरिक स्तम्भ : बीजा [illegible] विदिशा

३८. उदयेश्वर मन्दिर : वास्तुकला की
दृष्टि से विहंगम दृश्य
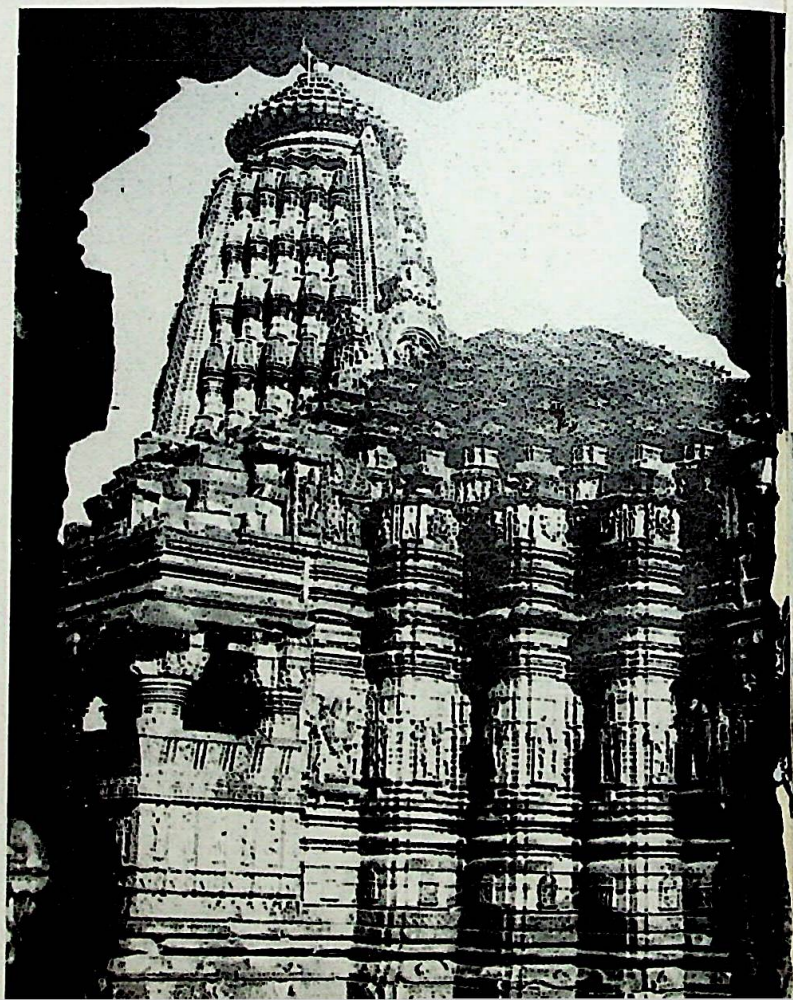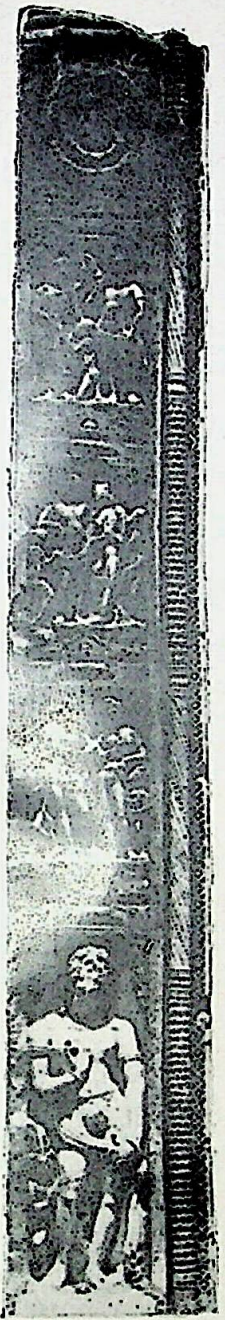
३९. कुकड़ेश्वर : (मनासा तहसील)
जैन मन्दिर (पश्चिम की ओर से)
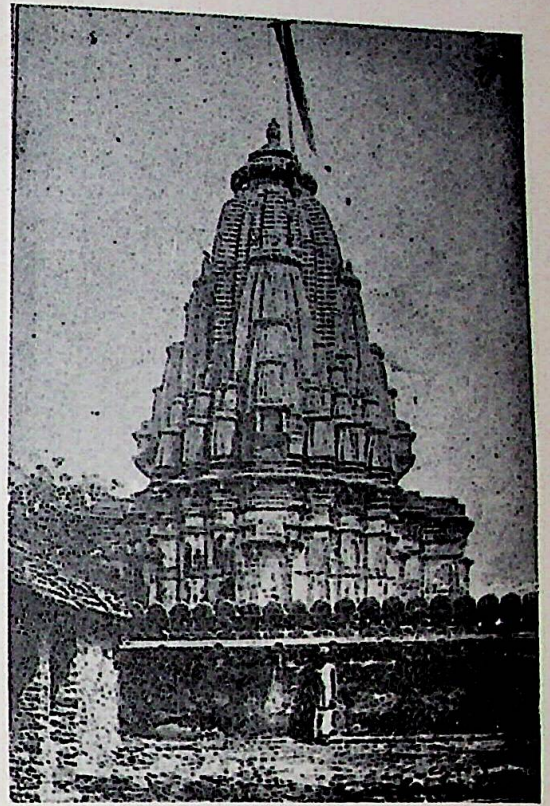
४१. मन्दसौर : श्रवण की
कावड़ नामक स्तम्भ
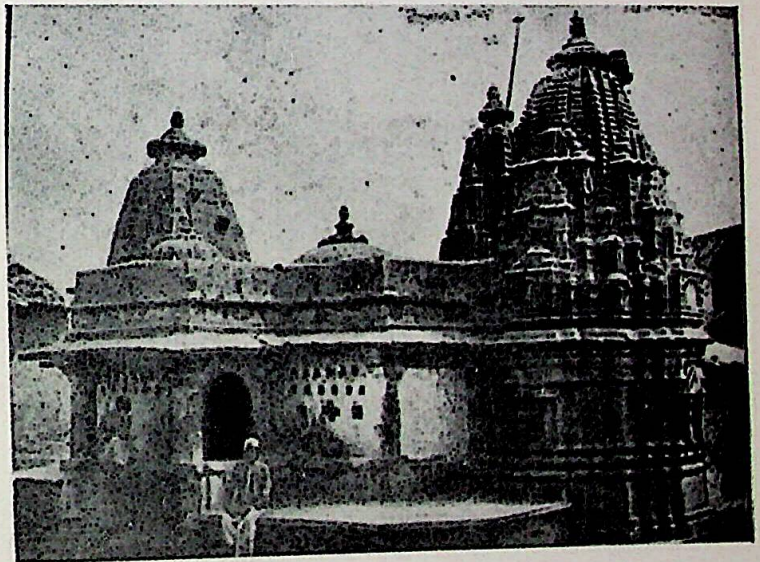
४०. चतुर्भुज देवता का मन्दिर : कुकड़ेश्वर (तहसील मनासा)
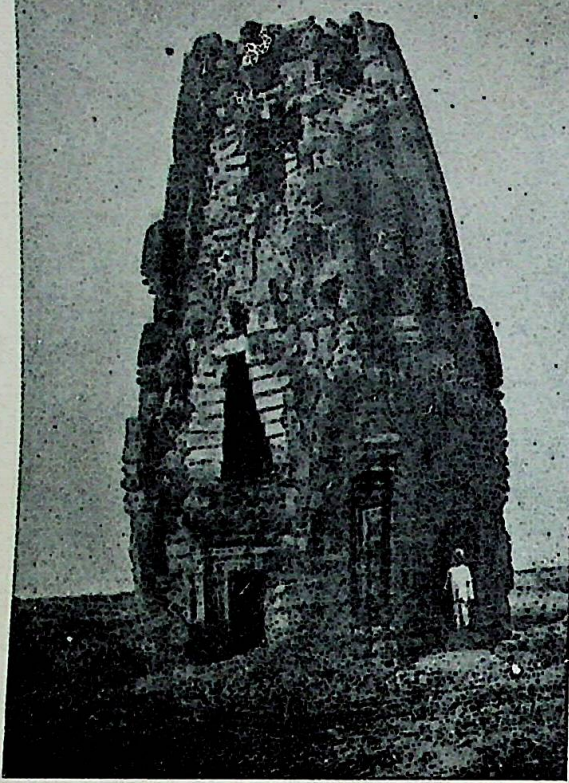
४२. महाकालेश्वर मन्दिर : ऊन (खरगोन)
(दक्षिण-पश्चिम भाग)
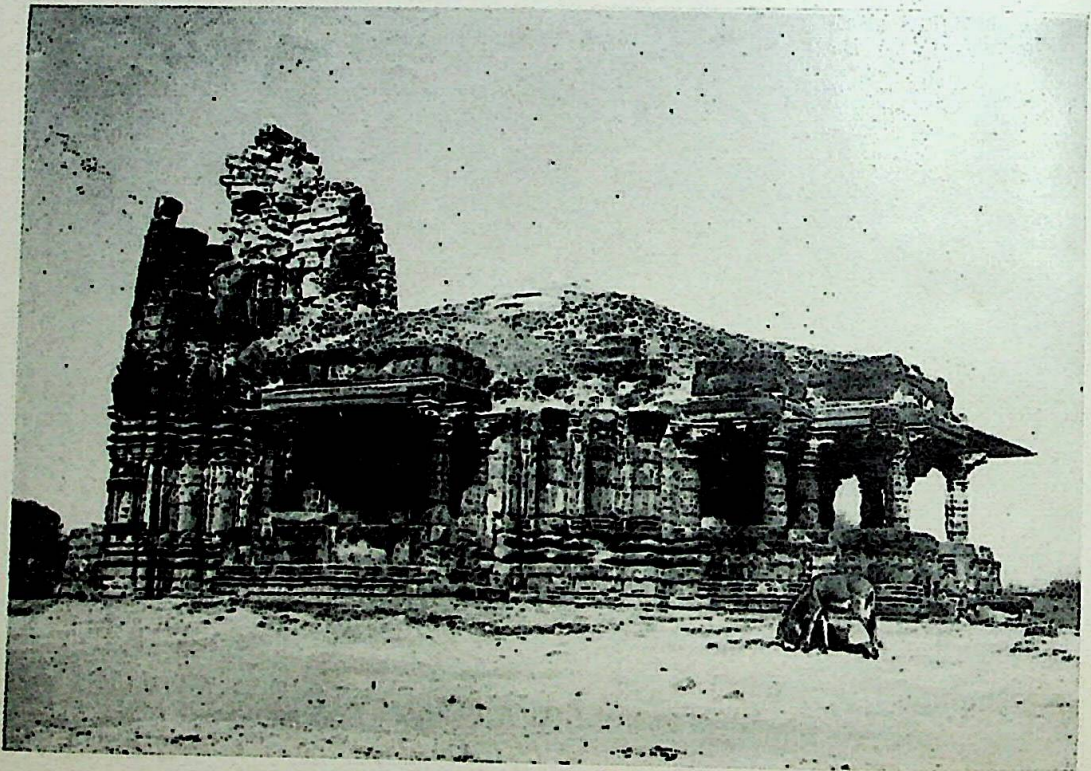
४३. ऊन : चौनारा डेरा क्र० १ का दृश्य
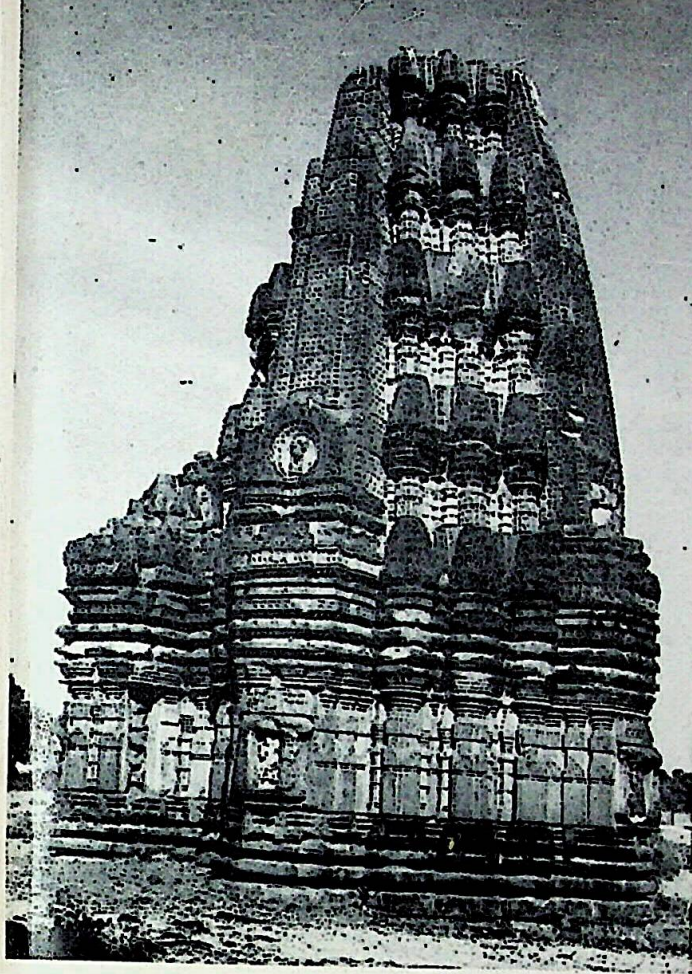
४४. महाकालेश्वर मन्दिर : ऊन (खरगोन)
(मन्दिर के पीछे का दृश्य)

४५. ऊन (खरगोन) :
चौनारा डेरा
क्र० १ और दो का दृश्य
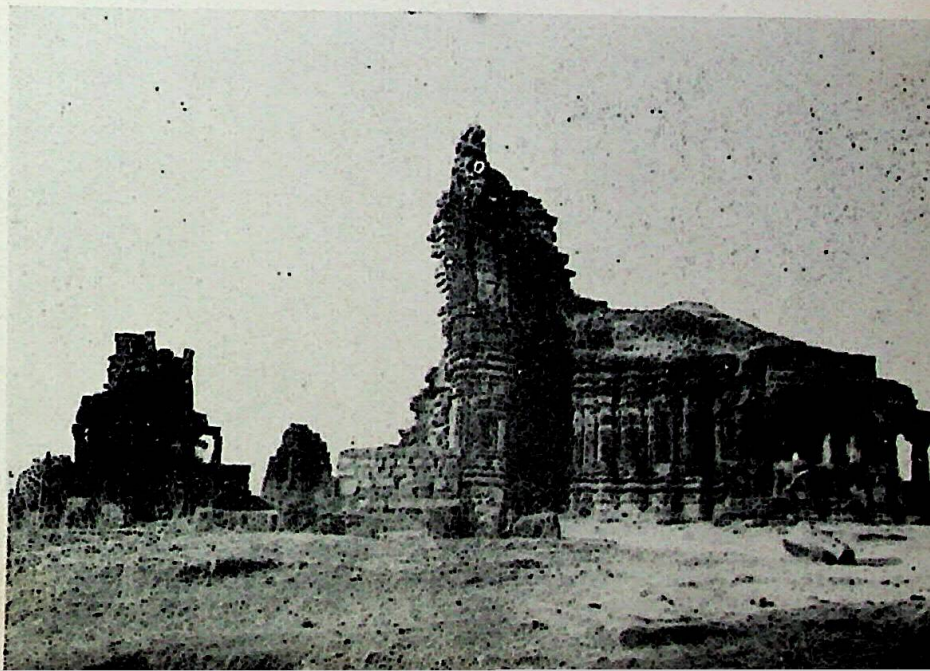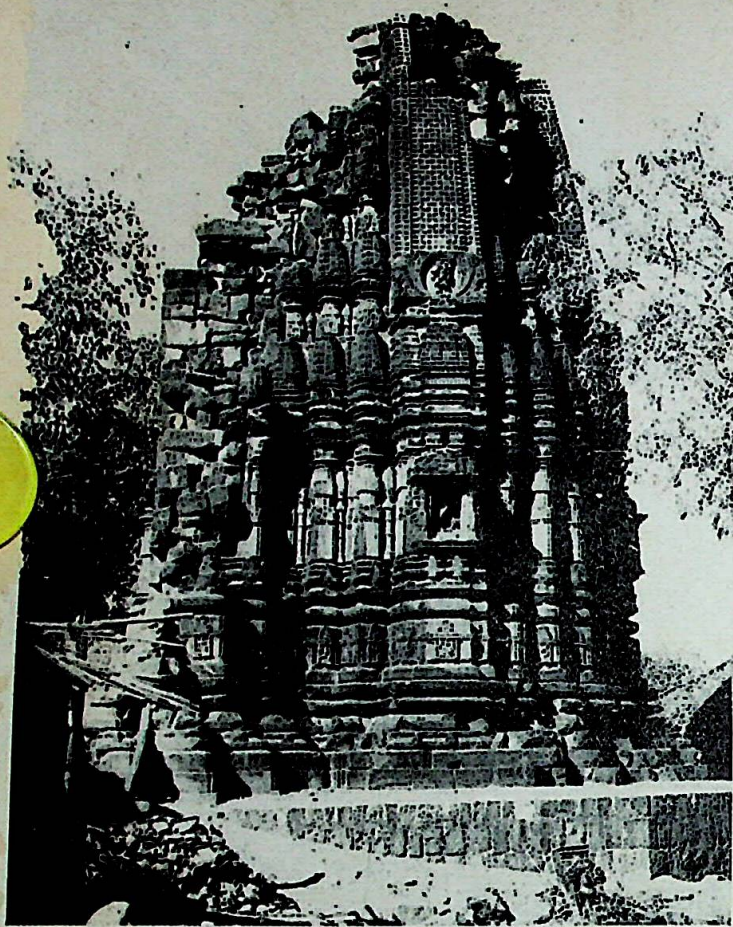
४६. ऊन : (पश्चिम निमाड़)
नीलकंठेश्वर मन्दिर का विहंगम दृश्य

४७. घमनार : धर्मनाथ का मन्दिर